अथ दशमं मण्डलम्

प्रथमोऽनुवाकः

[१] प्रथमं सूक्तम्

ऋषिः—त्रितः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

'त्रित आप्त्य'

अग्ने॑ बृहन्नु॒षसा॑मू॒र्ध्वो अ॑स्थान्निर्जग॒न्वान्तम॑सो॒ ज्योति॒षागा॑त्।
अ॒ग्निर्भा॒नुना॒ रुश॑ता॒ स्वङ्ग॒ आ जा॒तो विश्वा॒ सद्मा॑न्यप्राः॥ १॥

(१) प्रस्तुत मन्त्रों का ऋषि 'त्रित आप्त्य' है, जो 'त्रीन् तनोति' शरीर, मन व बुद्धि इन तीनों का विकास करता है अथवा 'त्रीन् तरति'=काम, क्रोध व लोभ तीनों को तैर जाता है और अतएव तीनों 'आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक' कष्टों से भी पार हो जाता है वह 'त्रित' सब अशिवों को इसी पार छोड़कर परले पार सब शिव वाजों (शक्तियों) को प्राप्त करने से 'आप्त्य'=प्राप्त करनेवाले उत्तम कहलाता है। (२) यह ऐसा इसलिए बन पाया कि यह **उषसाम्**=उषःकालों के **बृहत् अग्रे**=बड़ा आगे, अर्थात् बहुत ही सबेरे (earlyin the morning) **ऊर्ध्वः अस्थात्**=ऊपर उठ खड़ा होता है। यह समय 'ब्राह्ममुहूर्त' कहलाता है, यह ब्रह्म के मिलने का समय होता है। इस समय सोते रहना तो अपना बड़ा नुकसान करना है। 'अच्छानक्षि द्युमत्तमं रयिं दाः' इन शब्दों में वेद कह रहा है कि इस समय प्रभु (अच्छः) तुम्हारी ओर (नक्षि) आते हैं और देदीप्यमान धन प्राप्त कराते हैं। हम सोये ही रह जाएँगे तो प्रभु का स्वागत करके उस द्युमत्तम रयि के प्राप्त करने से वञ्चित ही रह जाएँगे। सो त्रित बहुत ही सबेरे उठता है, वह प्रभु के स्वागत के लिये तैयार होता है। अब यह **'निर्जगन्वान्'**=घर से बाहर लम्बे भ्रमण के लिये निकल खड़ा होता है। यह प्रातः भ्रमण के लाभ को समझता है। उस समय ही खुली शुद्ध वायु में ओजोष के अंश अधिक मात्रा में रहते हैं। इसीलिए देव **'प्रातर्यावाणः'**=प्रातः भ्रमण के लिये जाने के स्वभाव वाले हैं। एक विद्वान् ने अपना अनुभव 'Long walk, long life'='लम्बा भ्रमण, लम्बा जीवन' इन शब्दों में व्यक्त किया है। (३) भ्रमण से लौटकर यह 'त्रित' **तमसः**=अन्धकार को छोड़कर **ज्योतिषा अगात्**=प्रकाश के साथ विचरण करता है। अर्थात् यह स्वाध्याय के द्वारा ज्ञान की दीप्ति को बढ़ाने का प्रयत्न करता है। (४) इस प्रकार यह प्रतिदिन **अग्निः**=आगे और आगे बढ़नेवाला होता है। इसके जीवन का सूत्र ही 'ऋषि' हो जाता है। आगे बढ़ना है 'अति समं क्राम' बराबर वालों से लाँघ जाना है यह इसका ध्येय होता है। **रुशता भानुना**=चमकती हुई ज्ञान की दीप्ति से युक्त होकर यह **स्वंगः**=(सु-अगि गतौ) उत्तम गतिवाला होता है। एक-एक अंग से उत्तम क्रियाओं को यह करनेवाला होता है। ज्ञान पूर्वक कर्म करने से इसके सब कार्य बड़े पवित्र होते हैं। यह इन पवित्र कर्मों से **आजातः**=सब दृष्टिकोणों से विकास वाला होता है। 'शरीर, मन व बुद्धि' सभी में यह शक्तियों को विकसित करता है, और **विश्वा**=सब **सद्मानि**=घरों व कोशों

का **अप्राः**=पूरण करता है। 'युक्ताहार विहार' के द्वारा अन्नमय कोश की कमियों को नष्ट करता है, 'प्राणायाम' इसके प्राणमय कोश का पूरण करता है, 'सत्य' से यह मनोमय कोश को पवित्र करता है 'स्वाध्याय' के द्वारा विज्ञानमय कोश का विकास करता है और कारण शरीर में विचारता हुआ सब प्राणियों के साथ एकत्व के अनुभव से पूर्ण आनन्द में विचरता है। यह 'एकत्वदर्शन' ही आनन्दमय कोश का पूरण है। एवं सब कोशों का पूरण करनेवाला यह सचमुच 'आप्त्य' होता है।

भावार्थ—हमें 'प्रातः उठना, भ्रमण के लिये जाना, स्वाध्याय, आगे बढ़ना, ज्ञानपूर्वक उत्तम क्रियाओं को करना, विकास व सब कोशों का पूरण' यही अपना कार्यक्रम बनाना चाहिये।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराटत्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

वानस्पतिक भोजन

स जातो गर्भो असि रोदस्योरग्ने चारुर्विभृत ओषधीषु।
चित्रः शिशुः परि तमांस्यक्तून्प्र मातृभ्यो अधि कनिक्रदद्गाः॥ २॥

(१) **स**=वह गतमन्त्र की सात बातों को अपनानेवाला तू **जातः**=शक्तियों के विकास वाला हुआ है, तू अपने में **रोदस्योः**=द्यावापृथिवी का, मस्तिष्क व शरीर का **गर्भः**=(Joining, union) जोड़नेवाला **असि**=है, तू ने शरीर व मस्तिष्क दोनों की शक्ति का विकास किया है। केवल शरीर व केवल मस्तिष्क का विकास जीव के अधूरेपन का कारण होता है। केवल पृथिवी व केवल आकाश संसार को पूर्ण नहीं बनाता। इसी प्रकार वैयक्तिक जीवन की पूर्ति के लिये शरीर व मस्तिष्क दोनों के विकास को संगम करना आवश्यक है। अन्यथा हम राक्षस व ब्रह्म राक्षस ही बन जाते हैं। इस द्विविध विकास को जोड़नेवाले 'त्रित' से प्रभु कहते हैं कि '**अग्ने**'=हे उन्नति करनेवाले जीव! **चारुः**=शरीर व मस्तिष्क को उन्नति को अपने में संगत करके तू बड़े सुन्दर जीवन वाला हुआ है। इस सुन्दर जीवन का निर्माण तू इसलिये कर पाया है कि **ओषधीषु विभृतः**=ओषधि वनस्पतियों पर ही तेरा पालन-पोषण हुआ है। तेरा भोजन वानस्पतिक ही रहा है—'व्रीहि, यव, माष व तिल' आदि का ही तूने प्रयोग किया है, मांस भोजन ने तेरे मन को क्रूर व राजस नहीं बना दिया। ओषधि-भोजन से तेरे सब दोषों का दहन (उष दाहे) हुआ है इसीलिये तू **चित्रः**=(चित् ज्ञाने) ज्ञान का ग्रहण करनेवाला बना है। 'शिशुः' (शो तनूकरणे)=तूने अपनी बुद्धि को बड़ा सूक्ष्म बनाया है तथा **परि तमांसि**=अन्धकारों का तू वर्जन करनेवाला हुआ है (परेर्वर्जने) और **मातृभ्यः**=तेरे जीवन का निर्माण करनेवाले 'माता-पिता व आचार्यों' से तू **अक्तून्**=ज्ञान की किरणों को **अधिकनिक्रदत्**=आधिक्येन गर्जना करता हुआ **प्रगाः**=प्राप्त हुआ है। उनसे समय-समय पर जिन ज्ञान की वाणियों को तूने सुना, उन्हें बारम्बार उच्चारण करते हुए (अधिकनिक्रदत्) तूने स्मरण कर लिया और इस प्रकार इन्हें अपने जीवन का अंग बना लिया।

भावार्थ—'विकास, शरीर व मस्तिष्क का संगम, जीवन सौन्दर्य, वानस्पतिक भोजन, ज्ञानग्रहण, बुद्धि की सूक्ष्मता, अन्धकार निरसन, ज्ञानवाणियों का जप व स्मरण' इन बातों को अपनाने से हमारा जीवन सफल होता है।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराटत्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

स्व-अर्चन

विष्णुरित्था परममस्य विद्वाञ्जातो बृहन्नभि पाति तृतीयम्।
आसा यदस्य पयो अक्रत स्वं सचेतसो अभ्यर्चन्त्यत्र॥ ३॥

इत्था=इस प्रकार से, अर्थात् उपरले मन्त्रों में वर्णित प्रकार से जीवन बिताने पर यह त्रित **विष्णुः**=व्यापक उन्नतिवाला होता है (विष् व्याप्तौ), 'शरीर, मन व बुद्धि' सभी का विकास करता हुआ यह तीन कदमों को रखनेवाला त्रिविक्रम विष्णु होता है। यह **अस्य**=इस त्रित का **परमं**=सर्वोत्कृष्ट विकास होता है। यह **विद्वान्**=ज्ञानी तो बनता ही है, **जातः**=सब शक्तियों का विकास करता हुआ (जन्=प्रादुर्भावे) यह **बृहत् तृतीयम्**=उस महान् तृतीय धाम को **अभिपाति**=जीवन में या जीवन के पश्चात् दोनों ओर सुरक्षित करता है। 'तृतीये धामन् अध्यैरयन्त'=देव लोग तृतीय धाम में विचरते हैं। 'प्राकृतिक भोगों से ऊपर उठना' ही प्रकृति के घर से बाहर आ जाना है 'लोकैषणा, वित्तैषणा, पुत्रैषणा' से ऊपर उठ जाना ही 'जीव' से ऊपर उठना है। यह 'वित्त लोक व पुत्र' की इच्छाओं से ऊपर उठा हुआ पुरुष तृतीय धाम 'प्रभु' में विचरता है। इस जीवन में ही यह जीवन्मुक्त व ब्रह्मनिष्ठ हो जाता है और मृत्यु के बाद तो परामुक्ति को प्राप्त करके यह ब्रह्म में विचरता ही है। यही तृतीय धाम का अभिरक्षण है। यह वह स्थिति होती है **यद्**=जब कि **अस्य**=इसके **आसा**=मुख से **पयः**=दूध अर्थात् दूध के समान मधुर शब्द **अक्रत**=निष्पन्न किये जाते हैं। यह मधुर ही शब्द बोलता है, 'गोसनिं वाचम् उदेयम्' इस प्रार्थना को यह जीवन में पूर्णतः अनूदित करता है कि गोदुग्ध की तरह मधुर ही वाणी को मैं बोलूँ। जीवन को ऐसा बनाने के उद्देश्य से ही **सचेतसः**=समझदार लोग **अत्र**=इस मानव जीवन में **स्वम्**=आत्मा को अर्थात् आत्मभूत इस परमात्मतत्त्व को **अभ्यर्चन्ति**=दिन-रात पूजित करते हैं। सदा उस प्रभु का स्मरण करते हैं। यह प्रभुस्मरण ही उनके जीवनों को मधुर बनाये रखता है। प्रभु का उपासक सब प्राणियों में समवस्थित उस प्रभु का दर्शन करता है और सभी के प्रति प्रेम वाला होता है। इसे सब के साथ बन्धुत्व का अनुभव होता है, और यह एकत्व दर्शन ही इसे घृणा से ऊपर उठाकर प्रेमपूर्ण कर देता है।

भावार्थ—हम व्यापक उन्नति करनेवाले हों, विद्वान् व विकसित शक्तियों वाले होकर प्रभुरूप तृतीय धाम में विचरें। हमारे मुख से दुग्धसम मधुर शब्द निकलें और हम समझदार बनकर प्रभु का पूजन करनेवाले हों। प्रभु पूजन को छोड़ प्रकृति में आसक्त हो जाना ही मूर्खता है।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

'योगक्षेमावह' हरि

अत॑ उ त्वा पितु॒भृतो॒ जनि॑त्रीरन्ना॒वृधं॒ प्रति॑ चर॒न्त्यन्नैः॑।
ता ईं॒ प्रत्ये॑षि॒ पुन॑र॒न्यरू॑पा॒ असि॒ त्वं वि॒क्षु मानु॑षीषु॒ होता॑॥ ४॥

अतः उ=इसलिए ही, क्योंकि गतमन्त्र के अनुसार तेरे मुख से सदा दुग्ध के समान आप्यायन (वर्धन) करनेवाले मधुर ही शब्द निकलते हैं, सो **त्वा**=तुझे **पितुभृतः**=अन्नों का धारण करनेवाले **जनित्रीः**=अन्नों को उत्पन्न करनेवाले अथवा माता के समान अन्नों से दूसरों का पालन करनेवाले उत्तम वैश्य लोग **अन्नैः**=अन्नों से **प्रतिचरन्ति**=सेवित करते हैं। वे तेरे लिये सब आश्वयक अन्नों की भेंटों को प्राप्त कराते हैं। वस्तुतः वे तो तुझे ही '**अन्नावृधम्**'=अन्नों का वर्धन करनेवाला जानते हैं। वे यह समझते हैं कि—'न वर्षं मैत्रावरुणं ब्रह्मज्यमभिवर्षति' जिस राष्ट्र में इन ब्रह्मनिष्ठ पुरुषों का निरादर होता है वहाँ यह मित्रवरुण देवता सम्बन्धी पर्जन्य वर्षा को नहीं करता है। हे प्रभो! आप **ताः प्रति**=इन अत्यन्त मधुर भाषण करनेवाली प्रजाओं के प्रति **ईम्**=निश्चय से **एषि**=आते हो। और **पुनः**=फिर आपके आने से ये प्रजाएँ **अन्यरूपा**=विलक्षण ही रूप वाली हो जाती हैं। ये सामान्य लोगों से अत्यन्त भिन्न प्रतीत होते हैं। इनका सामान्य पुरुषों के लिये अत्यन्त

विस्मयकारक होता है, वे इन्हें अतिमानव महापुरुष व प्रभु का अवतार ही कहने लगते हैं। हे प्रभो! **त्वं**=आप इन **मानुषीषु विक्षु**=मानुष-विचारपूर्वक कर्म करनेवाली, दया की वृत्ति वाली प्रजाओं में **होता**=सब आवश्यक पदार्थों के देनेवाले **असि**=हैं। अर्थात् ऐसे पुरुषों का योगक्षेम आप ही चलाते हैं। वस्तुतः सज्जन धनियों के हृदय में प्रेरणा को पैदा करके आप इनकी सब आवश्यकताओं का उनके द्वारा पूरण कराते रहते हैं।

भावार्थ—लोकहित में लगे हुए पुरुषों का योगक्षेम प्रभु उक्त धनिकों के द्वारा कराते रहते हैं।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

'जन' द्वारा प्रभु का आतिथ्य

होतारं चित्ररथमध्वरस्य यज्ञस्ययज्ञस्य केतुं रुशन्तम्।
प्रत्यर्धिं देवस्यदेवस्य मह्ना श्रिया त्व१ग्निमतिथिं जनानाम्॥ ५॥

गतमन्त्र में प्रभु को 'होता' कहा था, उसी शब्द से प्रभु का स्मरण करते हुए कहते हैं कि हम **तु**=तो उस प्रभु का स्मरण व स्तवन करते हैं जो कि **होतारम्**=वस्तुतः ही सब आवश्यक पदार्थों के देनेवाले हैं, **चित्ररथम्**=हमारे इस शरीर रूप रथ को अद्भुत बनानेवाले हैं। इसी प्रकार हमारा भी यह शरीर रूप रथ जब प्रभु से अधिष्ठित होता है तो इस पर कामादि वासनाओं का आक्रमण नहीं हो पाता। उस समय हमारे जीवन से हिंसारहित उत्तम ही कर्म होते हैं, वे प्रभु **अध्वरस्य**=सब प्रकार की हिंसा से शून्य **यज्ञस्य यज्ञस्य**=प्रत्येक उत्तम कर्म के **केतुम्**=प्रकाशक हैं। प्रभु कृपा से हमारे जीवन में यज्ञों का ही प्रकाश होता है, हम कोई भी अयज्ञिय कर्म नहीं करते। **रुशन्तम्**=वे प्रभु देदीप्यमान हैं, ज्ञान के पुञ्ज हैं। वे प्रभु **मह्ना**=अपनी महिमा से व **श्रित्या**=श्री से **देवस्य देवस्य**=प्रत्येक देव की **प्रत्यर्धिम्**=(ऋध् णिच्-अर्धमति) उस-उस ऋद्धि को प्राप्त करानेवाले हैं। सूर्य, चन्द्र, तारे, पृथिवी व समुद्र ये सब उस प्रभु से ही अपनी महिमा व श्री को प्राप्त करते हैं। उपनिषद् ठीक ही कहती है कि—'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' उस प्रभु की दीप्ति से ही यह सब देदीप्यमान हो रहा है। 'तेन देवा देवतामग्र आयन्' उस प्रभु से ही देव-देवता को प्राप्त करते हैं। मनुष्य देवों को भी देवत्व प्रभु कृपा से ही मिलता है, बुद्धिमानों की बुद्धि, तेजस्वियों का तेज व बलवानों का बल प्रभु ही हैं। इस प्रकार **अग्निम्**=वे प्रभु ही अग्नि हैं, अग्रेणी हैं, वे हम सब को आगे ले चल रहे हैं। मार्गदर्शक व शक्ति को देनेवाले वे प्रभु ही हैं। वे प्रभु **जनानाम्**=अपनी शक्तियों का विकास करने वालों के **अतिथिम्**=अतिथि हैं। प्रभु के स्वागत करने का श्रेय उन्हीं को प्राप्त होता है जो कि अपनी शक्तियों के विकास के लिये प्रयत्नशील हों। हम करें तो कुछ नहीं, बस थोथा कीर्तन ही करते रहें, तो इससे प्रभु थोड़े ही मिल जाएँगे? प्रभु प्राप्ति के लिये तो 'जन' बनना होता है, 'पाँचों प्राणों, ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों' की शक्ति को विकसित करके अपने 'पञ्चजन' इस नाम को चरितार्थ करना होता है।

भावार्थ—हम पञ्चजन बनें, प्रभु हमें प्राप्त होंगे।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

सुन्दर वस्त्र धारण

स तु वस्त्राण्यध पेशनानि वसानो अग्निर्नाभा पृथिव्याः।
अरुषो जातः पद इळायाः पुरोहितो राजन्यक्षीह देवान्॥ ६॥

जीवात्मा से प्रभु कहते हैं कि, **सः**=वह तू **तु**=तो **अध**=अब **पेशनानि**=सुन्दर **वस्त्राणि**=वस्त्रों को **वसानः**=धारण के स्वभाव वाला है। ये 'स्थूल-सूक्ष्म व कारण' शरीर जीव के वस्त्र के समान हैं। गीता के 'वांसासि जीर्णानि०' इस प्रसिद्ध श्लोक में शरीरों को वस्त्रों से ही उपमित किया है। 'वसिष्याहि मिमेध्य वस्त्राण्यूर्जगम्यते' इस मन्त्र में भी शरीर ग्रहण को वस्त्र-धारण ही कहा गया है। प्रगतिशील जीव का यह कर्त्तव्य है कि इन वस्त्रों को सुन्दर बनाये रखे, इन्हें विकृत न होने दे। यह इन वस्त्रों की अविकृति ही आरोग्य है और यह आरोग्य ही सब पुरुषार्थों की नींव होता हुआ सर्वमहान् धर्म है। इस प्रकार शरीर वस्त्रों को शुद्ध रखता हुआ तू **अग्निः**=आगे बढ़नेवाला होता है। इसने सब उन्नतियों के मूल आरोग्य को अपनाया है। यह **अध पृथिव्याः नाभा**=पृथिवी की नाभि में **वसानः** (वसन्)=निवास करता है। 'अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः' इस मन्त्र में यज्ञ को ही पृथिवी की नाभि कहा गया है। इस यज्ञ में ही सब लोक प्रतिष्ठित हैं। यज्ञ के अभाव में न इस लोक का कल्याण है, न परलोक का। 'नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम' (गीता) नाभि में जैसे सब नाड़ियाँ बद्ध होती हैं (नह् बन्धने) इसी प्रकार यज्ञ में सब लोक बद्ध हैं। यज्ञ ही इन सब भुवनों का केन्द्र हैं। यह 'अग्नि' प्रयत्न करता है कि उसका जीवन यज्ञमय बना रहे। 'पुरुषो भव यज्ञः' इस उपनिषद् वाक्य को वह भूलता नहीं। 'इस यज्ञ से ही मैं यज्ञरूप प्रभु की उपासना करता हूँ' (यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः) यह बात वह सदा स्मरण रखता है। यज्ञमय जीवनवाला होकर यह **अरुषः**=(आरोचमानः नि०) ज्ञान से सर्वतः देदीप्यमान होता है, और **जातः**=अपनी शक्तियों का प्रादुर्भाव व विकास करता है। यह **इडायाः पदे**=वेदवाणी के मार्ग में, अर्थात् ज्ञान प्राप्ति के मार्ग में **पुरोहितः**=सब से आगे निहित होता है, अर्थात् ऊँचे से ऊँचा ज्ञान प्राप्त करता है अथवा जीवन को अधिकाधिक वेदानुकूल बनाता है। इसे प्रभु कहते हैं कि **राजन्**=यह ज्ञान से दीप्त होनेवाले अग्ने! अथवा जीवन को नियमित (Regulated) करनेवाले 'त्रित' तू **इह**=इस मानव जीवन में **देवान्**=दिव्य वृत्ति वाले विद्वानों को **यक्षि**=अपने साथ संगत कर। अर्थात् तेरा उठना-बैठना देववृत्ति वाले ज्ञानियों के साथ ही हो। इस संग ने ही तो तुझे 'सुमनाः' बनाना है 'यथा नः सर्व सज्जनः संगत्या सुमना असत्'। इन ज्ञानियों के सम्पर्क में रहता हुआ तू देवान्=दिव्यगुणों को यक्षि=अपने साथ संगत कर। अर्थात् तेरा जीवन दैवी सम्पत्ति को लिये हुए हो। साथ ही तू शरीर में चक्षु आदि के रूप से रहनेवाले इन सूर्यादि देवों को अपने साथ मेल वाला बना। इनके साथ तेरी अनुकूलता है। इन 'जल, वायु' आदि देवों की प्रतिकूलता में ही अस्वास्थ्य होता है। इन की अनुकूलता में तू स्वस्थ होगा, तेरे ये शरीर रूप वस्त्र निर्मल बने रहेंगे।

भावार्थ—हमारे शरीर रूप वस्त्र स्वास्थ्य के सौन्दर्य वाले हों, हमारा जीवन यज्ञमय हो। हम ज्ञानदीप्त व विकसित शक्ति होकर वेदमार्ग पर आवेगें। देवों से हमारा मेल हो।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

द्यावापृथिवी का विस्तार

आ हि द्यावापृथिवी अग्न उभे सदा पुत्रो न मातरा ततन्थ।

प्र याह्यच्छोशतो यविष्ठाथा वह सहस्येह देवान्॥ ७॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **हि**=निश्चय से **उभे**=इन दोनों द्यावापृथिवी=मस्तिष्क रूप द्युलोक तथा शरीर रूप पृथिवी को **सदा**=सदा **आततन्थ**=सब प्रकार से विस्तृत करता है, उसी प्रकार **न**=जैसे कि **पुत्रः**=एक पुत्र **मातरा**=अपने माता-पिता के यश को विस्तृत करता है उसी प्रकार प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि त्रित भी अपने मस्तिष्क व शरीर की शक्तियों

को फैलानेवाला होता है। यहाँ 'द्यौ पिता, पृथिवी माता' इन शब्दों के अनुसार द्युलोक पिता है और पृथिवीलोक माता है। हमें मस्तिष्क ही उज्ज्वलता तथा शरीर की दृढ़ता से इन्हें यशस्वी बनाना है। हे **यविष्ठ**=बुराई को अपने से दूर करनेवाले तथा अच्छाई को अपने साथ संगत करनेवाले जीव! तू **उशतः**=तेरा हित चाहनेवाले इन देवों के प्रति तू **प्रयाहि**=प्रकर्षेण आनेवाला बन। **अथ**=और हे **सहस्य**=सहस् में उत्तम अर्थात् उत्तम सहनशक्ति वाले जीव तू **इह**=इस जीवन में **देवान्**=दिव्यगुणों को **आवह**=सब प्रकार से प्राप्त करा। देवताओं के सम्पर्क में आने से बुराई दूर होकर अच्छाई के साथ हमारा मेल होता है, हम 'यविष्ठ' बनते हैं हमारी क्रोध आदि की वृत्ति दूर होकर हमारे में सहन की वृत्ति पैदा होती है। हम 'सहस्य' बनते हैं। यह सहस्य बनना ही वस्तुतः धर्म मार्ग में अग्रसर होने का चिह्न है। देव लोग कभी हमें कुछ कटु प्रतीत होनेवाली बात कहते भी हैं तो वह हमारे हित की भावना से ही कही जाती है, सो हमें उसे सहना ही चाहिए।

भावार्थ—हम मस्तिष्क व शरीर दोनों का विकास करें। देवों की ओर जाते हुए जीवन में दिव्यगुणों को बढ़ायें। सूक्त का प्रारम्भ त्रित के जीवन के चित्रण से होता है। यह त्रित प्रातः उठता है। भ्रमण के बाद स्वाधाय में लगता है दिनभर ज्ञानपूर्वक क्रियाओं को करता हुआ अपने सब कोशों की न्यूनता को दूर करता है। (१) वह ज्ञान व स्वास्थ्य का सम्पादन करता है, ओषधियों पर ही शरीर का पोषण करता है। ज्ञानी व तीव्र बुद्धि बनकर ज्ञानरश्मियों को प्राप्त करता है। (२) व्यापक उन्नतिवाला बनकर मोक्षरूप (ब्रह्मस्थिति) तृतीय धाम में विचरता है, मधुर ही शब्द बोलता है और समझदार होकर प्रभु का अर्चन करता है। (३) ये जहाँ जाता है वहाँ सदा सुकाल रहता है और लोग इसे अन्न की भेंट प्राप्त कराते हैं। (४) यह शरीर रूप वस्त्र को शुद्ध रखता है, यज्ञमय जीवनवाला होता है, अपने साथ दिव्यगुणों को संगत करता है। (६) शरीर व मस्तिष्क दोनों की ही शक्ति का विस्तार करता है। (७) द्वितीय सूक्त में भी इसी त्रित के जीवन का चित्रण करते हुए कहते हैं कि—

[२] द्वितीयं सूक्तम्

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

आयजिष्ठ

पिप्रीहि देवाँ उशतो यविष्ठ विद्वाँ ऋतूँर्ऋतुपते यजेह।
ये दैव्या ऋत्विजस्तेभिरग्ने त्वं होतॄणामस्यायजिष्ठः॥ १॥

हे **यविष्ठ**=बुराई को अपने से दूर करनेवाले तथा अच्छाई को अपने से संयुक्त करनेवाले जीव! **उशतः**=तेरा हित चाहनेवाले **देवान्**=माता, पिता, आचार्य, अतिथि आदि देवों को **पिप्रीहि**=तू अपने उत्तम कर्मों से प्रीणित करनेवाला बन। उनके कहने में चलता हुआ तू उनकी प्रसन्नता का कारण बन। हृदयस्थ उस महान् देव प्रभु की प्रेरणा को सुन तथा तदनुसार जीवन को चला। **विद्वान्**=इनके सम्पर्क में ज्ञानी बनकर **ऋतुपते**=हे ऋतुओं के पति अर्थात् समयानुसार नियमितता से कार्य करनेवाले जीव! तू **इह**=इस मानव जीवन में **ऋतून् यज**=ऋतुओं की अनुकूलता के लिये यज्ञशील हो। उत्तम कर्मों से माता-पिता आदि को प्रीणित कर, ज्ञानी बन और यज्ञशील हो। अब **ये**=जो **दैव्याः**=देव की ओर चलनेवाले, प्रभु प्राप्ति के मार्ग पर अग्रसर होनेवाले **ऋत्विजः**=ऋतु-ऋतु में यज्ञशील पुरुष हैं **तेभिः**=उनके सम्पर्क में रहता हुआ **त्वम्**=तू **अग्ने**=हे प्रगतिशील जीव! **होतॄणाम्**=होताओं में, दानपूर्वक अदन करने वालों में **आयजिष्ठः**=सब प्रकार से सर्वाधिक यज्ञशील हो। वस्तुतः हम जिन भी लोगों के सम्पर्क में आते हैं उन जैसे ही जीवन वाले बन जाते

हैं। अच्छों के सम्पर्क में अच्छे, और बुरों के सम्पर्क में बुरे। यहाँ देव ऋत्विज् लोगों के सम्पर्क में आकर हम भी सर्वाधिक यज्ञशील बनते हैं।

भावार्थ—हम बुराई को अपने से दूर करके तथा अच्छाई को अपने साथ संगत करके माता, पिता, आचार्य आदि देवों को प्रसन्न करें। हमारे सब कार्य समय पर हों। उत्तम लोगों के सम्पर्क में आकर हम उत्तम बनें।

ऋषिः—**त्रितः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

द्रविणोदा ऋतावा

वेषि होत्रमुत पोत्रं जनानां मन्धातासि द्रविणोदा ऋतावा।
स्वाहा वयं कृणवामा हवींषि देवो देवान्यजत्वग्निरर्हन्॥ २॥

गत मन्त्र के अनुसार 'दैव्य ऋत्विज्' लोगों के सम्पर्क में आकर तू **होत्रम्**=होता के कर्म की **वेषि**=कामना करता है, अर्थात् तू चाहता है कि तेरे जीवन से यह 'होता' का काम होता रहे, तू सदा दानपूर्वक अदन करनेवाला बने। (हु दानादनयोः) यह देकर यज्ञशिष्ट को खाना ही होता बनना है। **उत**=और इस होत्र के द्वारा तू **पोत्रं**=पोता=पवित्र करनेवाले के कर्म को वेषि=चाहता है। जितने-जितने अंश में हम होता बनते हैं, उतने ही अंश में हमारे में पोतृत्य, अर्थात् पवित्रता का संचार होता है। होता बनकर ही हम पोता बनते हैं। यह होतृत्व व पोतृत्व को धारण करनेवाला व्यक्ति ही **जनानां**=मनुष्यों में **मन्धाता**=मेधावी **असि**=है। बुद्धिमत्ता होता व पोता बनने में है। समझदार पुरुष कभी भी सारा स्वयं खाकर असुर नहीं बनता। यह **द्रविणोदाः**=धन के देनेवाला होता है। यह धन को सारा स्वयं नहीं हड़प लेता। यज्ञ में विनियुक्त करके बचे हुए का ही अपने लिये व्यय करता है। इस प्रकार दानवृत्ति वाला बनकर यह **ऋतावा**=अपने जीवन में ऋत का **अवन**=रक्षण करता है। जो चीज जिस समय व जिस स्थान पर करनी चाहिये उसका उसी स्थान व उसी समय पर करना 'ऋत' है। इस प्रकार ऋतपूर्वक जीवन बिताते हुए **वयम्**=हम **स्वाहा**=(स्व+हा) स्वार्थ का त्याग **कृणवामा**=करते हैं। सारी खराबियाँ इस स्वार्थ का त्याग न करने से ही तो हैं। **हवींषि**=हवियों को हम करते हैं, अर्थात् हम सदा दानपूर्वक अदन करनेवाले बनते हैं। हमारे जैसा करने पर **देवः**=यह दिव्यगुणों का पुञ्ज **अग्निः**=हमें निरन्तर आगे ले चलनेवाला **अर्हन्**=पूजा के योग्य प्रभु (अर्हः प्रशंसायाम्) वह प्रशस्य प्रभु **देवान् यजतु**=हमारे साथ देवों का संग करे। शारीरिक क्षेत्र में सूर्यादि देवों का हमारे साथ मेल हो सूर्यादि सब देवों का हमारे में अंशावतार है ही। सूर्य चक्षु के रूप में हैं तो वायु प्राणों के रूप में और अग्नि वाणी के रूप में। इन सब देवों का हमारे साथ अनुकूल्य होगा तो हम पूर्ण स्वस्थ होंगे। मानसक्षेत्र में 'देवान्' का अभिप्राय दिव्य गुणों से है। प्रभु कृपा से हमारा मन सब दिव्य गुणों वाला हो। व्यावहारिक क्षेत्र में देववृत्ति वाले विद्वान् लोग ही 'देव' हैं। प्रभु कृपा से हमें सदा इनका संग प्राप्त हो। इनके संग से हम भी इन्हीं की तरह देव बन पायेंगे।

भावार्थ—स्वार्थ त्याग से पवित्र बनते हुए हम मेधावी दाता व ऋतपालक बनें। हम यज्ञशेष को ही खायें और प्रभु हमारे साथ देवों का मेल करें।

ऋषिः—**त्रितः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

देव-यान

आ देवानामपि पन्थामगन्म यच्छक्नवाम तदनु प्रवोळ्हुम्।
अग्निर्विद्वान्त्स यजात्सेदु होता सो अध्वरान्त्स ऋतून्कल्पयाति॥ ३॥

गतमन्त्रों के अन्तिम शब्दों के अनुसार देवों के साथ हमारा संग हो। उनकी ज्ञानचर्चाओं से हम विवेक को प्राप्त करें, धर्माधर्म को जानें। तथा **देवानाम्**=उन देवों के **पन्थाम्**=मार्ग को **आ अगन्म अपि**=चलने का भी प्रयत्न करें। देवताओं के मार्ग का अनुसरण करें। **यत् शक्नवाम**=जितना भी कर सकें **तदनु**=उन देवताओं के अनुसार ही **प्रवोढुम्**=कार्यभार को वहन करने के लिये यत्नशील हों। अर्थात् यथाशक्ति हम देवों के मार्ग से ही चलें। उनसे किये जाते हुए कार्यों को ही करें। इस प्रकार देवानुसरण करनेवाला व्यक्ति ही **अग्निः**=अग्रेणी=अपने को अग्रस्थान में प्राप्त करानेवाला होता है। यही **विद्वान्**=ज्ञानी बनता है। **स**=वह **यजात्**=यज्ञशील होता है, **उ**=और **स**=वह **इत्**=निश्चय से **होता**=दानपूर्वक अदन करता है, **सः**=वह **अध्वरान्**=सदा हिंसा रहित कर्मों को **कल्पयाति**=तथा इन हिंसारहित कर्मों को करनेवाला यह **ऋतून्**=ऋतुओं को **कल्पयाति**=शक्तिशाली बनाता है। इसके लिये सारे समय सामर्थ्य को देनेवाले होते हैं। अहिंसा के अनुपात में ही इसकी शक्ति बढ़ जाती है।

भावार्थ—हम देवों के मार्ग पर चलें। यथाशक्ति उनके कर्मों का अनुसरण करें। उन्नतिशील ज्ञानी यज्ञशील व होता बनें। हिंसारहित कर्मों को करते हुए अपने लिये सब कालों को शक्ति सम्पन्न बनाएँ।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

व्रतभंग दोष परिहार

यद्वो व॒यं प्र॑मि॒नाम॑ व्र॒तानि॑ वि॒दुषां॑ देवा॒ अवि॑दुष्टरासः।

अ॒ग्निष्टद्विश्व॒मा पृ॑णाति वि॒द्वान्येभि॑र्दे॒वाँ ऋ॒तुभिः॑ क॒ल्पया॑ति॥४॥

हे **देवाः**=देवो! **विदुषां वः**=ज्ञान सम्पन्न आप लोगों के **व्रतानि**=व्रतों को **अविदुष्टरासः**=अज्ञानी से बने हुए **वयम्**=हम **यत्**=जो **प्रमिनाम**=हिंसित करते हैं **तद् विश्वम्**=उस सब को **विद्वान्**=समझदार **अग्निः**=प्रगतिशील व्यक्ति **अपृणाति**=सब प्रकार से पूरित करता है। ज्ञानी लोगों के कुछ व्रत होते हैं। ये ही व्रत योगदर्शन के शब्दों में 'यम-नियम' के रूप में कहे गये हैं। वेद में ये ही व्रत 'ऋत व सत्य' हैं। विद्वान् लोग वैयक्तिक व सामाजिक हित के दृष्टिकोण से इन व्रतों का पालन करते हैं। परन्तु एक नासमझ व्यक्ति क्षणिक आनन्द को महत्त्व देता हुआ इन व्रतों को अपनी अदूरदर्शिता से तोड़ बैठता है। पर जो व्यक्ति समझदार व प्रगतिशील होता है वह एक बार गिर जाने पर भी उठ खड़ा होता है, और प्रायश्चितादि के द्वारा उस व्रतभंग दोष को समाप्त करने के लिये प्रयत्न करता है और उस व्रत में आयी कमी को दूर करता है। ये व्रत में आयी कमी को दूर करने के प्रयत्न वे होते हैं **येभिः**=जिनसे **ऋतुभिः**=नियमित गतियों के द्वारा यह अग्नि अपने जीवन में **देवान्**=दिव्यगुणों को **कल्पयाति**=उत्पन्न करता है अथवा दैवी वृत्तियों को फिर से शक्तिशाली बनाता है। हमारी हृदयस्थली में देवों व असुरों का संग्राम तो निरन्तर चलता है। एक समझदार 'विद्वान्' व्यक्ति ऋतुओं की तरह नियमित गतियों से देवों को शक्तिशाली बनाता है और इस प्रकार आसुरवृत्तियों को पराजित करता है।

भावार्थ—हम मूर्खता से विद्वानों से पालन किये जानेवाले व्रतों को तोड़ बैठते हैं। हम 'विद्वान् व अग्नि' बनकर उन व्रतभंग दोषों को दूर करें और मर्यादित आचरण से (ऋतुभिः) दिव्यवृत्तियों को प्रबलता प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**त्रितः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अजानन्व विजानन् का अन्तर

यत्पाकत्रा मनसा दीनदक्षा न यज्ञस्य मन्वते मर्त्यासः।
अग्निष्टद्धोता क्रतुविद्विजानन्यजिष्ठो देवाँ ऋतुशो यजाति॥ ५ ॥

यत्=जब **मर्त्यासः**=संसार के विषयों के ही पीछे मरनेवाले अथवा मरा-सा जीवन बितानेवाले **पाकत्रा**=(पक्तव्येन) परिपक्क करने के योग्य **मनसा**=मन से युक्त अर्थात् हीन ज्ञान वाले नासमझ तथा **दीनदक्षाः**=आर्थिक शैथिल्य व शरीर की निर्बलता के कारण हीन उत्साह वाले पुरुष होते हैं तो वे **यज्ञस्य न मन्वते**=यज्ञ का विचार नहीं करते। अज्ञानी व क्षीणसामर्थ्य मरे से पुरुषों में यज्ञों की भावना का उदय नहीं होता। उत्तम कर्मों व यज्ञादि का विचार तभी उत्पन्न होता है जब कि मनुष्य परिपक्क बुद्धि व यज्ञादि के लाभों को समझनेवाला होता है तथा आर्थिक व शारीरिक स्थिति के ठीक होने से पूर्ण उत्साह से युक्त होता है। **तत्**=(then) तब **अग्निः**=प्रगतिशील पुरुष **होता**=सदा देकर यज्ञशेष को खाने की मनोवृत्ति वाला, **क्रतुविद्**=यज्ञों के महत्त्व को समझनेवाला, **विजानन्**=विशिष्ट ज्ञानवाला पुरुष **यजिष्ठः**=अधिक से अधिक यज्ञशील होता है और **ऋतुशः**=(ऋतौ) ऋतु-ऋतु में, सदा **देवान् यजाति**=देवयज्ञ करनेवाला होता है आधिदैविक क्षेत्र में यह देवयज्ञ 'अग्निहोत्र' है, अग्नि में डाली हुई आहुति सूर्य तक पहुँचकर सारे देवों को प्राप्त होती है, सम्पूर्ण वायुमण्डल शुद्ध होकर ठीक समय पर वर्षादि के होने से रोगों व अकाल का भय नहीं रहता। आधिभौतिक क्षेत्र में यह देवयज्ञ=विद्वानों का संग व सेवा है। इससे मनुष्य के ज्ञान का वर्धन होता है और जीवन उत्तम बनता है। अध्यात्म में यह देवयज्ञ, 'हृदयस्थ प्रभु के साथ मेल' है। इस मेल से मनुष्य पवित्र व शान्त बनता है। मनुष्य के अन्दर इस देवयज्ञ से एक अतिमानव शक्ति का उद्गम होता है।

भावार्थ—'अजानन्' पुरुष यज्ञों में प्रवृत्त नहीं होता, इस अप्रवृति का कारण आर्थिक दुर्बलता व उत्साह की कमी भी है। विजानन् पुरुष सदा यज्ञशील होता है।

ऋषिः—**त्रितः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्पृहणीय अन्न

विश्वेषां ह्यध्वराणामनीकं चित्रं केतुं जनिता त्वा जजान।
स आ यजस्व नृवतीरनु क्षाः स्पार्हा इषः क्षुमतीर्विश्वजन्याः॥ ६ ॥

जनिता=प्रभु ने **त्वा**=तुझे **जजान**=प्रादुर्भूत किया? किस रूप में? **विश्वेषाम्**=सब **अध्वराणां**=यज्ञों के **हि**=निश्चय से **अनीकम्**=बल के रूप में। अर्थात् तेरे में सब यज्ञों के करने का सामर्थ्य था। अब संसार के विषयों से आकृष्ट होकर हम उस शक्ति को क्षीण कर लेते हैं और हमारे में यज्ञों के करने का सामर्थ्य नहीं रह जाता। **चित्रम्**=(चिती ज्ञाने) प्रभु ने तुझे संज्ञानवाला किया। परन्तु यहाँ संसार में कामवासना ने तेरे उस ज्ञान पर परदा-सा डाल दिया। **केतुम्**=(कित निवासे रोगापनयने च) प्रभु ने तुझे इस मानव शरीर में उत्तम निवास वाला किया और तुझे रोगशून्य जीवनवाला ही उद्भूत किया। परन्तु जीव ने यहाँ विषयों की ओर झुककर अपनी आर्थिक स्थिति को भी क्षीण कर लिया और अपने शरीर को रोगों का घर बना लिया। एवं प्रभु ने तो यज्ञों की शक्ति दी थी, ज्ञान तथा उत्तम निवास तथा रोगशून्य शरीर दिया था। मनुष्य ने अपनी गलतियों से अपने जीवन से यज्ञों को विलुप्त कर दिया, अपने ज्ञान पर कामरूप परदे को

पड़ने दिया, भोगों में धन का दुरुपयोग करके क्षीण धन हो गया तथा विविध रोगों का शिकार बन गया। प्रभु जीव से कहते हैं कि **स**=वह तू अपने जीवन में कमी न आने देने के लिये **इषः**=उन अन्नों को **आ यजस्व**=सब प्रकार से अपने साथ संगत कर। जो अन्न कि **नृवतीः**=उत्तम नरों वाले हैं अर्थात् मनुष्यों को बड़ा उन्नत करनेवाले हैं (नृ नये), जिन अन्नों के सेवन से मनुष्य नर बनता है, अपने को उन्नतिपथ पर आगे ले चलनेवाला। **अनु क्षाः**=(क्षि निवासगत्योः) जो अन्न उत्तम निवास वाले गतिशील व्यक्तियों के अनुकूल हैं अर्थात् जिन अन्नों के सेवन से मनुष्य उत्तम निवास वाला तथा क्रियाशील जीवनवाला बनता है। **स्पार्हाः**=जो अन्न मनुष्य को उन्नति शिखर पर आरूढ़ होने की स्पृहा देनेवाले हैं। **क्षुमतीः**=(क्षु शके) जो अन्न मनुष्य को प्रभु के नामोच्चारण व स्तवन की ओर प्रेरित करते हैं। तथा जो अन्न **विश्वजन्याः**=सब उन्नतियों के लिये हितकर हैं, हमारी सब शक्तियों के विकास के लिये उत्तम हैं। मनुष्य की सब उन्नति व अवनति इस अन्न पर ही निर्भर करती है। तामस अन्न हमें अधोगति की ओर ले जाता है तो सात्त्विक अन्न ही हमारी सब उन्नतियों का कारण बनता है। 'आहार शुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'=आहार की शुद्धि पर ही अन्तःकरण की शुद्धि आश्रय करती है। अन्तःकरण की शुद्धि ही हमें अन्ततः प्रभु दर्शन के भी योग्य बनाती है। एवं प्रस्तुत मन्त्र में उस सात्त्विक अन्न का चित्रण करते हुए कहा गया है कि तुम्हारा अन्न तुम्हें नर बनानेवाला उत्तम निवास व गतिशीलता के अनुकूल स्पृहणीय प्रभुस्तवन की ओर प्रवण करनेवाला तथा सब शक्तियों के विकास के लिये हितकर हो। इस प्रकार के अन्न के सेवन से हमारा वह मूल का शुद्ध रूप बना रहेगा। अर्थात् हम यज्ञशील ज्ञानी उत्तम निवास वाले व नीरोग बने रहेंगे।

भावार्थ—प्रभु ने जीव को यज्ञों के बल वाला ज्ञानी व उत्तम निवास वाला तथा नीरोग बनाया है। यदि हम उत्तम ही अन्नों का सेवन करेंगे तो हमारा यह स्वरूप मलिन न होगा।

ऋषिः—**त्रितः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

द्युमद् पितृयाण

यं त्वा द्यावापृथिवी यं त्वापस्त्वष्टा यं त्वा सुजनिमा जजान।
पन्थामनु प्रविद्वान्पितृयाणं द्युमदग्ने समिधानो वि भाहि ॥ ७ ॥

गतमन्त्र के अनुसार सात्त्विक भोजन करने पर **यं त्वा**=जिस तुझको **द्यावापृथिवी**=ये द्युलोक तथा पृथिवीलोक तथा **यं त्वा**=जिस तुझको **आपः**=व्यापक अन्तरिक्षलोक (आप व्याप्तौ) **जजान**=विकसित शक्ति वाला करते हैं। द्युलोक का अंश शरीर में मस्तिष्क है। द्युलोक की अनुकूलता के होने पर मस्तिष्क का विकास ठीक से होता है। 'पृथिवी शरीरम्' इस वाक्य के अनुसार पृथिवी अध्यात्म में शरीर है। पृथिवी की अनुकूलता से शरीर ठीक रहता है। जैसे द्युलोक तारों व सूर्य से चमकता है, इसी प्रकार हमारा मस्तिष्क भी विज्ञान के नक्षत्रों व ज्ञान के सूर्य से चमकना चाहिए। जिस प्रकार पृथिवी दृढ़ है, उसी प्रकार हमारा शरीर भी दृढ़ होना चाहिए। 'अश्माभवतु नस्तनूः' हमारा शरीर पत्थर के समान मजबूत हो। इसके बाद हमारा हृदयान्तरिक्ष कुछ व्यापकता-उदारता को लिये हुए होना चाहिए। हृदय जितना विशाल होगा उतना ही ठीक होगा। विशालता ही हृदय को पवित्र करती है। इसी दृष्टिकोण से यहाँ 'आपः' शब्द का प्रयोग है, व्यापक। **यं त्वा**=जिस तुझको **सुजनिमा**=उत्तम विकास के कारणभूत **त्वष्टा**=उस महान् देवशिल्पी, सब दिव्यगुणों का निर्माण करनेवाले प्रभु ने जजान=प्रादुर्भूत शक्तियों वाला बनाया है। प्रभु के स्मरण से मनुष्य की शक्तियों का विकास ही होता चलता है, उसके जीवन में न्यूनता नहीं आती। मनुष्य

प्रभु को भूलता है और विषयासक्त होकर क्षीणशक्ति होता जाता है। वह तू जिसका कि विकास त्रिलोकी ने व त्रिलोकी के नाथ प्रभु ने किया है, **द्युमत्**-ज्योतिर्मय **पितृयाणं पन्थाम्**-पितृयाण मार्ग को **प्रविद्वान्**-खूब अच्छी प्रकार जानता हुआ **अग्ने**-हे प्रगतिशील जीव! **समिधानः**-उस प्रभु की ज्योति को अपने अन्दर समिद्ध करता हुआ **अनुविभाहि**-उस प्रभु के अनुसार दीप्ति को प्राप्त करनेवाला है। औरों की रक्षा का मार्ग ही पितृयाण मार्ग है। पिता पुत्रों का रक्षण करता है, ज्ञान देनेवाले आचार्यरूप पितर विद्यार्थियों का रक्षण करते हैं, राज्य-शासन के संचालक राजरूप पितर प्रजारूप पुत्रों का रक्षण करते हैं। इन सब का मार्ग 'पितृयाण' मार्ग है। यह ज्योतिर्मय होना चाहिए (द्युमत्)। ज्ञान की कमी के कारण ही हम रक्षण ठीक से नहीं करने पाते। अज्ञानवश रक्षण करते हुए हानि कर बैठते हैं। साथ ही इस मार्ग में चलते हुए प्रभु को अपने हृदय में समिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं तो जहाँ इस मार्ग पर उत्तमता से फल पाते हैं वहाँ प्रभु की दीप्ति से हमारा जीवन भी उसी प्रकार दीप्त हो उठता है जैसे कि लोहशलाका अग्नि में पड़कर अग्नि के समान चमक उठती है।

भावार्थ—हमारा शरीर द्यावापृथिवी व अन्तरिक्ष की अनुकूलता से व प्रभु कृपा से पूर्ण स्वस्थ होकर चमकता है हमें स्वस्थ शरीर होकर पितृयाण मार्ग से चलना चाहिये तथा प्रभु ज्योति को समिद्ध करके प्रभु के समान चमकने का प्रयत्न करना चाहिए।

इस द्वितीय सूक्त का प्रारम्भ इस प्रकार हुआ है कि हम 'आयजिक' बनें। अधिक से अधिक यज्ञशील, (१) मेधावी बनकर सदा धन को देनेवाले हों, (२) देवताओं के मार्ग पर चलें, यज्ञशील हों, होता बनें, (३) देवताओं के व्रत को तोड़ें नहीं, (४) परिपक्व बुद्धि वाले व अदीन सत्त्व वाले होकर सदा उत्तमोत्तम यज्ञों को करने का विचार करें, (५) हम सात्त्विक अन्नों के सेवन से सात्त्विक वृत्ति वाले हैं तथा (६) ज्योतिर्मय पितृयाण मार्ग का आक्रमण करते हुए दीप्त जीवन वाले बनें, (७) 'खूब ही चमकें' यह भावना तृतीय सूक्त के प्रारम्भ में देते हैं—

[३] तृतीयं सूक्तम्

ऋषिः—**त्रितः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

इन=स्वामी

इ॒नो रा॑जन्नर॒तिः समि॑द्धो॒ रौद्रो॒ दक्षा॑य सुषु॒माँ अ॑दर्शि।

चि॒कि॒द्वि भा॑ति भा॒सा बृ॑ह॒तासि॑क्नीमेति॒ रुश॑तीम॒पाज॑न्॥ १ ॥

गतमन्त्र के अन्तिम शब्दों के अनुसार प्रभु को अपने में समिद्ध करनेवाला **विभाति**-विशेष रूप से चमकता है। इसी को सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि—**राजन्**-(राजृ दीप्तौ) हे दीप्त जीवन वाले! अथवा (regulated) व्यवस्थित जीवन वाले जीव! तू **इनः**-अपना ईश्वर होता है, इन्द्रियों के वश में न होकर, उनको अपने वश में करनेवाला होता है। **अरतिः**-विषयों के प्रति तू रुचि वाला नहीं होता (अ रतिः) अथवा तू निरन्तर गतिशील होता है (अरतिः-ऋ गतौ) **समिद्धः**=ज्ञान की दीप्ति वाला होता है। ज्ञानदीप्त होकर **रौद्रः**-तू कामादि शत्रुओं के लिये रुद्ररूप धारण करता है, इनको अपने ज्ञान ज्वाला में दग्ध करनेवाला होता है। तू **दक्षाय**=सब प्रकार उन्नति व बलवृद्धि के लिये सुषुमान्-(सुष्ठु शोभते इति सुषुः सोमः सा०) सोम का शरीर में रक्षण करनेवाला **अदर्शि**-जाना जाता है। वस्तुतः इस सोमरक्षण से ही यह 'त्रित' **चिकित्**-विशिष्ट ज्ञानी बनकर **बृहता भासा**=विशाल व वृद्धि की कारणभूत ज्ञानज्योति से **विभाति**-चमकता है तथा **रुशती**-अकल्याणी (Hurting, displeased) **असिक्नीम्**-कृष्णवर्ण असत्य वाणी को

अपाजन्=अपने से दूर फेंकता हुआ **एति**=यह प्रभु के समीप प्राप्त होता है। 'केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु'=इस प्रार्थना के अनुसार यह ज्ञान को तो दीप्त करता है तथा वाणी को अत्यन्त मधुर बनाता है। 'रुशती' वह अकल्याणी वाक् है जो कि दूसरे के दिल को दुखाती है 'असिक्नी' इसीलिए कि वह शुद्धता को लिए हुए नहीं होती। जो 'इन' है, अपनी इन्द्रियों का स्वामी है। वह कभी भी ऐसी वाणी का प्रयोग नहीं करता।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनें, विषयों के प्रति रुचि वाले न हों, ज्ञानदीप्त होकर वासनादि शत्रुओं के लिए रुद्र बनें। सोमरक्षण द्वारा शक्ति का वर्धन करें। ज्ञान से दीप्त हों, अकल्याणी वाणी से दूर रहें। इस प्रकार प्रभु के समीप हों।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

दैवी सम्पत्ति

कृष्णां यदेनीम॒भि वर्प॑सा॒ भूज्ज॒नय॒न्योषां॑ बृह॒तः पि॒तुर्जाम्।
ऊ॒र्ध्वं भा॒नुं सूर्य॑स्य स्तभा॒यन्दि॒वो वसु॑भिरर॒तिर्वि भा॑ति॥ २॥

गतमन्त्र में 'असिक्नी रुशंती' इन शब्दों में जिस मलिन अकल्याणी वाणी का उल्लेख हुआ था, उसी को प्रस्तुत मन्त्र में 'कृष्णाम् एनी' शब्दों से स्मरण किया गया है। यह गालीगलौच वाली वाणी 'कृष्णा' काली=द्वेष से भरी हुई तो है ही, यह **एनी**=चित्रविचित्र रूप वाली है, नाना रूपों में ये अपशब्द प्रकट हुआ करते हैं। **यद्**=जब सोम का रक्षण करनेवाला **वर्पसा**=अपने तेजस्वी रूप से इस '**कृष्णां एनीम्**'—मलिन नाना रूपों में प्रकट होनेवाली अशुभ वाणी **अभि अभूत्**=अभिभूत कर देता है, अर्थात् अपने जीवन में इस अकल्याणी वाणी को प्रकट नहीं होने देता। तथा **बृहतः पितुः जाम्**=उस महान् पिता प्रभु से उत्पन्न होनेवाली इस **योषाम्**=गुणों का मिश्रण व अवगुणों का अमिश्रण करनेवाली वेदवाणी को **जनयन्**=अपने में प्रादुर्भूत करता है (योषा हि वाक् श० १।४।४।४) तब यह 'त्रित' **सूर्यस्य भानुम्**=ज्ञान के सूर्य की दीप्ति को (ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः) **ऊर्ध्वं स्तभायन्**=बहुत उन्नत स्थिति में थामनेवाला होता है, अर्थात् ज्ञान के दृष्टिकोण से उच्चस्थिति में पहुँचता है और यह **अ-रतिः**=विषयों की अभिरुचि से शून्य अथवा 'अर-तिः' निरन्तर क्रियाशील बना हुआ **दिवः वसुभिः**=प्रकाश व दिव्यगुणों की सम्पत्तियों से अर्थात् दैवी सम्पत् से **विभाति**=अपने जीवन को विशेषरूप से शोभायुक्त करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम अपने जीवन से अशुभ वाणी को दूर करें। शुभ वेदवाणी को अपनाएँ जिससे हमारा ज्ञान भी बढ़े और दुर्गुण दूर होकर दिव्यगुणों की वृद्धि हो।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

भद्र भद्रा के साथ राम की ओर

भ॒द्रो भ॒द्रया॒ सच॑मान॒ आगा॒त्स्वसा॑रं जा॒रो अ॒भ्ये॑ति प॒श्चात्।
सु॒प्रके॒तैर्द्युभि॑र॒ग्निर्वि॒तिष्ठ॒न्रुश॑द्भि॒र्वर्णै॑र॒भि राम॑मस्थात्॥ ३॥

गतमन्त्र की समाप्ति 'दिवः वसुभिः विभाति'='दिव्यगुणों की सम्पत्तियों से चमकता है' इन शब्दों के साथ हुई है। उन दिव्य सम्पत्तियों को अपनानेवाला **भद्रः**=यह भद्र व्यक्ति **भद्रया**—(भदि कल्याणे) कल्याणी बुद्धि से **सचमानः**=समवेत हुआ-हुआ **आगात्**=आता है। कल्याणी बुद्धि यही है जो किसी का अशुभ चिन्तन नहीं करती। वस्तुतः सब का भला चाहनेवाला पुरुष ही 'भद्र' पुरुष है। आत्मा रथी है, बुद्धि सारथि है, दोनों का ही भद्र होना आवश्यक है। **पश्चात्**=पीछे अर्थात्

भद्र बुद्धि से समवेत होने पर **जारः**-यह प्रभु का सदा स्तवन करनेवाला, क्योंकि सब स्तोता तो वही है जो कि 'सर्वभूतहिते रताः' है। यह स्तोता **स्वसारम्**-(स्वयं सरति) स्वाभाविकी क्रिया वाले पूर्ण रूप से स्वार्थशून्य क्रिया वाले, उस प्रभु को **अभ्येति**=प्राप्त होता है। जीव की क्रिया नैमित्तिक है, उसमें कुछ न कुछ स्वार्थ का अंश होता है। प्रभु इस सारे संसार को जीव के हित के लिए ही बना रहे हैं, उनकी सब क्रियाएँ जीव के कल्याण के लिये हैं प्रभु को यहाँ 'स्व-सृ' शब्द से इसलिए भी स्मरण किया है कि जीव को गति की शक्ति प्रभु प्राप्त कराते हैं, प्रभु स्वयं गतिमान् हैं, उन्हें कोई और गति देनेवाली शक्ति नहीं है। **जारः**=स्तोता जीव इस स्वयं गतिमान् प्रभु को अभ्येति-प्राप्त होता है। यह **अग्निः**=प्रभु की ओर अग्रेसर होनेवाला जीव! **द्युभिः**-देदीप्यमान **सुप्रकेतैः** उत्तम प्रकृष्ट ज्ञानों के साथ **वितिष्ठन्**=विशेषरूप से अपने प्रकृताचार में, प्राप्त कर्तव्य में स्थित होता हुआ ('तिष्ठति प्रकृताचारे' व्यास) **रुशद्भिः**-देदीप्यमान ज्ञान ज्योति से युक्त **वर्णैः** प्रभु के गुणवर्णनों के द्वारा **रामम्**-सर्वत्र रमण करनेवाले उस प्रभु की **अभि**=ओर **अस्थात्**=स्थित होता है। प्रभु की ओर अभिमुख होकर स्थित होनेवाला यह व्यक्ति कभी मार्गभ्रष्ट नहीं होता। 'रुशद्भिः' शब्द ज्ञान की दीप्ति का संकेत करता है तथा 'वर्णैः' प्रभु गुणगान का प्रतिपादन करता है। ज्ञानपूर्वक किया गया कीर्तन हमें प्रभु के समक्ष पहुँचाता है।

भावार्थ—हम भद्र बनें, हमारी बुद्धि कल्याणी हो, ज्ञानपूर्वक कर्तव्यों को हम करनेवाले बनें। ज्ञानपूर्वक प्रभुस्मरण हमें सदा प्रभु की दृष्टि में रखनेवाला हो।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

शिव सखा द्वारा मार्गदर्शन

अस्य यामासो बृहतो न वग्नूनिन्धाना अग्नेः सख्युः शिवस्य।
ईड्यस्य वृष्णो बृहतः स्वासो भामासो यामन्नक्तवश्चिकित्रे॥ ४॥

गतमन्त्र के अनुसार जब हम प्रभु में स्थित होने के लिये यत्नशील होते हैं तो **अस्य**=इस **बृहतः** सदा से वर्तमान प्रभु की **यामासः** (यान्ति गच्छन्ति)-सब क्रियाएँ **न वग्नून्**=व्यर्थ की बहुत बातें न करनेवाले पुरुषों को **इन्धानाः**-दीप्त करनेवाली होती हैं। बहुत न बोलनेवाले मुनि ही (मौनात्) उस सनातन गुरु से ज्ञान प्राप्ति को प्राप्त कर पाते हैं। जैसे एक आचार्य की सब क्रियाएँ प्रिय अन्तेवासी के ज्ञान की वृद्धि के लिये होती हैं, उसी प्रकार इस प्राचीन आचार्य प्रभु की क्रियाएँ प्रिय भक्त के ज्ञान की वृद्धि के लिए होती हैं। **अग्नेः**=गतिशील जीव के **सख्युः**=मित्र और **शिवस्य**=सदा कल्याण करनेवाले अथवा (शो तनूकरणे) अज्ञानान्धकार को दूर करनेवाले, **ईड्यस्य**-स्तुति के योग्य **वृष्णः**-सब सुखों की वर्षा करनेवाले **बृहतः**-सदा अपने मित्र का वर्धन करनेवाले (अन्तर्भावितण्यर्थो बृहि धातुः) **स्वासः**=उत्तम मुख वाले (स्वास्यस्य) अथवा (सु+आ+अस्-क्षेपणे) सब बुराइयों को हमारे से दूर फेंकनेवाले उस प्रभु की **भामासः**=ज्ञानदीप्तियाँ **यामन्**-इस जीवनयात्रा में **अक्तवः**=ज्ञान की रश्मियों के रूप में **चिकित्रे**=जानी जाती हैं। इन ज्ञान रश्मियों के प्रकाश में हमें जीवनयात्रा का मार्ग ठीक रूप में दिखता है। ये प्रकाश की किरणें हमें मार्गभ्रष्ट नहीं होने देती। प्रभु की यह सहायता प्राप्त उन्हीं को होती है जो कि अग्नि-प्रगतिशील हों। आलसी को प्रभु की सहायता नहीं प्राप्त होती। प्रभु 'अग्नि' के ही मित्र हैं सभी देव यत्नशील पुरुष के ही मित्र होते हैं 'न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः' (God helps those who help themselves) सम्भव है कि संसार के अन्य मित्र तो शक्ति व ज्ञान की कमी के कारण चाहते हुए भी हमारा भला न कर सकें अथवा बुरा कर बैठें, परन्तु ये प्रभु सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान् होने

से 'शिव' ही 'शिव' हैं, वे सदा हमारा कल्याण करते हैं और प्रभु का कल्याण करने का क्रम यही है कि वे हमारे अज्ञानान्धकार को क्षीण कर देते हैं। सो प्रभु जीव के लिये 'ईड्य' हैं। प्रभु के गुणों का स्मरण करता हुआ जीव अपने लिये एक आदर्श को सदा अपने सामने उपस्थित कर पाता है, और प्रगतिशील होता है। प्रभु का जीव के वर्धन का यही क्रम है। प्रभु जीव के ज्ञान को बढ़ाते हैं, इसी प्रकार वे उस पर सुखों का वर्षण करते हैं व उसको उन्नत करते हैं। प्रभु के मुख से शुभ ज्ञान की वाणियों का ही उच्चारण होता है। प्रभु के मुख से उच्चारित ये प्रेरणाएँ हमारे जीवनों को दीप्त करती हैं। ये ही हमारे जीवनमार्ग को दिखलाने के लिये प्रकाश की किरणें होती हैं।

भावार्थ—हम उस शिव सखा का स्तवन करते हुए उसकी प्रेरणाओं के प्रकाश में मार्ग को देखते हुए जीवनयात्रा में पथभ्रष्ट होने से बचें।

ऋषिः—**त्रितः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रभु की वाणी

स्वना न यस्य भामासः पवन्ते रोचमानस्य बृहतः सुदिवः ।
ज्येष्ठेभिर्यस्तेजिष्ठैः क्रीळुमद्भिर्वर्षिष्ठेभिर्भानुभिर्नक्षति द्याम् ॥ ५ ॥

यस्य=जिस प्रभु की **भामासः**=ज्ञानदीप्तियाँ **स्वनाः न**=स्वनों के समान हैं, प्रभु का प्रकाश क्या है? यह अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणात्मक वाणी है। इस वाणी को सुनना ही 'अनाहत' है। आघात से उत्पन्न होने के कारण ये सब शब्द 'आहत' कहलाते हैं। ड्रम पर ड्रमष्टिक से आघात करते हैं और शब्द उत्पन्न होता है, हम जो शब्द बोलते हैं वह भी प्रारम्भ में 'मनः कायाग्नि-माहन्ति' मन का कायाग्नि पर आघात होने से ही उत्पन्न होता है। यदि **रोचमानस्य**=उस तेजस्विता से चमकनेवाले **बृहतः**=अत्यन्त विशाल **सुदिवः**=उत्तम ज्ञान की ज्योति वाले प्रभु की इन वाणियों को हम सुनते हैं तो ये वाणियाँ **पवन्ते**=हमारे जीवन को पवित्र करनेवाली होती हैं। हमारे जीवनों को पवित्र करके ये वाणियाँ हमें भी उस पिता प्रभु की तरह ही 'रोचमान, बृहत् तथा सुदिव' बनाती हैं। हमारे शरीर नीरोग होकर तेजस्वी होते हैं, हमारे मन निर्मल होकर बृहत् व विशाल होते हैं, हमारी बुद्धियाँ भी निर्मल होकर ज्ञानज्योति से चमक उठती हैं। प्रभु इन **भानुभिः**=ज्ञानदीप्तियों से यह प्रभु की वाणी को सुननेवाला व्यक्ति **द्याम् नक्षति**=द्युलोक की ओर जाता है। पृथिवी से ऊपर उठकर अन्तरिक्ष में, अन्तरिक्ष से ऊपर उठकर यह द्युलोक में पहुँचता है। यहाँ इस सूर्यसम से आगे बढ़ता हुआ यह उस अमृत अव्ययात्मा ब्रह्म को प्राप्त करता है 'सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा'। 'कौन उस प्रभु को प्राप्त करता है अथवा द्युलोक की ओर जाता है?' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि **यः**=जो उन ज्ञान दीप्तियों से युक्त होता है जो **ज्येष्ठेभिः**=(उपलक्षिता) हमें ज्येष्ठ बनानेवाली हैं, जिन ज्ञान दीप्तियों से हमारा जीवन श्रेष्ठ बनता है। श्रेष्ठता का अभिप्रायः स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि—**तेजिष्ठैः**=ये हमें अत्यन्त तेजस्वी बनाती हैं, **क्रीडुमद्भिः**=युक्ताहार विहार वाला बनाकर ये ज्ञानदीप्तियाँ जहाँ हमें शरीर में नीरोग व तेजस्वी बनाती हैं वहाँ हमारे मनों को भी निर्मल बनाकर ये हमें 'क्रीडुमान्' बनाती है। संसार हमारे लिये एक 'क्रीडु' खिलौना होता है। इस खिलौनेवाले हम होते हैं। हम प्रत्येक घटनाएँ आनन्द का अनुभव करने लगते हैं। पराजय को भी एक खिलाड़ी की मनोवृत्ति से ही ग्रहण करते हैं। हानि-लाभ हमें क्षुब्ध नहीं कर देते। ये ज्ञानदीप्तियाँ **वर्षिष्ठेभिः**=ज्ञानवृद्ध तो हमें बनाती ही हैं। खूब उत्तम ज्ञान को प्राप्त कराके ये हमारे लिए सब सुखों का वर्षण करनेवाली होती हैं। एवं 'तेजिष्ठ क्रीडुमान्

व वर्षिष्ठ' बनकर हम सचमुच ज्येष्ठ बनते हैं, प्रभु की ज्ञानदीप्तियों का यही हमारे पर अनुग्रह है।

भावार्थ—प्रभु का प्रकाश 'आत्मा का शब्द' है (voice of conscious) इसे हम सुनते हैं तो 'रोचमान, बृहत् व सुदिव' बनते हैं, 'तेजिष्ठ, क्रीडुमान्, वर्षिष्ठ' बनकर ज्येष्ठ बनते हैं और द्युलोक को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**त्रितः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

जो सुनते हैं

अस्य शुष्मासो ददृशानपवेर्जेहमानस्य स्वनयन्नियुद्भिः।

प्रत्नेभिर्यो रुशद्भिर्देवतमो वि रेभद्भिररतिर्भाति विभ्वा॥ ६॥

गतमन्त्र में प्रभु की वाणी का उल्लेख है। उस वाणी को सामान्यतः हम सुन नहीं पाते। उसके कारण को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि **अस्य**=इस प्रभुभक्त के **शुष्मासः**=शत्रु शोषक बल **स्वनयन्** उस प्रभु की वाणी को स्वनित करते हैं, अर्थात् सुनने योग्य बनाते हैं। जिस समय हम कामादि वासनाओं को नष्ट करते हैं तभी उस अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणाएँ हमें सुन पाती हैं, वासनाओं का आवरण हटने पर ही ज्ञान का प्रकाश दिखता है। अपने शत्रु शोषक बल से वासनाओं का शोषण करनेवाला यह व्यक्ति '**ददृशानपवेः**'=(ददृशानः पविः च, दृश् कानच् तथा पू+इ) चीजों को ठीक रूप में देखनेवाला तथा पवित्र जीवनवाला होता है। **जेहमानस्य**=यह सदा गतिशील होता है 'क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः'। यह ददृशान=ठीक रूप में प्रत्येक वस्तु को देखनेवाला पवि-पवित्र तथा जेहमान=गतिशील व्यक्ति वह है **यः**=जो कि **प्रत्नेभिः**=सदा शाश्वत काल से चले आये धर्म के मार्ग पर चलनेवाले, पुराण-मार्ग का अनुसरण करनेवाले, नये-नये फैशन्स में न बह जानेवाले **रुशद्भिः**-ज्ञान की दीप्तियों से दीप्त **रेभद्भिः**-उत्तम कर्म व ज्ञान के द्वारा प्रभुस्तवन करनेवाले **नियुद्भिः** शरीररूप रथ में निश्चित रूप से जोते जानेवाले इन्द्रियाश्वों से **देवतमः**=उत्कृष्ट देव बनता है। इसकी कर्मेन्द्रियाँ शाश्वत धर्म के मार्ग पर चलती हैं (प्रत्न), ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञानदीप्त होती हैं (रुशत्) तथा इस ज्ञान व कर्म से यह प्रभु का उपासन करता है (रेभद्)। इस प्रकार यह 'देवतम'=उत्कृष्ट देव **अरतिः**-विषयों में न रुचि वाला (अ-रति) तथा सतत क्रियाशील (क्र०) तथा **विश्वा**=विभवनशील महान् होता हुआ **विभाति**=विशेष ही रूप से दीप्त होता है। यह 'वायु' आत्मा ही है। 'वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्' यह शरीर के विरोध में 'वायु' शब्द से आत्मा का ही प्रतिपादन है। 'आत्मा' शब्द 'अत सातत्यगमने' से बना है और वायु 'वा गतौ' से। इन्द्रियाँ ही इस आत्मा के घोड़े हैं, इन्हें निश्चित रूप से शरीर रूप रथ में जोतता है सो ये 'नियुत्' हैं।

भावार्थ—जब हम वासनाओं का शोषण करेंगे तभी प्रभु की वाणी को सुन पायेंगे। सुनेंगे तो 'देवतम-अरति व विश्वा' बनेंगे।

ऋषिः—**त्रितः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

रभस्वान्

स आ वक्षि महि न आ च सत्सि दिवस्पृथिव्योररतियुवत्योः।

अग्निः सुतुकः सुतुकेभिरश्वै रभस्वद्भी रभस्वाँ एह गम्याः॥ ७॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि **स**=वह 'देवतम-अरति व विश्वा' बननेवाला तू **आ**=सब ओर

से व सब प्रकार से **वक्षि**=देवों को अपने अन्दर प्राप्त कराता है, अर्थात् तू गुणों का कारण करनेवाला बनता है, **च**=और **नः**=हमारी **महि**=पूजा में **आसत्सि**=आकर स्थित होता है (मह् पूजायाम्, भावे क्विप्)। वस्तुतः प्रातः-सायं प्रभु पूजाएँ स्थित होना दिव्यगुणों की प्राप्ति के लिए सहायक है और दिव्यगुणों का वर्धन प्रभु पूजन की वृत्ति को बढ़ाता है। इस प्रकार प्रभु-पूजन व दिव्यगुणों की प्राप्ति परस्पर उपकारक होते हैं। तू **युवत्योः**=परस्पर विकास वाली **दिवस्पृथि**=मस्तिष्क व शरीर के विषय में **अरतिः**=(ऋ गतौ) निरन्तर क्रियाशील होता है। अर्थात् मस्तिष्क व शरीर के लिये तू सदा प्रयत्न करता है, तू मस्तिष्क को ज्ञानोज्ज्वल बनाता है तो शरीर को दृढ़ बनाने का प्रयत्न करता है एक की ही उन्नति में नहीं लगा रहता। परन्तु साथ ही 'अरतिः'=तू इनमें रति व ममता वाला नहीं हो जाता, इनमें तू फँसता नहीं। इस प्रकार बना हुआ तू '**अग्निः**'-अग्रेणी है, अपने को उन्नत करनेवाला है। '**सु-तुकः**'=(तुक् गतौ) उत्तम गतिवाला है, वस्तुतः यह सद् आचरण है। यह तू **सुतकेभिः अश्वैः**-उत्तम गति वाले इन्द्रिय रूप अश्वों से सदा उत्तम क्रियाओं में लगी हुई इन्द्रियों से और क्रियाओं में लगे रहने के कारण ही **रभस्वद्भिः**=रभस्, अर्थात् शक्ति वाली इन्द्रियों से **रभस्वान्**=शक्तिशाली बना हुआ तू **इह**=यहाँ हमारे पास **आगम्याः**=आत्मा वाला बन। शक्तिशाली ही प्रभु को प्राप्त करने का अधिकारी होता है। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'=यह आत्मा निर्बलों को प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ—प्रभु उसे प्राप्त होता है जो कि—(क) दिव्यगुणों को धारण करता है, (ख) पूजा में प्रातः-सायं स्थित होता है, (ग) शरीर व मस्तिष्क दोनों को उन्नत करता है, (घ) गतिवाला तथा उत्तम गतिवाला बनता है। (ङ) उत्तम गतिशील व शक्तिशाली इन्द्रियों से शक्तिशाली होता है। इस शक्तिशाली को ही प्रभु की प्राप्ति होती है।

इस सूक्त का प्रारम्भ इस रूप में है कि—ज्ञानदीप्त हों और अकल्याणी वाणी से दूर हों, (१) शुभ वेदवाणी को अपनाएँ जिससे हमारा ज्ञान बढ़े, (२) हम भद्र बनें, सदा कल्याणी बुद्धि को अपनाएँ, (३) प्रभु की प्रेरणा रूप प्रकाश में मार्ग को देखते हुए मार्गभ्रष्ट होने से बचें, (४) प्रभु की प्रेरणा को सुनते हुए 'तेजिष्ठ, क्रीडुमान् व वर्षिष्ठ' बनें, (५) इस प्रभु की वाणी को सुनने से ही हम देवतम अरति व विश्वा बनेंगे, (६) इस प्रेरणा के अनुसार चलते हुए ही 'रभस्वान्' शक्तिशाली होंगे और प्रभु को प्राप्त होने के योग्य हो जाएँगे, (७) इन लोगों के लिये प्रभु इस संसार रूप मरुस्थल में तृषा शान्ति की साधनभूत 'प्रपा' के समान होंगे—

[४] चतुर्थं सूक्तम्

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

मरुस्थल में प्रपा

प्र ते॑ यक्षि॒ प्र त॑ इयर्मि॒ मन्म॒ भुवो॒ यथा॒ वन्द्यो॑ नो॒ हवे॑षु।

धन्व॑न्निव प्र॒पा अ॑सि॒ त्वम॑ग्न इय॒क्षवे॑ पू॒रवे॑ प्रत्न राजन् ॥ १ ॥

प्रभुभक्त कहता है कि हे प्रभो! **ते प्रयक्षि**=मैं प्रकर्षेण तेरा संग करता हूँ। तेरे साथ मिलने के लिये यत्नशील होता हूँ। **ते**=आपके **मन्म**=इस वेदज्ञान व मन्त्रात्मक स्तुतियों की ओर **प्र इयर्मि**=प्रकर्षेण गति करता हूँ। ज्ञान प्राप्ति के लिये यत्नशील होता हूँ। इन ज्ञानवाणियों के द्वारा आपका स्तवन करता हूँ। **यथा**=जिससे आप **नः**=हमारी **हवेषु**=पुकारों में **वन्द्यः**=अभिवादन व स्तुति के योग्य **भुवः**=हों। हे **प्रत्न राजन्**=सनातन शासक रूप प्रभो! हे **अग्ने**=सब की उन्नति के साधक प्रभो! **त्वम्**=आप **इयक्षवे**=यज्ञशील व प्रतिदिन प्रातः-सायं आपके सम्पर्क में आनेवाले

और इस प्रकार **पूरवे**-अपने में शक्ति का पूरण करनेवाले मनुष्य के लिये **धन्वन्**-इस संसार रूप मरुस्थल में **प्रपा इव असि**-एक प्याऊ के समान हैं। मरुस्थल में तृषा से व्याकुल हुआ-हुआ पुरुष प्याऊ पर जल को पाकर जैसे अपनी व्याकुलता को दूर कर पाता है, इसी प्रकार इस कष्टबहुल संसार में मनुष्य प्रभु के चरणों में बैठकर शान्ति को अनुभव करता है। संसार मरुस्थल है, तो प्रभु उस मरुस्थल में प्याऊ हैं। इस प्याऊ पर भक्त लोग शान्ति देनेवाले जल का पान करते हैं।

भावार्थ—यज्ञशील व अपना पूरण करनेवाले बनने पर हम उस प्रभु को इस संसार रूप मरुस्थली में प्याऊ के समान पाते हैं।

ऋषिः-**त्रितः**॥ देवता-**अग्निः**॥ छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

उष्ण व्रजं

यं त्वा जनासो अभि संचरन्ति गाव उष्णमिव व्रजं यविष्ठ।
दूतो देवानामसि मर्त्यानामन्तर्महाँश्चरसि रोचनेन॥ २॥

हे प्रभो! **यं त्वा** जिन आपको **जनासः**-लोग उसी प्रकार प्रवेश करते हैं **इव** जैसे **गावः**-गौवें **उष्णाम् व्रजम्**-शीत शून्य कोसे-कोसे वाड़े में प्रवेश करती हैं। उष्ण व्रज में प्रवेश करके गौवें सरदी के भय से रहित हो जाती हैं, उसी प्रकार प्रभु में प्रवेश करके हम मृत्यु के भय से रहित हो जाते हैं। हे **यविष्ठ**-सब बुराइयों को दूर करनेवाले तथा सब अच्छाइयों का हमारे साथ सम्पर्क करनेवाले प्रभो! आप **देवानां**-देववृत्ति वाले लोगों के **दूतः**-सन्देश हर हैं। दिव्य वृत्ति वालों को आप ज्ञान का सन्देश प्राप्त करते हैं। **मर्त्यानाम् अन्तः**-मनुष्यों के अन्दर उनके हृदयदेश में **महान्**-पूजा के योग्य आप **रोचनेन**-ज्ञान की दीप्ति के साथ **चरसि**-विचरते हैं। मनुष्यों को चाहिए कि अपने हृदयदेश में प्रभु का उपासन व ध्यान करें। यह प्रभु का उपासन उन्हें ज्ञानदीप्ति से दीप्त हृदयाकाश वाला बनाएगा।

भावार्थ—प्रभु अपने भक्तों के लिये उसी प्रकार सुखद हैं जैसे कि गौवों के लिए एक कोसा वाड़ा। प्रभु देववृत्ति वालों को ज्ञान सन्देश प्राप्त कराते हैं। मनुष्यों के लिए वे हृदयदेश में उपासित होने पर ज्ञान की रोशनी देनेवाले होते हैं।

ऋषिः-**त्रितः**॥ देवता-**अग्निः**॥ छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

चाहता हुआ और चलता हुआ

शिशुं न त्वा जेन्यं वर्धयन्ती माता बिभर्ति सचनस्यमाना।
धनोरधि प्रवता यासि हर्यञ्जिगीषसे पशुरिवावसृष्टः॥ ३॥

शिशुं न त्वा-एक बच्चे के समान तुझे **जेन्यं वर्धयन्ती**-(जयशीलं=जि, विकासशीलं वा जन्) जयशील व विकासशील के रूप में बढ़ाती हुई **माता**-यह तेरे जीवन का निर्माण करनेवाली प्रभु रूप माता **सचनस्यमाना**-सदा तेरे सम्पर्क को चाहती हुई **बिभर्ति**-तेरा पोषण करती है। माता जैसे बच्चे का वर्धन करती है, उसी प्रकार प्रभु हमारा वर्धन करते हैं। ये हमें जयशील व विकासशील बनाते हैं। जीवन का निर्माण प्रभु ने ही करना है। ये प्रभु हमारा सम्पर्क कभी छोड़ते नहीं। सांसारिक माता कभी साथ छोड़ भी दे, परन्तु प्रभु हमारा साथ देंगे ही। प्रभु के सम्पर्क में रहनेवाला व्यक्ति 'जेन्य'-जयशील व विकासशील बनता है। जीव से कहते हैं कि **धनोः**-(प्रणवो धनुः) ओंकाररूप धनुष् के द्वारा **प्रवता**-निम्न मार्ग से, अर्थात् सदा झुककर नम्रता से चलता हुआ तू **अधियासि**-उस प्रभु तक पहुँचता है। नम्रता ही तेरे उत्त्थान के कारण हो जाती है। इस उत्त्थान

में 'ओम्' का जप तेरे लिये सहायक होता है। इस जप से तेरी चित्तवृत्ति ठीक बनी रहती है। **हर्यन्**=(गतिकान्त्योः) उस प्रभु की ओर चलता हुआ और उस प्रभु को चाहता हुआ तू **जिगीषसे**=उस प्रभु को उसी प्रकार प्राप्त करना चाहता है, **इव**=जैसे **अवसृष्टः पशुः**=खुला छोड़ा हुआ पशु अपने गोष्ठ के प्रति आता है। जीव भी बन्धनों से मुक्त हुआ-हुआ प्रभु की ओर जाता है।

भावार्थ—प्रभु सदा साथ देनेवाली माता है, वह हमें जयशील व विकासशील बनाती है। ओम् के जप से नम्रता से चलते हुए हम प्रभु को उसी प्रकार प्राप्त करते हैं जैसे कि बन्धनमुक्त हुआ-हुआ पशु गोष्ठ को प्राप्त होता है।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

मूढ़ों की अमूढ़ से प्रार्थना

मूरा अमूर न वयं चिकित्वो महित्वमग्ने त्वमङ्ग वित्से।
शये वव्रिश्चरति जिह्वयादन्रेरिह्यते युवतिं विश्पतिः सन्॥ ४॥

हे **अमूर**=अमूढ़, माया के अधिपति होने से इस माया से मूढ़ न बनाये जानेवाले प्रभो! **चिकित्व**=हे ज्ञान सम्पन्न प्रभो! **मूराः वयम्**=मूर्ख हम लोग, इस माया से मूढ़मति बने हुए हम **महित्वम्**=आपकी महिमा को **न**=नहीं जान पाते हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **अंग**=हे सर्व प्रभो! **त्वम्**=आप ही अपनी रस महिमा को **वित्से**=जानते हो। आपकी महिमा हमारे लिए अचिन्त्य है, आपकी महिमा का पार पाना किसी भी व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं। यह अचिन्यमहिम प्रभु **वव्रिः**=अत्यन्त सुन्दर रूप वाले होते हुए (वव्रिः रूपनाम नि ३.७) **शये**=हमारे अन्तःकरणों में ही निवास करते हैं। **जिह्वया**=जिह्वा से अर्थात् हृदयस्थ रूपेण उच्चारित वेदवाणी से **अदन्**=हमारे सब मलों को अदन्=खाते जाते हुए अर्थात् समाप्त करते हुए ये प्रभु हमारे जीवनों को उसी प्रकार निर्मल बना देते हैं जैसे कि कोई गौ जिह्वा से बछड़े के शरीर को चाटकर ठीक कर देती है। ये प्रभु **विश्पतिः**=सब प्रजाओं के रक्षक **सन्**= होते हुए **युवतिम्**=अपने से मिश्रण व सम्पर्क करनेवाली प्रजा को अथवा दुर्गुणों से अपना अमिश्रण व गुणों से मिश्र करनेवाले व्यक्ति को **रेरिह्यते**=खूब मधुर जीवनवाला, स्वादमय जीवनवाला बना देते हैं। जो भी व्यक्ति प्रभु के सम्पर्क में आता है, उसका जीवन मधुर बन जाता है। वह सब प्रजाओं का पति उस परमात्मा को जानता हुआ सब में समदृष्टि होकर प्रेम वाला होता है। इस एकत्व दर्शन वाले को शोक मोह नहीं सताते।

भावार्थ—प्रभु की महिमा प्रभु ही जानते हैं। अचिन्य होते हुए भी वे अपने सुन्दरतम रूप से वे प्रभु हमारे हृदयों में ही हैं। ज्ञानवाणियों से वे हमारे जीवनों को पवित्र कर देते हैं। अपने सम्पर्क में आनेवाले के जीवन को वे मधुर बना देते हैं।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

नव्य जीवनवाला विरल पुरुष

कूचिज्जायते सनयासु नव्यो वने तस्थौ पलितो धूमकेतुः।
अस्नातापो वृषभो न प्र वेति सचेतसो यं प्रणयन्त मर्ताः॥ ५॥

संसार में मूर्ख तो बहुत हैं समझदार ज्ञानी कोई एक आध ही होता है। इस बात को मन्त्र में इस प्रकार कहते हैं कि **कूचित्**=(कूचित्) कहीं विरल स्थान में ही **सनयासु**=(स-नया) नीति मार्ग पर चलनेवाली प्रजाओं में **नव्यः**=स्तुत्य जीवनवाला व्यक्ति **जायते**=पैदा होता है। माता-पिता

का जीवन नीति सम्पन्न हो, वे न्याय मार्ग पर चलनेवाले हों तो उनका सन्तान उत्तम वातावरण में पलकर प्रशस्त जीवनवाला बनता है। यह व्यक्ति **वने** प्रभु के संभजन में स्थित होता है (वन् संभक्तौ) इसकी चित्तवृत्ति भोगप्रवण न होकर प्रभु प्रवण होती है। यह **पलितः**=पालयिता धर्म के नियमों का पालन करनेवाला होता है। **धूमकेतुः**-(धू कम्पने) इसका ज्ञान सब बुराइयों को कम्पित करके दूर करनेवाला होता है। **अस्नाता**-यह उस प्रभु में स्नान करनेवाला होता है, अर्थात् प्रभु की उपासना इस के जीवन के शोधन का कारण बनती है। यह **आपः** (रेतः) वीर्यकणों को **प्रवेति** प्रकर्षेण प्राप्त होता है अर्थात् उन्हें सुरक्षित रखता है, और अतएव **वृषभो न**=वृषभ के समान शक्तिशाली होता है। इस प्रकार के जीवनवाला बन वही पाता है **यम्**-जिसको कि **सचेतसो मर्ताः**-समझदार ज्ञानी पुरुष **प्रणयन्त**-प्रकृष्ट मार्ग पर ले चलनेवाले होते हैं। उत्तम माता, पिता व आचार्य को प्राप्त करनेवाला ही तो ज्ञानी बनता है, माता ने उसे चरित्र सम्पन्न बनाना है, पिता ने उसे शिष्टाचार सिखाना है और आचार्य ने उसे साङ्गोपाङ्ग वेद ज्ञान देना है। तीनों का सम्मिलित प्रयत्न ही इसे नव्य व स्तुत्य जीवनवाला बनाता है।

भावार्थ—प्रभु प्रवण वृत्ति वाला व्यक्ति विरल ही होता है। उत्कृष्ट जीवन उसीका बनता है जिसे कि योग्य माता, पिता व गुरु प्राप्त हो जाते हैं।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

दो-चार-दस रस्सियों से बाँधते हैं

तनूत्यजेव तस्करा वनर्गू रशनाभिर्दशभिरभ्यधीताम्।
इयं ते अग्ने नव्यसी मनीषा युक्ष्वा रथं न शुचयद्भिरङ्गैः॥ ६॥

'मनुष्य ज्ञानी क्यों नहीं बन पाता'? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि **इव**=जैसे **वनर्गू**-इस शरीर में ही निवास करनेवाले **तनूत्यजा**=शरीर की सब शक्तियों को क्षीण कर डालनेवाले **तस्करा**-उस-उस अवाञ्छनीय कार्य को करनेवाले (तत् तत् करोति इति तस्करः) मन व बुद्धि **दशभि रशनाभिः**-दस इन्द्रिय रूप रस्सियों से **अभ्यधीताम्**-खूब अच्छी तरह धारण कर लेते हैं, जकड़ लेते हैं मनुष्य को इन इन्द्रियों के व्यसनों में फँसाकर नष्ट कर डालते हैं। जब प्रभु कृपा होती है तो हम तभी इस बन्धन से बच पाते हैं। मन्त्र में कहते हैं कि हे **अग्ने**-अग्रेणी प्रभो! मुझे बन्धनों से छुड़ाकर आगे ले चलनेवाले प्रभो! **इयम्**-इस वेदवाणी में **नव्यसी**-अत्यन्त स्तुत्य **मनीषा** बुद्धि व ज्ञान प्राप्त होता है। इसके द्वारा मेरी बुद्धि सद्बुद्धि बनती है। इस मन को काबू करनेवाली मनीषा के द्वारा हे प्रभो! आप **न**=जिस प्रकार रथ को उत्तम घोड़ों से जोतते हैं उसी प्रकार **रथम्**-मेरे इस शरीररूप रथ को **शुचयद्भि अंगैः**-अत्यन्त पवित्र कार्यों में व्याप्त गतिशील इन्द्रियाश्वों से **युक्ष्वा**-युक्त करिये। अर्थात् मेरी इन्द्रियाँ व्यसनों फँसकर मेरे लिये बन्धन होकर उन्नति में विघ्नभूत न हो जाएँ। पवित्र बुद्धि के द्वारा मेरा मन भी पवित्र हो, और मेरी ये इन्द्रियाँ शरीर रूप रथ को त्वरित गति से लक्ष्यस्थान की ओर ले जानेवाले घोड़ों के समान हों।

भावार्थ—हमारे मन व बुद्धि पवित्र हों, हमारी इन्द्रियाँ हमारे लिए बन्धनरज्जु न हो जाएँ।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

मनीषा व गीः प्रभु की वाणी

ब्रह्म च ते जातवेदो नमश्चेयं च गीः सदमिद्वर्धनी भूत्।
रक्षा णो अग्ने तनयानि तोका रक्षोत नस्तन्वो३ अप्रयुच्छन्॥ ७॥

हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **ते ब्रह्म च**=आप का 'ज्ञान' **ते नमः**=आपके प्रति नमन **च**=तथा **इयं**=यह आपकी **गीः**=वेदवाणी **सदम् इत्**=सदा ही **वर्धनी भूत्**=हमारे वर्धन का कारण बने। आपकी कृपा से हम ज्ञान को प्राप्त करें, नतमस्तक हों तथा यह आपकी वेदवाणी हमें उन्नतिपथ पर ले चलनेवाली हो। हे **अग्ने**=हे अग्रगति के साधक परमात्मन् **अप्रयुच्छन्**=प्रमादरहित होकर पूर्ण सावधानी से **नः**=हमारे **तनयानि तोका**=पुत्र-पौत्रों को भी **रक्ष**=सब प्रकार के व्यसनों के बन्धनों में पड़ने से बचाइये, **उत**=और **नः**=हमारे **तन्वः**=शरीरों को भी **रक्षा**=सुरक्षित करिये। हमारे मन व बुद्धि, गतमन्त्र के निर्देश के अनुसार, हमारे लिए तस्कर न बन जायें, वे इन्द्रिय रूप रस्सियों से हमें जकड़ कर नष्ट ही न कर डालें।

भावार्थ—हे प्रभो! आप हमें ज्ञान, नम्रता व वेदवाणी (स्वाध्याय) प्राप्त कराइये। ये इस जीवनयात्रा में हमारी उन्नति का कारण बनें। हमारा वंश भी पवित्र भावनाओं वाला होकर फले व फूले।

इस सूक्त का प्रारम्भ में प्रभु को संसार रूप मरुस्थली में एक प्याऊ के समान चित्रित करने से हुआ है, (१) वे प्रभु ही शीतार्त मनुष्य के लिये एक कोष्णगृह (कुछ-कुछ गर्म गृह) के समान हैं, (२) माता के समान यह हम शिशुओं का वर्धन करते हैं, (३) पर हम मूढ़ उस माता की महिमा को समझते नहीं, (४) कोई एक आध विरल व्यक्ति ही उस प्रभु की पवित्र धाराओं में स्नान करनेवाला बनता है, (५) सामान्यतः तो मनुष्य बुद्धि व मनरूप चोरों से इन्द्रियरूप रज्जुओं द्वारा बाँधे जाते हैं, (६) प्रभु कृपा होती है तो हमें ज्ञान-नम्रता व प्रभु की यह वेदवाणी प्राप्त होती है और हमें बन्धनमुक्त कर आगे बढ़ानेवाली बनती है, (७) यह ज्ञान व नम्रता हमें सब सम्पत्तियों के आधार उस आनन्दमय प्रभु की ओर ले चलते हैं—

[५] पञ्चमं सूक्तम्

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

'धनों के धरुण' प्रभु

एकः॑ समु॒द्रो ध॒रुणो॑ रयी॒णाम॒स्मद्धृ॒दो भूरि॑जन्मा॒ वि च॑ष्टे।
सिष॒क्त्यूध॑र्नि॒ण्योरु॒पस्थ॒ उत्स॑स्य॒ मध्ये॒ निहि॑तं प॒दं वेः॥ १॥

एकः=वे प्रभु एक हैं, उन्हें अपने सृष्टि निर्माण आदि कार्यों के लिए किसी अन्य की सहायता की अपेक्षा नहीं। 'न तत्समोसत्य अभ्यधिकः कुतोऽन्यः'=उनके समान भी कोई नहीं, अधिक का तो प्रश्न ही नहीं उठता। अथवा वे प्रभु (इ गतौ) सारे ब्रह्माण्ड को गति देनेवाले हैं। **स-मुद्रः**=वे सदा आनन्दमय हैं, हर्ष के साथ हैं। **रयीणां धरुणः**=सम्पूर्ण सम्पत्तियों के कोश व धारण करनेवाले हैं। वे **भूरिजन्मा**=अनन्त पदार्थों को जन्म देनेवाले प्रभु **अस्मत्**=हमारे **हृदः**=हृदयों को **विचष्टे**=वारीकी से देख रहे हैं। हृदयों की अन्तःस्थित होते हुए वे हमारे हृदयों की सब बातों को जानते हैं। **निण्योः**=(अन्तर्हितयोः) अन्नमय कोश के अन्दर स्थापित 'मनोमय व विज्ञानमय' कोशों के **उपस्थे**=समीप वर्तमान वे प्रभु **ऊधः सिषक्ति**=सेवन करते हैं। अर्थात् विज्ञानमय कोश में पहुँचकर ही हम प्रभु का दर्शन कर पाते हैं। हे जीव! तू **उत्सस्य**=ज्ञानस्रोत के, मानस के **मध्ये**=मध्य में **निहितम्**=स्थापित व विद्यमान **पदम्**='पद्यते मुनिभिर्यस्मात् तस्मात् पद उदाहृतः'=उस जाने योग्य व प्राप्त करने के योग्य प्रभु के प्रति **वेः**=जानेवाला है तू सदा उस प्रभु प्राप्ति के मार्ग पर चल। हृदय से ही शरीर में सारे रुधिर का अभिसरण चलता है। यह हृदय रुधिर का आधार है, 'पौराणिक साहित्य में इसे मानसरोवर' कहा गया है। इस मानसरोवर में 'हंस' तैरता है। यह

हंस 'हन्ति पाप्मानम्' इस व्युत्पत्ति से परमात्मा ही है। इस प्रभु को हमें प्राप्त करने का यत्न करना चाहिए।

भावार्थ—वे आनन्दमय प्रभु ही सब धनों के धरुण हैं। वे ही हमारे ज्ञानकोश को भी भरनेवाले हैं। उस हृदयस्थ प्रभु को जाननेवाले हम बनें।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

नाम-स्मरण

समानं नीळं वृषणो वसानाः सं जग्मिरे महिषा अर्वतीभिः।
ऋतस्य पदं कवयो नि पान्ति गुहा नामानि दधिरे पराणि॥ २॥

गतमन्त्र के अनुसार प्रभु को जाननेवाले **वृषणः** शक्तिशाली लोग **समानं नीडम्**=प्रभु रूप एक ही आश्रय (घोंसले) में रहनेवाले होते हैं। अर्थात् ये सभी को प्रभु का पुत्र समझते हैं, सो प्रभु को ही सब का घर जानते हैं। प्रभु को पिता के रूप में देखनेवाले तथा सब के साथ अविरोध को रखनेवाले ये शक्तिशाली तो होते ही हैं। ये **महिषाः**=(मह पूजायाम्) प्रभु का पूजक करनेवाले प्रभु-भक्त **अर्वतीभिः** खूब क्रियाशील इन्द्रिय रूप अश्वों से **संजग्मिरे**=सब के साथ मिलकर चलते हैं। अर्थात् इनकी इन्द्रियों की क्रियाएँ परस्पर विरोधी न होकर अनुकूलता वाली होती हैं 'संगच्छध्वम्' इस पिता से दिये गये उपदेश को ये अपने जीवन में अनूदित करनेवाले होते हैं। **कवयः**-ये तत्त्वज्ञानी पुरुष **ऋतस्य पदम्**=ऋत के मार्ग को **निपान्ति**=निश्चय से अपने जीवन में सुरक्षित करते हैं। जीवन में अनृत से दूर होकर सत्य को ही अपनाते हैं। इनकी सब क्रियाएँ ऋत व ठीक ही होती हैं। सूर्य व चन्द्रमा की तरह ठीक समय व स्थान पर क्रियाओं को करते हुए ये कल्याण के मार्ग का आक्रमण करते हैं। इसलिए कि 'मार्ग से कभी विचलित न हो जाएँ' ये **गुहा**-अपनी हृदयरूप गुफा में **पराणि नामानि दधिरे**=उत्कृष्ट नामों का धारण करते हैं। प्रभु के नाम का स्मरण इन्हें न्यायमार्ग से विचलित होने से बचाता है। वे प्रभु को याद करते हैं और उसके निर्देश के अनुसार 'ऋत' का पालन करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही हम सबके घर हैं। हम मिलकर चलते हुए प्रभु के सच्चे उपासक बनते हैं। हम हृदयों में प्रभु के नाम का स्मरण करते हुए उसके ही मार्ग पर चलते हैं। न्याय मार्ग से भ्रष्ट नहीं होते।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

मामनुस्मर बुध्य च

ऋतायिनी मायिनी सं दधाते मित्वा शिशुं जज्ञतुर्वर्धयन्ती।
विश्वस्य नाभिं चरतो ध्रुवस्य कवेश्चित्तन्तुं मनसा वियन्तः॥ ३॥

गत मन्त्र के अनुसार प्रभु के घर में वास करनेवाले **शिशुम्**=इस (शो तनूकरणे) तीव्र बुद्धि वाले बालक को **ऋतायिनी**=सत्य वाले तथा **मायिनी**=प्रज्ञा वाले द्युलोक व पृथिवीलोक **संदधाते**=सम्यक्तया धारण करते हैं। 'द्यौष्पिता, पृथिवी माता' इस वाक्य के अनुसार द्युलोक व पृथिवीलोक इसके माता पिता होते हैं और वे इसके जीवन में सत्य व प्रज्ञा को भरनेवाले होते हैं। द्युलोक व पृथिवी के अन्तर्गत सभी देव इनको सत्य से शुद्ध मनवाला तथा प्रज्ञा से प्रदीप्त मस्तिष्क वाला बनाने में सहायक होते हैं। इस प्रकार **वर्धयन्ती**=इसका वर्धन करते हुए ये द्युलोक व पृथिवीलोक **मित्वा**-बड़ा माप करके शिशुं=इस अपने सन्तान को **जज्ञतुः**-विकसित करते हैं।

इनके अंग-प्रत्यंग बड़े माप करते हुए अनुपातिक व सुन्दर प्रतीत होते हैं। इस प्रकार सुन्दर मन, मस्तिष्क व शरीर वाले ये व्यक्ति **चरतः ध्रुवस्य**=जंगम व स्थावर **विश्वस्य**=सम्पूर्ण जगत् के **नाभिं**=केन्द्रभूत यज्ञ को (अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः) तथा **कवेः चित् तन्तुम्**=उस क्रान्तदर्शी प्रभु के सब लोकों में ओत-प्रोत सूत्र को (सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात्) **मनसा**=मन से **वियन्तः**=विशेष रूप से जानेवाले होते हैं। अर्थात् ये यज्ञशील होते हैं, और सब लोकों में ओत-प्रोत सूत्र रूप प्रभु को मन से स्मरण करते हैं। इनके मन में प्रभु व हाथों में यज्ञ होते हैं।

भावार्थ—प्रभु में निवास करने वालों के 'मन' सत्य वाले, 'मस्तिष्क' प्रज्ञा वाले तथा 'शरीर' सुन्दर व आनुपातिक अंगों वाले होते हैं। ये सर्वलोकहितकारी कर्मों को करते हैं और इनके मन में प्रभु का स्मरण चलता है।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

ऋत की वर्तनि

ऋतस्य हि वर्तनयः सुजातमिषो वाजाय प्रदिवः सचन्ते।
अधीवासं रोदसी वावसाने घृतैरन्नैर्वावृधाते मधूनाम्॥ ४॥

गत मन्त्र के अनुसार **सुजातम्**=उत्तम शक्तियों के विकास वाले इस प्रभु-भक्त को **हि**=निश्चय से **ऋतस्य वर्तनयः**=सत्य व यज्ञ के मार्ग **सचन्ते**=सेवन करते हैं अर्थात् प्राप्त होते हैं, यह यज्ञशील होता है तथा सदा सत्याचरण ही करता है। और **प्रदिवः**=प्रकृष्ट प्रकाश व ज्ञान से युक्त अर्थात् बुद्धि को सात्त्विक बनानेवाले **इषः**=अन्न **वाजाय**=शक्ति की वृद्धि के लिए **सचन्ते**=प्राप्त होते हैं। यह उन्हीं अन्नों का सेवन करता है, जो अन्न इस की बुद्धि को सूक्ष्म बनाकर इसे प्रज्ञान=सम्पन्न करें तथा इस की शारीरिक शक्ति की वृद्धि का कारण हों। **रोदसी**=माता व पिता के स्थानापन्न द्युलोक व पृथिवीलोक, अर्थात् इनमें स्थित सभी प्राकृतिक शक्तियाँ इस व्यक्ति को **अधीवासं**=(अधि=उपरि) उत्कृष्ट निवास से **वावसाने**=आच्छादित करनेवाले होते हैं (वस आच्छादने, आच्छादयित्र्यौ सा०) इसके जीवन को सूर्यादि सभी देव बड़ा उत्तम बनानेवाले होते हैं। ये द्युलोक व पृथिवीलोक **मधूनाम्**=अत्यन्त मधुर जलों के सेचन से उत्पन्न हुए-हुए **घृतै अन्नै**=मलों के क्षरण व दीप्ति वाले (घृ क्षरणदीप्त्योः) अन्नों से अथवा घृतों और अन्नों से इस व्यक्ति को **वावृधाते**=खूब बढ़ाते हैं। शुद्ध जलों से उत्पन्न चारों को खानेवाली व शुद्ध जलों के पीनेवाली (सूयवसाद् भगवती हि भूयाः, शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः) गौवों के दूध से प्राप्त घी भी सात्त्विक होगा और उसके सेवन से इस प्रभु-भक्त की सब शक्तियों का ठीक ही विकास होगा।

भावार्थ—हम सत्य के मार्ग पर चलें, सात्त्विक अन्नों व घृतों का सेवन करें।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु के रूप को पाना

सप्त स्वसॄररुषीर्वावशानो विद्वान्मध्व उज्जभारा दृशे कम्।
अन्तर्येमे अन्तरिक्षे पुराजा इच्छन्वव्रिमविदत्पूषणस्य॥ ५॥

'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' इस मन्त्र वाक्य के अनुसार 'दो कान, दो नासिका छिद्र दो आँखें व मुख' में सात ऋषि हैं, जो कि प्रत्येक शरीर में प्रभु के द्वारा स्थापित किये गये हैं (सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे)। ये सातों ऋषि जब 'स्व' आत्मा की ओर सरण करनेवाले होते हैं तो ये 'स्व-सृ' कहलाते हैं। इन **सप्त स्वसॄः**=सातों स्वसाओं को **अरुषीः**=आरोग माताः=खूब

ज्ञान से दीप्त **वावशानः**-चाहता हुआ **विद्वान्**-ज्ञानी पुरुष **मध्वः**=अन्न के सारभूत मधुतुल्य इन सोमकणों को **उज्जभारा**-ऊर्ध्वगतिवाला करता है। ये सोमकण ही ज्ञानाग्नि के समिद्ध करनेवाले बनते हैं। उस समय ये सब ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान की दीप्ति से चमक जाती हैं। इस प्रकार यह ज्ञानदीप्त पुरुष **कम्**-उस आनन्दमय प्रभु को **दृशे** देखने के लिये समर्थ होता है। प्रभु का दर्शन सूक्ष्म बुद्धि से ही तो होता है 'दृश्यते त्वग्र्या बुद्ध्या सूक्ष्म्या सूक्ष्मदर्शिभिः'। इन्द्रियों से वे प्रभु ग्राह्य नहीं हैं, सूक्ष्म बुद्धि व पवित्र मन से ही प्रभु को देखना होता है (मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु)। यह विद्वान् पुरुष **अन्तःयेमे**=इन इन्द्रियों व मन को अन्दर ही नियमित करता है। यह चित्तवृत्ति का अन्तः नियमन ही 'योग' है। वशीभूत मन ही द्रष्टा को आत्मस्वरूप में स्थापित करनेवाला होता है। **अन्तरिक्षे**-यह इन्द्रियों का नियमन करनेवाला पुरुष (अन्तराक्षि) मध्यमार्ग में **पुराजाः**-आगे और आगे चलनेवाला होता है (पुरा+अज) वस्तुतः मध्यमार्ग ही मनुष्य की सब उन्नतियों का कारण बनता है। 'अति' सर्वत्र अवनति का कारण बनती है। यह मध्य मार्ग में आगे बढ़नेवाला व्यक्ति **इच्छन्**-चाहता हुआ, प्रभु प्राप्ति की प्रबल कामना करता हुआ, **पूषणस्य**-उस सबके पोषण करनेवाले प्रभु के **वव्रिम्**=रूप को **अविदत्**=प्राप्त करता है। हमें प्रभु जैसा ही बनने का प्रयत्न करना है। प्रभु 'पूषा' हैं, हमें भी औरों का पोषण करनेवाला बनना है। प्रभु के रूप को प्राप्त करने का यही अभिप्राय है।

भावार्थ—'इन्द्रियों को आत्मतत्त्व की ओर चलनेवाला बनाना, वीर्य की ऊर्ध्वगति से ज्ञानाग्नि को समिद्ध करना, इन्द्रियों व मन का अन्तर्नियमन, मध्यमार्ग में चलना' ये प्रभु प्राप्ति के साधन हैं जिनसे हम अपने को प्रभु के अनुरूप बनाते हैं।

ऋषिः-**त्रितः**॥ देवता-**अग्निः**॥ छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

सात मर्यादाएँ

स॒प्त म॒र्यादाः॑ क॒वय॑स्ततक्षु॒स्तासा॒मेका॒मिद॒भ्यं॑हु॒रो गा॑त्।
आ॒योर्ह॑ स्क॒म्भ उ॑प॒मस्य॑ नी॒ळे प॒थां वि॑स॒र्गे ध॒रुणे॑षु तस्थौ॥ ६॥

गत मन्त्र में वर्णित सप्त ऋषियों के दृष्टिकोण से **कवयः**-ज्ञानियों ने **सप्त मर्यादाः**=सात मर्यादाओं को **ततक्षुः**=बनाया है। उदाहरणार्थ—कानों के लिए यह मर्यादा बनी कि 'सुक्रतौ कर्णौ-भद्रश्रुतौ' कान सदा उत्तम बातों के ही सुननेवाले हों। वाणी के लिए यह मर्यादा हुई कि 'भद्रवाच्याय प्रेषितो मानुषः' भद्रवाणी ही बोलने के लिए मनुष्य को भेजा गया है। इस प्रकार बनी हुई **तासाम्**-उन मर्यादाओं में से **एकाम् इत्**=एक को भी **अभि अगात्**-उल्लंघन करके यदि कोई जाता है तो **अंहुरः**-वह पापी होता है। मर्यादा का उल्लंघन ही पाप है। वह व्यक्ति जो कि मर्यादा को पालने का इच्छुक होता है वह **ह**=निश्चय से **आयोः स्कम्भे**=गतिशील, अनालसी पुरुष के आधारभूत प्रभु में **तस्थौ**=स्थित होता है। अर्थात् उस प्रभु को अपना आधार जानता है, जो प्रभु श्रमशील पुरुष के सहारा देनेवाले हैं। आलसी व्यक्ति प्रभु कृपा का पात्र नहीं बनता। यह **उपमस्य**=अत्यन्त समीप स्थित हृदय रूप गुहा में प्रविष्ट उस प्रभु के **नीडे**=आश्रय में स्थित होता है। प्रभु को ही अपना निवास स्थान बनाता है। प्रभु को अपना आश्रय जान वह अभय होता है, **पथां विसर्गे**=मार्गों के प्रकाशभूत (विसर्ग=light, splendour) प्रभु में स्थित होता है। अन्तःस्थित प्रभु सदा ठीक मार्ग का प्रदर्शन करते हैं, प्रेरणा के द्वारा मार्ग का वे प्रतिपादन करते हैं। एवं प्रभु में स्थित होनेवाला व्यक्ति अपने कर्त्तव्य को भलीभान्ति जानता है। और तभी वह मर्यादाओं का पालन कर पाता है। अन्त में यह 'त्रित' **धरुणेषु**=मनुष्य का धारण करनेवाले 'मन, बुद्धि व

इन्द्रियों' में स्थित होता है, इनका वह अधिष्ठाता बनता है। इनको अपने वश में करके यह जीवनयात्रा को सुन्दरता के साथ निभाता है। जो इन्द्रियादि को अपने वश में नहीं कर पाता वह इन्हीं से पराजित होकर दोष को प्राप्त होता है।

भावार्थ—हमें सभी इन्द्रियों को वश में करके मर्यादित जीवनवाला बनना है। हम यह समझ लें कि हम पुरुषार्थी होंगे तो प्रभु हमारे मित्र होंगे, प्रभु को अपना आश्रय जानेंगे तो निर्भीक होकर कार्य करेंगे। प्रभु ही हमारे मार्गदर्शक हैं, उन्होंने हमारे धारण के लिए इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि दिये हैं।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

सृष्टि का प्रारम्भ

असच्च सच्च परमे व्योमन्दक्षस्य जन्मन्नदितेरुपस्थे।
अग्निर्ह नः प्रथमजा ऋतस्य पूर्व आयुनि वृषभश्च धेनुः॥ ७॥

सृष्टि से पूर्व प्रलयावस्था में **असत् च**=यह अव्याकृत जगत् अर्थात् कार्यरूप में न आयी हुई 'प्रकृति', **सत् च**=और सत्ता रूप से रहनेवाला प्रसुप्त-सी अवस्था में पड़ा हुआ 'जीव' ये दोनों **परमे व्योमन्**=सर्वोत्कृष्ट ज्ञान सम्पन्न प्रभु में थे। उस प्रभु में जो कि 'व्योमन्'=वी+ओम्+अन्=सर्वरक्षक होते हुए एक ओर प्रकृति को उठाये हुए हैं तो दूसरी ओर जीव को। प्रकृति 'वी' है, इसमें ही सम्पूर्ण गति होती है, यही विकृत होकर ब्रह्माण्ड के रूप में आती है और यह चमकती है, इसी के कार्यों का जीव उपभोग करता है (वी-गति प्रजनन कान्ति (वादनेषु)। जीव 'अन्' है श्वास लेता है। ये प्रकृति और जीव सदा परमात्मा के आधार से रहते हैं। ये प्रभु प्रलयकाल की समाप्ति पर सृष्टि को जन्म देते हैं जैसे एक किसान भूमि में बीज का वपन करता है, इसी प्रकार प्रभु इस प्रकृति में बीज को बोते हैं और इस ब्रह्माण्ड का जन्म होता है इस जन्म देने के कारण प्रभु 'दक्ष'='सब विकास (growth) को करनेवाले' कहलाते हैं। इस **दक्षस्य**=प्रजापति के **जन्मन्**=विकास की क्रिया को करने पर अर्थात् संसार को बनाने पर **अदितेः उपस्थे**=इस पृथ्वी की गोद में अर्थात् इस भूतल पर सब से प्रथम तो वे प्रभु थे जो कि **ह**=निश्चय से **नः**=हम सब के **अग्निः**=अग्रेणी हैं, आगे ले चलनेवाले हैं और **ऋतस्य**=इस सब सत्यविद्याओं की प्रकाशिका वेदवाणी के **प्रथमजाः**=सर्वप्रथम 'अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिराः' इस ऋषियों के हृदयों में प्रकाश करनेवाले हैं। प्रभु के अतिरिक्त इस संसार में **वृषभः च धेनुः च**=बैल व गौ अर्थात् नर व मादा, वीर्य सेचन में समर्थ 'नर' (वृषभ) तथा दूध पिलाने में समर्थ मादा (धेनुःधेट् पाने), ये जो कि **पूर्वे आयुनि**=भरपूर युवावस्था में थे। न बाल थे और ना ही वृद्ध थे। इनके जीवन में सब आवश्यक तत्त्वों का पूरण हो चुका था (पूर्व पूरणे) अतएव ये अगले सन्तानों को जन्म देने में समर्थ थे। इस प्रकार इस सृष्टि का निर्माण हुआ। 'इस सृष्टि में हमें कैसे चलना है' इस विचार से अगला सूक्त प्रारम्भ होता है।

भावार्थ—प्रभु ने हमें जन्म दिया और वेदज्ञान प्राप्त कराया। उसके अनुसार चलते हुए ही हम आगे बढ़ेंगे।

इस सूक्त के प्रारम्भ में प्रभु को सब धनों का धरुण कहा था, (१) उस प्रभु के नामों को ही हमें हृदय में धारण करना चाहिए, (२) मन में प्रभुस्मरण करते हुए सर्वहितकारी कर्मों में लगे रहना चाहिए, (३) सत्य के मार्ग पर हम चलें और इसके लिए सात्त्विक अन्नों का ही सेवन करें, (४) इन्द्रियों को आत्मतत्त्व की ओर चलनेवाला बनाएँ, (५) मर्यादाओं को तोड़ें नहीं, (६) और

वेदवाणी के अनुसार अपने जीवन को बनायें, (७) प्रभु की शरण में ही जीवन को चलायें

[६] षष्ठं सूक्तम्

ऋषिः–**त्रितः** ॥ देवता–**अग्निः** ॥ छन्दः–**आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

प्रभु की शरण में

अयं स यस्य शर्मन्नवोभिरग्नेरेधते जरिताभिष्टौ।
ज्येष्ठेभिर्यो भानुभिर्ऋषूणां पर्येति परिवीतो विभावा॥ १॥

अयम् ये प्रभु **स** वे हैं **यस्य अग्नेः** जिस अग्रेणी प्रभु के **अवोभिः**–रक्षणों से **शर्मन्** अपने गृह में अथवा आनन्द में (शर्म सुखानि) **एधते** वृद्धि को प्राप्त करता है। प्रभु के रक्षण ही हमारा वर्धन करनेवाले हैं, प्रभु के रक्षण से दूर होते ही हम विनष्ट होते हैं। 'वृद्धि कौन प्राप्त करता है?' इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि **जरिता**–स्तोता। प्रभु के गुणों के स्तवन करनेवाला वृद्धि को प्राप्त करता है। यह गुणस्तवन उसके सामने सदा एक ऊँचे लक्ष्य को उपस्थित करता है। **अभिष्टौ**=(यागे कृते) यज्ञों के होने पर ही हम वृद्धि को प्राप्त करते हैं। प्रभु का स्तवन करते हुए, प्रभु के आदेशानुसार, जब हम यज्ञों में प्रवृत्त होते हैं तभी हमारी वृद्धि होती है। वृद्धि को वह प्राप्त करता है **यः**=जो कि **ज्येष्ठेभिः भानुभिः**=उत्कृष्ट ज्ञानदीप्तियों को प्राप्त करने के हेतु से **ऋभूणां**=तत्त्व द्रष्टा ज्ञानियों को **पर्येति**=परिक्रमा करता है, उनको आदर देता हुआ उनके चरणों में उपस्थित होता है। एवं यह 'स्तोता, यज्ञशील, ज्ञानियों का उपासक' वृद्धि को प्राप्त करता है, और **परिवीतः**=ज्ञान से परिवृत हुआ-हुआ, ज्ञानियों के सम्पर्क से खूब ज्ञान को प्राप्त हुआ-हुआ यह **विभावा**=विशिष्ट ही दीप्ति वाला होता है। इस ब्रह्मनिष्ठ पुरुष की भान्ति अद्भुत ही होती है, यह प्रभु के तेज के अंश से चमक रहा होता है, प्रभु सा बन गया होता है (ब्रह्म इव)।

भावार्थ—हम स्तोता-यज्ञशील ज्ञानियों के सम्पर्क में रहनेवाले, ज्ञान से परिवृत बनकर प्रभु के रक्षणों से निरन्तर वृद्धि को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः–**त्रितः** ॥ देवता–**अग्निः** ॥ छन्दः–**विराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः–**पञ्चमः** ॥

ज्ञानदीप्ति व क्रियाशीलता

यो भानुभिर्विभावा विभात्यग्निर्देवेभिर्ऋतावाजस्रः।
आ यो विवाय सख्या सखिभ्योऽपरिह्वृतो अत्यो न सप्तिः॥ २॥

'गत मन्त्र के अनुसार जो व्यक्ति प्रभु के रक्षण में चलता है वह कैसा बनता है?' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि **यः**–जो **भानुभिः**=ज्ञान की दीप्तियों से **विभाव**–विशेष रूप से ही दीप्तिमान् होता है, **अग्निः**=गतिशील होता हुआ **देवेभिः**=सब दिव्यगुणों से **विभाति**=सुभूषित जीवनवाला होता है। **ऋतावा**=यह सदा ऋत का रक्षण व पालन करता है, इसका कोई भी कार्य अनृत को लिये हुए नहीं होता। **अजस्रः**–यह सतत कार्यों को करनेवाला होता है, 'निरग्नि व अक्रिय' नहीं हो जाता, क्रियाशील बना रहता है। **वह**–जो **सख्या**=उस सखिभूत परमात्मा के साथ **आविवाय**=अपने कर्त्तव्यों की ओर जानेवाला होता है। प्रभु का स्मरण करता है और कर्मशील होता है। अपने लिये इसे कुछ करने को नहीं भी होता तो भी **सखिभ्यः**–अपने मित्रों के कार्यों के लिये यह **अपरिह्वृतः**– अपरिहिंसित व अपरिक्रान्त होता है। उनके हितसाधन को करता हुआ यह थक नहीं जाता। अनथक रूप से कार्य में उसी प्रकार सदा प्रवृत्त रहता है जैसे कि उसका पिता प्रभु 'स्वाभाविक क्रिया' वाला है। यह इस प्रकार क्रियाशील होता है **न**=जैसे **अत्यः**=एतत

गमनशील **सप्तिः**-घोड़ा। घोड़ा खूब गतिशील है, 'अनध्वा वाजिनां जरा' मार्ग पर न चलना पड़े तो घोड़ा शीघ्र बूढ़ा हो जाता है। इसी प्रकार इस प्रभु-भक्त को भी अ-क्रिया निर्बल करती प्रतीत होती है, वह क्रिया में ही शक्ति का अनुभव करता है।

भावार्थ—उत्कृष्ट ज्ञान की तेजस्विता व क्रियाशीलता ही मनुष्य के जीवन को आदर्श बनाती हैं।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

अरिष्ट-रथ

ईशे यो विश्वस्या देववीतेरीशे विश्वायुरुषसो व्युष्टौ।
आ यस्मिन्मना हवींष्यग्नावरिष्टरथः स्कभ्नाति शूषैः॥ ३॥

गत मन्त्र के ही प्रकरण को ही आगे कहते हैं कि प्रभु की शरण में रहनेवाला वह है **यः**=जो **विश्वस्याः**=सम्पूर्ण **देववीतेः**=दिव्यगुणों की प्राप्ति का **ईशे**=ईश होता है, अर्थात् सब दिव्यगुणों को प्राप्त करने में समर्थ होता है। **उषसः व्युष्टौ**=उषःकाल के उदित होने पर **विश्वायुः**-पूर्ण जीवनवाला बना हुआ यह 'त्रित' (मन्त्र का ऋषि) **ईशे**=उन दिव्यगुणों की प्राप्ति के लिए सामर्थ्यवान् होता है। वस्तुतः यह त्रित उषःकाल में अवश्य प्रबुद्ध होकर, पवित्र भावना से प्रभु के स्वागत के लिए उद्यत होता है। ये प्रभु प्रातः आते हैं और जब हम इनका स्वागत करते हैं तो ये हमें द्युमत्तम रयि=अत्यन्त ज्योतिर्मय धनों को प्राप्त कराते हैं। **यस्मिन् अग्नौ**=जिस प्रगतिशील व्यक्ति के जीवन में **मना**-मननीय, ज्ञान को बढ़ानेवाली, बुद्धि की मननशक्ति को दीप्त करनेवाली **हवींषि आ** (हुतानि)=हवियाँ आहुत होती हैं, अर्थात् जो सदा त्याग पूर्वक उपभोग करता है, दूसरे शब्दों में अमृत (यज्ञशेष) का सेवन करता है वह **अरिष्टरथः**=अहिंसित शरीर वाला होता हुआ **शूषैः**=शत्रुओं के शोषक बलों से **स्कभ्नाति**=सब अशुभ वासनाओं के आक्रमणों को रोक देता है। अर्थात् सात्त्विक अन्न के सेवन से तथा यज्ञशेष के रूप में भोजन करने से इसकी बुद्धि व मनोवृत्ति भी बड़ी सात्त्विक बनी रहती हैं और यह वासनाओं से आक्रान्त नहीं होता।

भावार्थ—सात्त्विक यज्ञशिष्ट भोजन हमें सब दिव्यगुणों की प्राप्ति के योग्य बनाता है।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

संमिश्ल

शूषेभिर्वृधो जुषाणो अर्कैर्देवाँ अच्छा रघुपत्वा जिगाति।
मन्द्रो होता स जुह्वा३ यजिष्ठः संमिश्लो अग्निरा जिघर्ति देवान्॥ ४॥

गत मन्त्र में वर्णित **शूषेभिः**-शत्रु शोषक बलों से **वृधः**=सदा बढ़नेवाला यह बनता है। वासनाओं का शोषण करके यह सब दृष्टिकोणों से उन्नत होता है। इसकी शरीर की शक्तियों का क्षय नहीं होता, मानस पवित्रता बनी रहती है, और इसका मस्तिष्क खूब उज्ज्वल बनता है। एवं यह इन 'शूषों' से शत्रुओं का शोषण करता हुआ उन्नत ही उन्नत होता चलता है। उन्नत होकर यह **अर्कैः**=अर्चना के साधनभूत मन्त्रों से **जुषाणः**=प्रीति पूर्वक प्रभु का उपासन करता है। यह प्रभु का उपासन ही तो वस्तुतः उस शत्रुशोषक बल को प्राप्त कराता है और उस बल के अभिमान से भी बचाता है। इस प्रकार दिव्य उन्नति के साथ नम्र बना हुआ यह **रघुपत्वा**=(लघुगमनः) शीघ्रगतिवाला, अर्थात् कर्मों में आलस्य शून्य हुआ-हुआ **देवाँ अच्छा**-दिव्यगुणों की ओर **जिगाति**=जाता है। यह दिव्यगुणों को प्राप्त करता है। **मन्द्रः**=सदा आनन्दमय स्वभाव वाला होता

है, **होता**-सदा दानपूर्वक अदन करता है, यज्ञशेष को खाता है और **जुह्वा यजिष्ठः**-चम्मच से अथवा दान पूर्वक अदन की वृत्ति से उत्तम यष्टा बनता है, इसका जीवन यज्ञशील होता है। इस प्रकार सुन्दर जीवनवाला बनकर यह **संमिश्लः**-सब के साथ मिलकर चलता है, मिलनसार स्वभाव वाला होता है, औरों के सुख दु:ख में हिस्सा बटाता है। इस प्रकार **अग्नि** यह प्रगतिशील जीव **देवान्**-दिव्यगुणों वाले ज्ञानी विद्वानों को **आजिघर्ति** (आहारयति) अपने घर पर प्राप्त कराता है। इस प्रकार इसका यह अतिथियज्ञ चलता है और यह उन अतिथियों की सत्प्रेरणा से सदा सुन्दर जीवनवाला बना रहता है।

भावार्थ—शत्रुशोषक बलों से चलनेवाला यह सदा आनन्दमय स्वभाव वाला व यज्ञशील तथा मिलनसार होता है।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

गीर्भिः नमोभिः

तमुस्त्रामिन्द्रं न रेजमानमग्निं गीर्भिर्नमोभिरा कृणुध्वम्।
आ यं विप्रासो मतिभिर्गृणन्ति जातवेदसं जुह्वं सहानाम्॥ ५॥

तम्-उस परमात्मा को जो **उस्त्राम्**-(भोगानाम् उत्स्राविणं दातारं सा०) सब भोग्य पदार्थों के देनेवाले हैं, **इन्द्रम्** परमैश्वर्यशाली हैं, **न रेजमानम्**=कम्पित होनेवाले नहीं हैं, कूटस्थ व निर्विकार है, अर्थात् मनुष्यों की तरह उनकी मित्रता टूट जानेवाली नहीं, **अग्निम्**=जो अग्रेणी हैं, उस प्रभु को **गीर्भिः**-वेद वाणियों के द्वारा तथा **नमोभिः** नम्रता के द्वारा **आकृणुध्वम्**-अपने अभिमुख करने का प्रयत्न करो, अपनाने के लिये यत्नशील होवो। **यं**-जिस परमात्मा को **विप्रासः**-अपना विशेष रूप से पूरण करनेवाले ज्ञानी लोग **मतिभिः**-मननीय स्तोत्रों के द्वारा **गृणन्ति**=साधना करते हैं, अर्थात् बुद्धिमत्ता से प्रभु का स्तवन करते हुए उसके गुणों को ही अपने जीवन का लक्ष्य बनाते हैं। उस '**जातवेदसम्**'=जातवेदस् को वे स्तुत करते हैं, जो सर्वव्यापक है (जाते जाते विद्यते) सर्वज्ञ है (जातं जातं वेत्ति) तथा सम्पूर्ण धनों को उत्पन्न करनेवाला है (जातं वेदो यस्मात्, वेदस्-wealth)। तथा उस 'सहानां जुह्वम्' की वे स्तुति करते हैं जो शत्रुओं के मर्षण करनेवाले बलों को देनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु को ज्ञान वाणियों व नम्रता से अपनाने का प्रयत्न करना चाहिए। वे प्रभु ही सम्पूर्ण धनों के स्वामी हैं व सब आवश्यक भोग्य पदार्थों को देनेवाले हैं।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

सब धनों के निधान 'प्रभु'

सं यस्मिन्विश्वा वसूनि जग्मुर्वाजे नाश्वाः सप्तीवन्त एवैः।
अस्मे ऊतीरिन्द्रवाततमा अर्वाचीना अग्न आ कृणुष्व॥ ६॥

प्रभु वे हैं **यस्मिन्**-जिन में **विश्वा वसूनि**-सम्पूर्ण धन **संजग्मुः**-संगत होते हैं। सब धनों के आधार वे प्रभु ही हैं **न**=उसी प्रकार जैसे कि **वाजे**-संग्राम में **सप्तीवन्तः अश्वाः**=सर्पणशील घोड़े **एवैः**=अपने गमनों से संगत होते हैं। संग्राम में विजय इन घोड़ों पर ही निर्भर है, इसी प्रकार जीवन संग्राम में भी विजय धनों पर निर्भर होती है। धन अश्वों के समान हैं, अश्वों से संग्राम में विजय मिलती है, धन से संसार में। पर अश्वारोहियों से अधिष्ठित अश्व ही संग्राम में जीतते हैं, इसी प्रकार हम भी धनों पर अधिष्ठित होंगे, धनों के स्वामी होंगे तभी धन हमें विजय प्राप्त

करायेंगे। हम धनों के गुलाम बन जाएँगे तो इन धनों से कुचले जाएँगे। 'एवैः' शब्द इस बात की भी संकेत करता है कि धन वही ठीक है जो कि गतिमय है, जिसको हम यज्ञादि में विनियुक्त करके देवों में प्राप्त कराते रहते हैं। ठहरे हुए घोड़े ने विजय नहीं प्राप्त करनी होती इसी प्रकार तहखानों में बन्द धन हमें विजयी न बनाएगा। हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **इन्द्रवाततमाः**-उस परमैश्वर्य वाले प्रभु की ओर ले चलनेवाले **ऊतीः**-रक्षणों को **अस्मे अर्वाचीनाः**=हमारे अभिमुख प्राप्त होनेवाले **आकृणुष्व**-सर्वथा करिये। हम आपके रक्षण को प्राप्त करके संसार के विषयों की ओर जानेवाले न हों, हमारा झुकाव हे प्रभो! आपकी ओर ही हो। आपको प्राप्त करने पर ये धन तो मिले मिलाये ही हैं, क्योंकि इन धनों के स्वामी तो आप ही हैं।

भावार्थ—हम प्रभु को प्राप्त करें, प्रभु प्राप्ति में सब धनों की प्राप्ति हो ही जाती है। प्रभुरक्षण के प्राप्त होने पर हम इन धनों में फँस नहीं जाते।

ऋषिः-**त्रितः**॥ देवता-**अग्निः**॥ छन्दः-**पादनिचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

प्रथमास ऊमाः

अधा ह्य॑ग्ने म॒ह्ना नि॒षद्या॑ स॒द्यो ज॑ज्ञा॒नो हव्यो॑ ब॒भूथ॑।
तं ते दे॒वासो॒ अनु॒ केत॑माय॒न्नधा॑वर्धन्त प्रथ॒मास॒ ऊमाः॑॥ ७॥

हे **अग्ने**=परमात्मन्! **अधाहि**=अब ही, अर्थात् गतमन्त्र के अनुसार आप का रक्षण प्राप्त करने पर ही, **मह्ना**=अपनी महिमा से **निषद्या**=हमारे हृदयों में आसीन होकर **सद्यः**=शीघ्र ही **जज्ञानः**-प्रादुर्भूत होते हुए आप **हव्यः**-हमारे से पुकारे जाने योग्य **बभूथ**-होते हैं। जब हम आपके रक्षणों को प्राप्त करते हैं तब अपने हृदयों को निर्मल करके उन्हें आपके बैठने योग्य बनाते हैं। वहाँ हम आपके दर्शन करते हैं, और उसी प्रकार आपको पुकारते हैं जैसे कि एक पुत्र पिता को। **देवासः**-देव वृत्ति के लोग **ते**-आपके **तं केतम् अनु आयन्**-उस ज्ञान के अनुसार गति करते हैं, अर्थात् आपके वेदज्ञान को प्राप्त करते हैं और उसे जीवन में अनूदित करने का प्रयत्न करते हैं (translate into action)। वस्तुतः जो व्यक्ति इस वेदज्ञान को जीने का प्रयत्न करते हैं वे ही 'देव' बनते हैं। **अधा**=अब, अर्थात् वेद ज्ञान को प्राप्त करने व उसे जीवन में अनूदित करने के बाद ये लोग **प्रथमासः ऊमाः**=प्रथम श्रेणी के रक्षकों के रूप में **अवर्धन्त**=बढ़ते हैं। अर्थात् ये प्रजाओं के उत्तम रक्षक बनते हैं। इनका जीवन अभाव व प्रयोग दोनों (theoretical and practical) में निपुण बनकर प्रजा का अधिक कल्याण सिद्ध कर पाता है। लोग इनके मुखों से बातों को सुनते हैं, उन बातों को ही वे उनके जीवन में देख भी पाते हैं। एवं वे बातें वास्तविक प्रभाव को पैदा करती हैं।

भावार्थ—ज्ञानी लोग हृदय को पवित्र करके उसे प्रभु का निवास बनाते हैं। प्रभु के ज्ञान के अनुसार चलते हैं और प्रजा को शास्त्रीय व विमाता के ज्ञान देनेवाले बनकर प्रजा का रक्षण करते हैं।

सूक्त का प्रारम्भ प्रभु-रक्षण में वृद्धि के प्राप्ति से होता है, (१) हमें उत्कृष्ट ज्ञान की तेजस्विता व क्रियाशीलता प्राप्त होती है, (२) सब दिव्य गुणों को प्राप्त कर के हम 'अरिष्ट-रथ' बनते हैं, (३) शत्रु शोधक बलों से बढ़ते हुए हम सब के साथ मिलजुलकर चलते हैं, (४) उस प्रभु को ही सम्पूर्ण धनों का स्वामी जानते हैं, (५) सब धन उन्हीं में तो संगत हो रहे हैं, (६) इस प्रभु को हम अपने हृदयों में बिठाने का यत्न करते हैं। ऐसा करने पर ही हम उत्तम स्थिति को प्राप्त करेंगे—

[७] सप्तमं सूक्तम्

ऋषिः—त्रितः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः धैवतः॥

पूर्ण जीवन

स्वस्ति नो दिवो अग्ने पृथिव्या विश्वायुर्धेहि यजथाय देव।
सचेमहि तव दस्म प्रकेतैरुरुष्या ण उरुभिर्देव शंसैः॥ १॥

हे **अग्ने** अग्रेणी प्रभो! **नः**-हमें **दिवः** द्युलोक के दृष्टिकोण से तथा **पृथिव्याः**=पृथिवी के दृष्टिकोण से **स्वस्ति**-उत्तम स्थिति प्राप्त हो। द्युलोक ही यहाँ शरीर में मस्तिष्क है, पृथिवी यह स्थूल शरीर है। हमारा मस्तिष्क भी उच्च स्थिति में हो और हमारा यह शरीर भी पूर्ण नीरोग हो। हे **देव**-सब आवश्यक पदार्थों के देनेवाले प्रभो! **यजथाय**-यज्ञशील के लिये **विश्वायुः धेहि**-पूर्ण जीवन को धारण करिये। यज्ञशील पुरुष के 'शरीर, मन व मस्तिष्क' सभी बड़े सुन्दर होते हैं। और इनके सुन्दर होने पर हमारी यज्ञ की शक्ति बढ़ती है। हे **दस्म** काम-क्रोधादि सब शत्रुओं को नष्ट करनेवाले प्रभो! हम **तव प्रकेतैः** आप के प्रकृष्ट ज्ञानों से **सचेमहि** सम्पृक्त हों। हमें सब उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त हों। हे **देव**=सब दिव्यगुणों के पुञ्ज व सब ज्ञानों से दीप्त प्रभो! आप **उरुभिः शंसैः**-विशाल शंसनों के द्वारा, हमारे हृदयों को उदार व विशाल बनानेवाली प्रेरणाओं के द्वारा **नः उरुष्य** हमारा रक्षण कीजिए। वेद के सब उपदेश हमें बड़ा उदार बनानेवाले हैं, उनके अनुसार 'अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते संभ्रातरो वावृधुः सौभगाय'-न कोई छोटा है न बड़ा, सब भाई हैं और उन्हें सौभाग्य के लिए बढ़ना है। 'भूमिः माता पुत्रोहं पृथिव्याः' 'यह भूमि ही मेरी माता है, मैं पृथिवी का पुत्र हूँ' ये भावना हमें देश की संकुचित सीमा से भी ऊपर उठानेवाली है। 'अयुतोहं' 'मैं सब के साथ हूँ, अपृथक् हूँ' यह भाव हमें सभी में एकत्व दर्शन करानेवाला है।

भावार्थ—हमारा मस्तिष्क व शरीर स्वस्थ हो। पूर्ण जीवन वाले होकर हम यज्ञशील हों। प्रभु के ज्ञान को प्राप्त करें, उदार बनें।

ऋषिः—त्रितः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

प्रभुस्मरण पूर्वक 'प्रकृति पदार्थ प्रयोग'

इमा अग्ने मतयस्तुभ्यं जाता गोभिरश्वैरभि गृणन्ति राधः।
यदा ते मर्तो अनु भोगमानड्वसो दधानो मतिभिः सुजात॥ २॥

हे **अग्ने**=परमात्मन्! **इमाः मतयः** ये मेरी बुद्धियाँ **तुभ्यम्**=आपके लिए अर्थात् आपके दर्शन के लिए **जाताः**=विकसित हो गई हैं। प्रभु का दर्शन इन बुद्धियों से ही तो होना है 'दृश्यते त्वग्र्या बुद्ध्या'। इस संसार में विचारशील पुरुष **गोभिः**-ज्ञानेन्द्रियों से तथा **अश्वैः**-कर्मेन्द्रियों से **राधः**=सब कार्यों के साधक आपका ही (राध् असुन् नपुंसक) **अभिगृणन्ति**-स्तवन करते हैं। 'गमयन्ति अर्थान् इति गावः' इस व्युत्पत्ति से 'गौः' ज्ञानेन्द्रियों का वाचक है, तथा 'अश्नुव ते कर्मसु' इस व्युत्पत्ति से 'अश्व' शब्द कर्मेन्द्रियों का ज्ञान की वाणियों का स्वाध्याय यह ज्ञानेन्द्रियों से प्रभु का पूजन है, तथा यज्ञात्मक कर्मों में लगे रहना कर्मेन्द्रियों से प्रभु-पूजन है। **यदा**-जब **मर्तः**-मनुष्य **ते अनु**-तेरे स्मरण के पश्चात् **भोगम्**-भोग्य पदार्थों को **आनट्**-प्राप्त करता है व भोगता है तो वह पुरुष हे **वसो**-उत्तम निवास के देनेवाले प्रभो! **सुजात**-उत्तम विकास वाले प्रभो! **मतिभिः दधानः**-बुद्धियों से धारण किया जाता है। अर्थात् इसकी बुद्धियाँ उन विषयों में न फँसकर अविकृत

बनी रहती हैं और इसका धारण करनेवाली होती हैं। प्रभु को भूलकर जब हम इन सांसारिक विषयों में जाते हैं तो उनमें प्राय: आसक्त हो जाते हैं। परिणामत: हमारी बुद्धि भी वासना के पर्दे से आवृत होकर मन्द प्रकाश वाली हो जाती है और यह हमें प्रभु दर्शन तो दूर रहा, संसार का स्वरूप भी ठीक रूप से नहीं दिखा पाती। इस प्रकार यह बुद्धि उस समय हमारा धारण नहीं कर रही होती।

भावार्थ—वेद के 'उरुशंसों' को सुनकर हमारी बुद्धि ठीक रूप में विकसित होती है और हमें प्रभुदर्शन के योग्य बनाती है, यह हमारा ठीक रूप में धारण करती है।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

पिता, मित्र, भाई व सखा

अ॒ग्निं म॑न्ये पि॒तर॑म॒ग्निमा॒पिम॒ग्निं भ्रात॑रं॒ सद॒मित्सखा॑यम्।

अ॒ग्नेरनी॑कं बृह॒तः स॑पर्यं दि॒वि शु॒क्रं य॑ज॒तं सूर्य॑स्य॥ ३॥

गतमन्त्र के अनुसार प्रभुस्मरण पूर्वक भोग्य पदार्थों के सेवन से जब हमारी बुद्धि अविकृत होकर हमारा धारण करनेवाली होती है तो उस समय संसार को ठीक रूप में देखने के कारण हम **अग्निम्**-उस अग्रेणी प्रभु को ही **पितरं मन्ये**-पिता मानते हैं, वस्तुत: सदा पिता व रक्षक तो वे प्रभु ही हैं। इन सांसारिक पिताओं के द्वारा भी वे प्रभु ही हमारा रक्षण कर रहे होते हैं। **अग्निम्**-उस अग्नि को ही **आपिं मन्ये**=सब आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त करानेवाला मित्र जानता हूँ। **अग्निम्**-उस अग्नि को ही **भ्रातरम्** मैं भ्राता समझता हूँ और इसके अतिरिक्त उस प्रभु को ही **सदम् इत्**=सदा ही साथ देनेवाला **सख्याम्**=सखा जानता हूँ। हमारे ये सब सम्बन्ध वास्तविकरूप में उस प्रभु के ही साथ हैं, सांसारिक सम्बन्ध तो केवल व्यावहारिक दृष्टिकोण से ही महत्त्व रखते हैं, इनमें पूर्ण सत्यता नहीं है। मैं उस **बृहतः**=सब वृद्धियों के कारणभूत **अग्नेः**=अग्नि नामक प्रभु के **अनीकम्**=बल को **सपर्यम्**=पूजता हूँ जो बल **दिवि सूर्यस्य**=द्युलोक में स्थित सूर्य के तेज के समान है **शुक्रम्**-यह तेज हमारे जीवनों को शुद्ध व दीप्त तो बनाता ही है, इसी कारण यह **यजतम्**=संगतिकरण योग्य है। वेद में ब्रह्म को स्थान स्थान में सूर्य से उपमित करने का प्रयत्न है, 'ब्रह्म सूर्यसमं-ज्योतिः'। सूर्य ज्योति हमारे शरीरों को नीरोग करती है तो ब्रह्म ज्योति हमारे मानसों को निर्मल व दीप्त कर देती है।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे वास्तविक पिता, मित्र, भाई व सखा हैं। उनका तेज महान् है, आकाश में सूर्य के समान दीप्त व संगतिकरण योग्य है।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

बुद्धि का साधन

सि॒ध्रा अ॑ग्ने॒ धियो॑ अ॒स्मे सनु॑त्री॒र्यं त्राय॑से॒ दम॒ आ नित्य॑होता।

ऋ॒तावा॒ स रो॒हिद॑श्वः पुरु॒क्षुर्द्युभि॑रस्मा॒ अह॑भिर्वा॒मम॑स्तु॥ ४॥

हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **अस्मे**-हमारे लिये **सुनुत्रीः**-सदा संविभाग करनेवाली **धियः**-बुद्धियों को **सिध्राः**-सिद्ध करिये। वस्तुत: प्रभु हमारा रक्षण इसी प्रकार करते हैं कि वे हमें संविभाग वाली बुद्धि प्रदान करते हैं। देवों ने जिसका भी रक्षण करना होता है वे उसकी बुद्धि को स्वस्थ बना देते हैं। बुद्धि का नाम 'मेधा' है 'में' मेरा 'धा' धारण करनेवाली। हे प्रभो! **आप यं**=जिस भी पुरुष को **त्रायसे**=रक्षित करते हैं वह **दमे**=इस शरीर रूप गृह में **नित्यहोता**=सदा होता=दानपूर्वक अदन करनेवाला बनता है। यह 'नित्यहोतृत्व' ही वस्तुत: उसका प्रभु-पूजन होता है और इसी के

कारण वह विषयों में न फँसकर अपना रक्षण भी कर पाता है। यह धी-सम्पन्न व्यक्ति **ऋतावा**-ऋत का अवन-रक्षण करता है। इसका जीवन सत्य-सम्पन्न होता है। इसके जीवन में सब क्रियाएँ ठीक समय व ठीक स्थान पर होती हैं। **स**-वह **ऋतावा 'रोहिदश्वः'**-वृद्धिशील इन्द्रियरूप अश्वों वाला होता है। इसकी इन्द्रियों की शक्तियाँ क्षीण नहीं होती। यह **पुरुक्षुः**-बहुत अन्न वाला होता है अर्थात् इसे अन्न की कमी नहीं होती और यह अन्न का खूब पाचन कर सकता है। अथवा यह पालक व पूरक (पृ पालनपूरणयोः) अन्न वाला होता है। यह उसी सात्त्विक अन्न का सेवन करता है जो अन्न कि इसके शरीर व मन में कमी को नहीं आने देता। इस प्रकार सात्त्विक अन्न का सेवन करते हुए **अस्मा**-इसके लिये **द्युभिः अहभिः**-दिन-दिन से अर्थात् प्रतिदिन **वामम् अस्तु**-सौन्दर्य ही सौन्दर्य हो। अर्थात् इसके जीवन में दिनदूनी रात चौगुणी उन्नति हो। यह सदा फलता-फूलता चले, इसके जीवन का मार्ग उन्नति का ही हो।

भावार्थ—हमें संविभाग बल और बुद्धि प्राप्त हो, इस बुद्धि का प्राप्त करके हम होता बनें, ऋत का पालन करते हुए इन्द्रियशक्ति को क्षीण न होने दें। पालक व पूरक अन्न का सेवन करते हुए दिन व दिन उन्नति-पथ पर आगे बढ़ें।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

(अध्वर का जार) प्रेय+श्रेय

द्युभिर्हितं मित्रमिव प्रयोगं प्रत्नमृत्विजमध्वरस्य जारम्।
बाहुभ्यामग्निमायवोऽजनन्त विक्षु होतारं न्यसादयन्त॥ ५॥

गतमन्त्र के सात्त्विक अन्नों का सेवन करनेवाले व्यक्ति **आयवः**=(एति) गतिशील पुरुष **अग्निं**-उस अग्रेणी प्रभु को **अजनन्त**-अपने हृदयों में प्रादुर्भूत करते हैं और उन पवित्र हृदयों में **न्यसादयन्त**-इस प्रभु को बिठाते हैं, जो प्रभु **द्युभिः हितम्**-ज्ञान की ज्योतियों से स्थापित किया जाता है। अर्थात् प्रभु का प्रकाश बुद्धि की सूक्ष्मता का संपादन करके ज्ञान के वर्धन से ही होता है। **मित्रम् इव प्रयोगम्**-वे प्रभु सदा सच्चे स्नेही की तरह प्रकृष्ट मेल वाले हैं। मित्रता का उत्कर्ष स्वार्थ की क्षीणता के अनुपात में होता है। प्रभु का स्वार्थ क्योंकि शून्य है, तो प्रभु की मित्रता पूर्ण है। प्रभु की मित्रता में कभी टूट जाने का भय नहीं। वे प्रभु **प्रत्नम् ऋत्विजम्**=सनातन ऋत्विज हैं। उस-उस ऋतु में ऋतु के अनुकूल पदार्थों का हमारे साथ संगतिकरण करनेवाले हैं। **अध्वरस्य जारम्**-हमारे से किये जानेवाले हिंसा शून्य लोकहितकारी यज्ञात्मक कर्मों के (समापयितारम्) अन्त तक पहुँचानेवाले हैं। प्रभु कृपा से ही सब यज्ञ पूर्ण हुआ करते हैं। **विक्षु होतारम्**=प्रजाओं में सब आवश्यक पदार्थों के प्राप्त करानेवाले हैं प्रभु ही संसार के सब पदार्थों का हमारी उन्नति के लिये निर्माण करते हैं। इस प्रभु को **आयवः**=प्रगतिशील पुरुष अपने हृदयों में प्रकाशित व स्थापित करते हैं। किस प्रकार? **बाहुभ्याम्**-प्रयत्नों से। वह द्विवचन का प्रयोग यह संकेत कर रहा है कि हमारे प्रयत्न केवल शारीरिक उन्नति के लिये न होकर बौद्धिक उन्नति के लिये भी हों। ये प्रयत्न प्रेय व श्रेय दोनों के साधक हों, इनमें इहलोक व परलोक दोनों का स्थान हो, ये अभ्युदाय व निःश्रेयस दोनों की प्राप्ति के लिए हों। हमारे प्रयत्न प्रकृति व परमात्मा को दोनों को प्राप्त करने के दृष्टिकोण से हो। उनमें प्रकृति विद्या व आत्मविद्या दोनों का स्थान हो। वे व्यक्तिवाद व समाजवाद दोनों दृष्टिकोणों से किये जाएँ।

भावार्थ—वे प्रभु ज्ञान के प्रकाश में दिखते हैं, सच्चे मित्र हैं, सनातन काल से सब कुछ दे रहे हैं, हमारे यज्ञों को पूर्ण करनेवाले हैं। प्रजाओं को सब कुछ देनेवाले हैं। इन प्रभु को प्राप्त

करने के लिये हमें प्रेय व श्रेय दोनों के लिए प्रत्नशील होना है।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

देवों व महादेव का यजन

स्वयं यजस्व दिवि देव देवान् किं ते पाकः कृणवदप्रचेताः।
यथायज ऋतुभिर्देव देवानेवा यजस्व तन्वं सुजात॥ ६॥

प्रभु से जीव प्रार्थना करता है कि हे **देव**=सब दिव्यगुणों के पुञ्ज, दीप्ति वाले द्योतित करनेवाले प्रभो! आप **स्वयं**-अपने आप ही **दिवि**=ज्ञान के प्रकाश में रहनेवाले **देवान्**=देवों को, दिव्यगुणों को **यजस्व**=हमारे साथ संगत करिये। 'दिव्यगुणों का वास' ज्ञान के प्रकाश के ही साथ है। ज्ञान होने पर ही दिव्यगुण पनपते हैं। हे प्रभो! **ते पाकः**=आपका यह पक्तव्य प्रज्ञा वाला **अप्रचेताः**=नासमझ शिष्य **किं कृणवत्**-क्या कर सकता है? अर्थात् प्रभु से अनधिष्ठित जीव में तो कोई शक्ति ही नहीं। हे **देव**=सब दिव्यताओं के अधिष्ठान प्रभो! **यथा**=जैसे **ऋतुभिः**=समय-समय पर **देवान् अयजः**=अपने दिव्य गुणों से हमारा सम्पर्क किया है, **एवा**=इसी प्रकार से **सुजात**=(शोभनं जातं यस्मात्) शोभन विकास को प्राप्त करानेवाले प्रभो! आप **तन्वम्**=(आत्मानम् अपि) अपने को भी **यजस्व**=हमारे साथ संगत करिये। अर्थात् हमारे साथ जहाँ देवों का यजन हो, वहाँ उस महादेव प्रभु का भी यजन हो। हम दिव्यगुणों को प्राप्त करते हुए प्रभु को पानेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु कृपा से परिपक्व प्रज्ञा वाले 'प्रचेता' बनकर हम देवों व महादेव के सम्पर्क में निवास करनेवाले बनें।

ऋषिः—**त्रितः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अविता व गोपाः

भवा नो अग्नेऽवितोत गोपा भवा वयस्कृदुत नो वयोधाः।
रास्वा च नः सुमहो हव्यदातिं त्रास्वोत नस्तन्वोऽ३ अप्रयुच्छन्॥ ७॥

हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **नः**=हमारे **अविता भवा**=रक्षक होइये आपकी कृपा से हमारे शरीरों में किसी प्रकार के रोग न आएँ। **उत**=और **गोपाः भवा**=आप हमारी इन्द्रियों के रक्षक होइये। 'गावः इन्द्रियाणि' गौवें इन्द्रियाँ हैं, प्रभु उन इन्द्रियों रूप गौवें के 'गोपा' हैं, उनकी रक्षा करनेवाले हैं। प्रभु कृपा से ये इन्द्रियाँ विषयपङ्क में नहीं फँसती हैं। इस प्रकार रोगों से व विषयों से बचाकर प्रभो! आप **वयस्कृत्**=हमारे उत्कृष्ट जीवन को करनेवाले होइये **उत**=और **नः**=हमारे में **वयोधाः**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करिये। 'वयस्' शब्द का अर्थ 'अन्न' भी है। आप उत्तम अन्न को करनेवाले व हमारे लिये उत्तम अन्न को धारण करनेवाले होइये। **च**=और हे **सुमहः**=उत्तम तेजस्विता वाले प्रभो! **नः**=हमें **हव्यदातिम्**=हव्य के देने को **रास्व**=प्राप्त कराइये। हम सदा हव्य को देकर बचे हुए को ही खानेवाले हों। **उत**=और इस हव्य को देकर यज्ञशेष के खाने की वृत्ति को उत्पन्न करके **अप्रयुच्छन्**=किसी प्रकार का प्रमाद न करते हुए **नः तन्वः**=हमारे शरीरों को **त्रास्व**=रक्षित कीजिये। यज्ञशेष का सेवन हमें भोगवृत्ति से बचाता है और इस प्रकार हमारे शरीरों को रोगों का शिकार नहीं होने देता।

भावार्थ—प्रभु हमारे रक्षक हैं। वे हमें उत्कृष्ट अन्न व जीवन प्राप्त कराते हैं। प्रभु ही हमें हव्य के देने की प्रवृत्ति वाला करते हैं और हमें भोगवाद का शिकार नहीं होने देते।

सूक्त का प्रारम्भ 'विश्वायु बनने से होता है, (१) विश्वायु बनने के लिये हम प्रभुस्मरण पूर्वक

ही प्रकृति के पदार्थों का प्रयोग करें, (२) वे प्रभु ही हमारे पिता, मित्र, भाई व सखा हैं, (३) वे हमें संविभाग वाली बुद्धि प्राप्त कराते हैं, जो कि दिनदूनी रात चौगुणी उन्नति का कारण बनती है, (४) यह उन्नति प्रेय व श्रेय दोनों को सिद्ध करने में है, (५) जब हम पुरुषार्थ करते हैं तो प्रभु कृपा से हमारे साथ देवों व महादेव का सम्पर्क होता है, (६) वे प्रभु हमारे अविता व गोपा होते हैं, (७) इस प्रभु की कृपा से हम ज्ञान के साथ आगे बढ़ते हैं—

[८] अष्टमं सूक्तम्

ऋषिः—**त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

त्रिशिराः त्वाष्ट्रः

प्र केतुना बृहता यात्यग्निरा रोदसी वृषभो रोरवीति।

दिवश्चिदन्ताँ उपमाँ उदानळपामुपस्थे महिषो ववर्ध॥ १॥

प्रस्तुत मन्त्रों का ऋषि 'त्रिशिराः त्वाष्ट्रः' है। शरीर के दृष्टिकोण से यह शिखर पर पहुँचता है, मन की पवित्रता के दृष्टिकोण से यह शिखर पर पहुँचता है और मस्तिष्क के दृष्टिकोण से यह उन्नत होता है। इस प्रकार यह 'त्रिशिराः' तीन सिरों वाला कहलाता है और निर्माण करने के कारण इसका नाम 'त्वाष्ट्र' हो जाता है। यह 'अग्निः' प्रगतिशील जीव **बृहता** वृद्धि के कारणभूत **प्रकेतुना** प्रकृष्ट ज्ञान के प्रकाश से **रोदसी**-द्युलोक व पृथिवीलोक को **आयाति**-प्राप्त होता है। मस्तिष्क ही 'द्युलोक' है, यह शरीर 'पृथिवी' है। 'मस्तिष्क को ज्ञानोज्ज्वल करना तथा शरीर को स्वस्थ बनाना' यही 'रोदसी' को प्राप्त करना है। **वृषभः** मस्तिष्क व शरीर दोनों के दृष्टिकोण से शक्तिशाली बनकर यह **रोरवीति**-नित्य प्रभु का स्तवन करनेवाला बनता है। प्रभु के गुण प्रतिपादक नामों का यह स्मरण करता है। **दिवः**-ज्ञान के प्रकाश से **अन्तान्**-परले सिरों को **चित्**-और **उपमान्**-समीप प्रदेशों को यह **उदानट्** प्रकृष्ट रूप में व्याप्त करता है। ज्ञान के परले सिरे 'आत्मविद्या' हैं तो उरले सिरे ही प्रकृति विद्या है। यह इन दोनों को ही खूब प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। **अपाम् उपस्थे** (आपः रेतो भूत्वा) रेतःकणों की उपस्थिति में, शरीर में इन रेतःकणों को सुरक्षित करने के द्वारा **महिषः** (मह पूजायाम्) प्रभु की पूजा करनेवाला यह अग्नि **ववर्ध** वृद्धि को प्राप्त होता है। यह सब दृष्टिकोणों से उन्नति करता है।

भावार्थ—मनुष्य की उन्नति यही है कि उसका मस्तिष्क ज्ञान से परिपूर्ण हो, 'मन' प्रभु नाम स्मरण में लगा हो, और शरीर 'रेतःकणों' की रक्षा के द्वारा पूर्ण स्वस्थ व नीरोग हो।

ऋषिः—**त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

सब से प्रथम स्थान में

मुमोद गर्भो वृषभः ककुद्मानस्रेमा वत्सः शिमीवाँ अरावीत्।

स देवतात्युद्यतानि कृण्वन्त्स्वेषु क्षयेषु प्रथमो जिगाति॥ २॥

गत मन्त्र में वर्णित 'त्रिशिराः' **मुमोद**-आनन्द को प्राप्त करता है, आनन्दमय स्वभाव वाला होता है। **गर्भः** प्रभु को अपने अन्दर धारण करनेवाला होता है। **वृषभः**-शक्तिशाली होता है, **ककुद्मान्**-शिखर वाला, अर्थात् शरीर, मन व मस्तिष्क की उन्नति के दृष्टिकोण से उन्नत हुआ-हुआ 'त्रिशिराः' अथवा सायण के शब्दों में 'उन्नततेजस्कः'-अत्यन्त तेजस्वी होता है। **अस्रेमा** (praiseworthy प्रशंसनीय) इसके जीवन में कोई अप्रशस्त आचरण नहीं होता। **वत्सः**-यह प्रभु का प्रिय होता है, अथवा 'वदति' प्रभु के नामों का उच्चारण करता है। और **शिमीवान्**-शान्त

भाव से उत्तम कर्मों को करनेवाला होता है। कर्मों में लगाहुआ **अरावीत्**-प्रभु का स्मरण करता है, प्रभु के नामों का जप करता है। प्रभु नाम स्मरण करता हुआ **स**-वह **देवताति**-दिव्यगुणों के विस्तार वाले यज्ञों में **उद्यतानि कृण्वन्**=उत्साहयुक्त कर्मों को करता हुआ **स्वेषु क्षयेषु**=अपने घरों में **प्रथमः**=सर्वोन्नत स्थिति में **जिगाति**-पहुँचता है। मनुष्य का आदर्श यही होना चाहिए कि 'अति समं क्राम'-मैं बराबर वालों से आगे लाँघ जाऊँ। आगे बढ़ता हुआ प्रथम स्थान में पहुँच पाऊँ।

भावार्थ—प्रभुस्मरण पूर्वक कर्म करते हुए हम निरन्तर आगे बढ़े। कर्ममय जीवनवाले होकर आनन्दित हों।

ऋषिः—**त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

उन्नति के शिखर पर

आ यो मूर्धानं पित्रोररब्ध न्यध्वरे दधिरे सूरो अर्णः।

अस्य पत्मन्नरुषीरश्वबुध्ना ऋतस्य योनौ तन्वो जुषन्त॥ ३॥

यः=जो **पित्रोः**=द्यावापृथिवी के, मस्तिष्क व शरीर के **मूर्धानम्**=शिखर को **आ अरब्ध**=पहुँचने के लिए सब प्रकार से यत्न प्रारम्भ करता है। अर्थात् शरीर को पूर्ण स्वस्थ रखकर शारीरिक उन्नति के शिखर पर पहुँचता है और मस्तिष्क को ऊँचे से ऊँचे ज्ञान से परिपूर्ण करके मस्तिष्क के शिखर पर पहुँचता है। **सूरः** (सूर्यते be firm)=जो दृढ़ वृत्ति वाले लोग, न्याय मार्ग से न विचलित होनेवाले लोग **अर्णः**-अपनी गति को (ऋ गतौ) **अध्वरे**=हिंसा व कुटिलता से रहित यज्ञात्मक कर्मों में **निदधिरे**-निश्चय से स्थापित करते हैं। अर्थात् सदा यज्ञशील होते हैं, **अस्य**=इस अग्रेणी प्रभु के **पत्मन्**=मार्ग में **अरुषीः**=आरोचमानाः=खूब देदीप्यमान तथा **अश्वबुध्नाः**=व्याप्तमूलाः=व्यापक मूल वाली, 'धर्मार्थकाममोक्षणां आरोग्यं मूलमुत्तमम्' इन शब्दों में वर्णित व्यापक आरोग्य रूप मूल वाली **तन्वः**-तनुओं को, शरीरों को **ऋतस्य योनौ**=ऋत के मूल उत्पत्ति स्थान प्रभु में **जुषन्त**=प्रीति पूर्वक सेवनवाला करते हैं। अर्थात् अपने 'स्थूल, सूक्ष्म व कारण' शरीरों से उस प्रभु का ही सेवन करते हैं जो प्रभु ऋत के उत्पत्ति स्थान हैं। सब प्राकृतिक नियम उस प्रभु से ही उत्पन्न किये जाते हैं, प्रभु 'ऋत के योनि' हैं 'ऋतं च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत' प्रभु के सेवन व उपासन के लिये वे इन शरीरों को व्यापक आरोग्य रूप मूल वाला बनाते हैं, वे शरीर को, मन को व मस्तिष्क को सभी को स्वस्थ बनाकर प्रभु उपासन में प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ—हमें चाहिए कि शरीर व मस्तिष्क की उन्नति के शिखर पर पहुँचें। अविचलित भाव से यज्ञनिष्ठ बनें। आरोग्य साधन कर प्रभु उपासन में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—**त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

सप्त-पदी

उषउषो हि वसो अग्रमेषि त्वं यमयोरभवो विभावा।

ऋताय सप्त दधिषे पदानि जनयन्मित्रं तन्वे३ स्वायै॥ ४॥

हे **वसो**=अपने निवास को उत्तम बनानेवाले जीव! तू **हि**=निश्चय से **उष उषः**=प्रत्येक उषःकाल में **अग्रम् एषि**=आगे और आगे बढ़ता है। **त्वं**=तू **यमयोः**-परस्पर अवियुक्त-युग्मरूप से रहनेवाले दिन-रात में **विभावा**=विशिष्ट दीप्ति वाला **अभवः**-होता है। गत मन्त्र के अनुसार यह शरीर व मस्तिष्क की उन्नति के शिखर पर पहुँचने का प्रयत्न करता है, सो यह स्वास्थ्य के कारण दीप्त शरीर वाला तथा ज्ञान के कारण दीप्त मस्तिष्क वाला होता है। इसीलिए इसे

'विभावा' विशिष्ट दीप्ति वाला कहा गया है, इस प्रकार शरीर व मस्तिष्क के दृष्टिकोण से दीप्त हुआ हुआ **ऋताय** जीवन में यज्ञ की सिद्धि के लिए **सप्त पदानि दधिषे**-सात कदमों को धारण करता है। विवाह संस्कार में ये सात कदम 'सप्तपदी' के रूप में कहे जाते हैं। वस्तुतः सम्पूर्ण अभ्युदय के लिए ये सात कदम आवश्यक ही हैं। '(क) अन्न को जुटाना, (ख) बल व प्राणशक्ति के वर्धक अन्न का सेवन, (ग) धनार्जन, (घ) स्वास्थ्य की स्थिरता, (ङ) उत्तम सन्तान, (च) दिनचर्या का नियम तथा (छ) परस्पर मित्रभाव' इस सात बातों के होने पर जीवन सुन्दर व यज्ञमय बन पाता है। इन सात कदमों को धारण करनेवाला व्यक्ति **स्वायै तन्वे**=इस अपने शरीर से **मित्रं**-उस मित्रभूत प्रभु को **जनयन्** प्रकट करनेवाला होता है। यह अपने हृदय में प्रभु के प्रकाश को तो देखता ही है, इसके जीवन की क्रियाओं में लोगों को प्रभु की तेजोज्योति का अंश दिखता है। एवं इसके जीवन से प्रभु का प्रकाश होता है।

भावार्थ—हमें प्रतिदिन आगे बढ़ना है, विशिष्ट दीप्ति वाला बनना है। यज्ञ की सिद्धि के लिए सात कदमों को रखते हुए हम अपने शरीरों से प्रभु की अभिव्यक्ति करें।

ऋषिः—**त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

ऋत का रक्षण (सप्तपदी की व्याख्या)

भुवश्चक्षुर्मह ऋतस्य गोपा भुवो वरुणो यदृताय वेषि।
भुवो अपां नपाज्जातवेदो भुवो दूतो यस्य हव्यं जुजोषः॥ ५॥

गत मन्त्र के अनुसार जब हम अपने शरीरों में प्रभु की अभिव्यक्ति कराते हैं तो हे प्रभो! आप हमारे लिये **महः चक्षुः**-तेजस्विता से परिपूर्ण चक्षु होते हैं। अथवा प्रभु हमें तेजस्वी भी बनाते हैं और हमारे लिए मार्गदर्शक भी होते हैं, हमें कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान देते हैं। कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान देकर वे **ऋतस्य गोपाः**-ऋत के रक्षक होते हैं। हमारे जीवनों में से अनृत को दूर करके ऋत को परिपुष्ट करते हैं। इस प्रकार **यत्**-जब आप **ऋताय वेषि**=हमारे में ऋत के लिये, ऋत की स्थापना के लिये कामना करते हैं तो **वरुणः भुवः** द्वेष का निवारण करनेवाले होते हैं। इस द्वेष निवारण के लिये **अपाम्**-(आपः रेतो भूत्वा) रेतःकणों के **न पात्**-न गिरने देनेवाले होते हैं। सुरक्षित वीर्य वाला शूर-वीर पुरुष ही द्वेषादि से ऊपर उठ पाता है। हे प्रभो! इस द्वेष निवारण के लिये ही उस व्यक्ति के लिये **जातवेदः भुवः**=(जातं वेदो यस्यात्) उचित धन को प्राप्त करानेवाले होते हैं (वेदः-wealth)। निर्धनता भी कई अशुभ भावनाओं को जन्म देने का कारण बन जाती है। हे प्रभो! आप **यस्य हव्यं जुजोषः**-जिसके हव्य को सेवन करनेवाले होते हैं उसके लिये **दूतः**-ज्ञान के सन्देश को प्राप्त करानेवाले होते हैं। वस्तुतः एक प्रभु-भक्त धन को प्राप्त करके हव्य का सेवन करता है, त्यागपूर्वक यज्ञशेष का ही उपयोग करता है। यह यज्ञशेष का सेवन ही प्रभु का उपासन है 'हविषा विधेम' उस आनन्द स्वरूप प्रभु का हवि के द्वारा उपासन करते हैं। इन यज्ञशेष का सेवन करने वालों को ही प्रभु का ज्ञान सन्देश प्राप्त होता है।

भावार्थ—प्रभु हमारे मार्गदर्शक हैं, हमारे जीवन को ऋतमय-वीरतापूर्ण व यज्ञशेष का सेवन करनेवाला बनाते हैं।

सूचना—पिछले मन्त्र के 'सात पदों' का भी प्रस्तुत मन्त्र में संकेत प्रतीत होता है—(१) **भुवः चक्षुर्महः**-तेजिस्वतापूर्ण ज्ञान, (२) **ऋतस्य गोपाः**=ऋत का, यज्ञ का रक्षण, (३) **भुवोवरुणः**-द्वेष निवारण, (४) **अपांनपात्**-वीर्यरक्षण, (५) **जातवेदः**-उचित धनार्जन, (६) **दूतः**-ज्ञान सन्देश श्रवण, (७) **हव्यं जुजोषः**-यज्ञशेष के सेवन से प्रभु का आराधन।

ऋषिः—त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

स्वर्षा हव्यवाट् जिह्वा

भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेता यत्रा नियुद्भिः सचसे शिवाभिः ।
दिवि मूर्धानं दधिषे स्वर्षां जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहम् ॥ ६ ॥

हे प्रभो! आप हमारे जीवनों में **यज्ञस्य**=यज्ञात्मक कर्मों का तथा **रजसः**=क्रियाशीलता का (रजः कर्मणि) **नेता भुवः**=प्रणयन करनेवाले होते हैं, **यत्रा**=इन यज्ञात्मक कर्मों के निमित्त ही **शिवाभिः**=कल्याणकर **नियुद्भिः**=इन्द्रियाश्वों से हमें **सचसे**=समवेत-युक्त करते हैं। प्रभु हमें शुभ कर्मों की ओर झुकाव वाली इन्द्रियों को प्राप्त कराते हैं। 'हम अशुभ कर्मों में न प्रवृत्त हों' इसी उद्देश्य से **मूर्धानम्**=हमारे मस्तिष्क को **दिवि**=प्रकाश में **दधिषे**=हे प्रभो! आप स्थापित करते हो। हमें प्रभु ज्ञान देते हैं, जिससे कि हमारे कर्मों की पवित्रता बनी रहे। हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! आप हमारी **जिह्वाम्**=जिह्वा को **स्वर्षाम्**=प्रकाशमय प्रभु का सेवन करनेवाली उस ज्ञान ज्योति के पुञ्ज प्रभु का नामोच्चारण करनेवाली तथा **हव्यवाहम्**=हव्य पदार्थों का ही सेवन करनेवाली **चकृषे**=करते हैं। हमारी जिह्वा ज्ञान के शब्दों व प्रभु के नामों का ही उच्चारण करती है और पवित्र यज्ञशेष का ही सेवन करती है।

भावार्थ—(क)हम क्रियाशील हों और यज्ञों में लगे रहें, (ख) इन्द्रियों को शुभ बनाएँ, (ग) ज्ञान को धारण करे, (घ) प्रभु नामोच्चारण करें और हव्य पदार्थों का ही सेवन करें।

ऋषिः—त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—धैवतः ॥

प्रभु का कारण

अस्य त्रितः क्रतुना वव्रे अन्तरिच्छन्धीतिं पितुरेवैः परस्य ।
सचस्यमानः पित्रोरुपस्थे जामि ब्रुवाण आयुधानि वेति ॥ ७ ॥

त्रितः—'त्रीन् मनोति' धर्म, अर्थ, काम तीनों का उचित रूप में विस्तार करनेवाला अथवा 'त्रीन् तरति', 'काम-क्रोध-लोभ' इन तीनों को तैर जानेवाला **क्रतुना**=कर्म-संकल्प व प्रज्ञान के द्वारा **अस्य**=इस प्रभु का **वव्रे**=वरण करता है। प्रभु प्राप्ति के लिये आवश्यक है कि हम शरीर में कर्मशक्ति सम्पन्न हों, अकर्मण्य को ही अशुभ विचार घेरा करते हैं। मन में उस प्रभु प्राप्ति के लिए दृढ़ संकल्प हो और मस्तिष्क प्रज्ञान से उज्ज्वल हो। ऐसा होने पर ही हम प्रभु को प्राप्त कर पाते हैं। यह व्यक्ति **एवैः**=अपनी सब गतियों व क्रियाओं से **परस्य पितुः**=उस परम पिता प्रभु ही **अन्तः**=(हृदयान्तरिक्ष) अन्तःकरण में **धीतिम्**=धारणा को अथवा प्रज्ञा को (नि० १०.४१) **इच्छन्**=चाहता है। इसकी सारी क्रियाएँ इस उद्देश्य से होती हैं कि यह हृदय में प्रभु को धारण कर पाये। यह **पित्रोः**=द्यावापृथिवी के, मस्तिष्क व शरीर के **उपस्थे**=गोद में, मस्तिष्क व शरीर के मध्य, अर्थात् हृदय में **सचस्यमानः**=उस प्रभु से सम्पर्क को प्राप्त करता हुआ (सच् to be associated) **आयुधानि**=तलवार, तोप, बन्दूक आदि अस्त्रों को **जामि**=(needless repetition) व्यर्थ की पुनरुक्ति-सा **ब्रुवाणः**=कहता हुआ **वेति**=इस संसार यात्रा में चलता है। प्रभु के सम्पर्क के होने पर मनुष्य को इतनी शक्ति प्राप्त हो जाती है कि उसके लिए इन बाह्य अस्त्रों की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। वास्तव में तो सर्वत्र प्रभु दर्शन करने पर उसका किसी से वैर विरोध ही नहीं रहता, सो अस्त्रों का कोई उपयोग ही नहीं रह जाता।

भावार्थ—हम अपने हृदय में प्रभु का वरण करें, क्रियाशीलता के द्वारा हृदय में प्रभु का धारण

करें। प्रभु से हमारा इस प्रकार सम्बन्ध हो कि हमारे लिये ये बाह्य अस्त्र निकम्मे हो जाए।

ऋषिः—**त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

असुरों से युद्ध

स पित्र्याण्यायुधानि विद्वानिन्द्रेषित आप्त्यो अभ्ययुध्यत्।
त्रिशीर्षाणं सप्तरश्मिं जघन्वान्त्वाष्ट्रस्य चिन्निः ससृजे त्रितो गाः ॥ ८ ॥

सः-वह गत मन्त्र का **त्रितः** शरीर, मन व बुद्धि तीनों की शक्तियों का विस्तार करनेवाला **पित्र्याणि** उस परमपिता प्रभु से प्राप्त होनेवाले **आयुधानि**-ज्ञान रूप अस्त्रों को **विद्वान्**-जाननेवाला, अर्थात् ज्ञानशस्त्र के प्रयोग से वासना रूप शत्रुओं को मारनेवाला, **इन्द्रेषितः**=उस परमैश्वर्यवान् प्रभु से प्रेरित हुआ हुआ, **आप्त्यः**-दिव्यगुणों को प्राप्त करने वालों में सर्वोत्तम **अभ्ययुध्यत्**-वासनारूप शत्रुओं से मन में तथा रोगरूप शत्रुओं से शरीर में युद्ध करता है। इस युद्ध में विजय प्राप्त करके **त्रिशीर्षाणम्**-शरीर, मन व मस्तिष्क की उन्नति रूप तीन शिखरों वाली **सप्तरश्मि**-'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' इन कान, नासिका, आँख व मुख आदि ज्ञानेन्द्रिय रूप सात ऋषियों की ज्ञान किरणों को **जघन्वान्**-खूब ही प्राप्त करता है (हन्-गति), इस प्रकार त्रिविध उन्नति के द्वारा तथा ज्ञानरश्मियों के द्वारा यह **त्रितः**-त्रिविध उन्नति का करनेवाला तथा काम क्रोध लोभ तीनों को तैर जानेवाला त्रित **त्वाष्ट्रस्य**-उस निर्माता प्रभु को दी हुई (त्वष्टा एव त्वाष्ट्रः) **गाः**=इन इन्द्रियों को **निः ससृजे** विषयों के बन्धन से मुक्त करता है। आसुर वृत्तियों ने इन इन्द्रियों को आक्रान्त कर लिया था, पर त्रित इन्द्रियों को असुरों के आक्रमण से बचाता है, उनके बन्धन से छुड़ा लेता है।

भावार्थ—त्रि प्रभु से ज्ञान रूप शस्त्र को प्राप्त करके आसुर वृत्तियों व रोगों से लड़ता है और त्रिविध उन्नति के शिखर पर पहुँचता है। और सप्त ऋषियों की ज्ञानकिरणों को प्राप्त करके इन्द्रियों को विषय बन्धनों से मुक्त करता है।

ऋषिः—**त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

वासना विच्छेद व त्रिविध उन्नति

भूरीदिन्द्र उदिनक्षन्तमोजोऽवाभिनत्सत्पतिर्मन्यमानम्।
त्वाष्ट्रस्य चिद्विश्वरूपस्य गोनामाचक्राणस्त्रीणि शीर्षा परा वर्क् ॥ ९ ॥

सत्पतिः-सदा उत्तम (सत्) कर्मों में लगे रहने के द्वारा अपना रक्षण करनेवाला **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जितेन्द्रिय पुरुष **भूरि ओजः उदिनक्षन्तः**=बहुत अधिक शक्ति को व्याप्त करते हुए अर्थात् अतिशक्ति सम्पन्न होते हुए **मन्यमानं**-अपनी शक्ति के गर्व वाले अथवा प्रचण्ड (क्रुध्यमानं सा०) इस काम रूप असुर को **इत्**-निश्चय से **अवाभिनत्**-विदीर्ण करता है। 'काम' को नष्ट करने का सब से सुन्दर उपाय यही है कि 'उत्तम कर्मों में लगे रहना'। इस प्रकार काम को नष्ट करके **चित्**-निश्चय से **त्वाष्ट्रस्य**-उस दिव्यगुणों का निर्माण करनेवाले **विश्वरूपस्य**=व्यापक रूप वाले प्रभु की **गोनाम्**=इन्द्रियों के **त्रीणि**-तीन **शीर्षाणी** शिखरों को **आचक्राणः**=करने के हेतु से **परावर्क्**-इन आसुर वृत्तियों को सुदूर छिन्न-भिन्न कर देता है। इन्द्रियों के तीन शिखर 'ज्ञान, कर्म व उपासना' हैं। इनके दृष्टिकोण से उन्नत होने के लिए वासनाओं का विच्छेद आवश्यक है। यहाँ 'ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ' इस प्रकार इन्द्रियों की द्विविधता के साथ तीन शिखरों का समन्वय निम्न सूत्र से स्पष्ट हो जाता है—'ज्ञान+कर्म उपासना'। ज्ञान पूर्वक कर्म करना ही उपासना है।

एवं उपासना भी ज्ञान कर्म के ही अन्तर्गत हो जाती है। एवं द्विविध इन्द्रियों से हम तीन शिखरों का आक्रमण करते हैं। परन्तु यह सब होता तभी है जब कि वासनाओं का हम विच्छेद करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—अत्यन्त प्रबल 'काम' रूप शत्रु के नष्ट होने पर ही हम 'त्रिशिराः त्वाष्ट्र' बन पाते हैं।

सूक्त का प्रारम्भ 'त्रिशिराः' की व्याख्या से होता है, इसके मस्तिष्क में ज्ञान है, मन में प्रभु स्मरण, शरीर में रेतःकणों की व्याप्ति, (१) वह सदा प्रसन्न रहता है, कर्ममय जीवनवाला बनकर आनन्दित होता है, (२) यह आरोग्य साधन करके प्रभु उपासन में प्रवृत्त रहता है, (३) अभ्युदय की प्राप्ति के लिये यह 'अन्न-बल धन स्वास्थ्य-सन्तान-समयपालन व मित्रभाव रूप सात कदमों को रखता है, (४) प्रभु कृपा से हमारा जीवन ऋतमय बनता है, (५) हम हव्यपदार्थों का सेवन करते हैं, (६) प्रभु स्मरण के होने पर बाह्य अस्त्र हमारे लिये पुनरुक्त व व्यर्थ से हो जाते हैं, (७) हम इन्द्रियों को विषय-बन्धन से मुक्त कर पाते हैं, (८) प्रचण्ड कामरूप शत्रु का संहार करते हैं, (९) इस कामरूप शत्रु के संहार रूप महान् कार्य में जलों का समुचित प्रयोग हमारे लिये अतिसहायक होता है—

[९] नवमं सूक्तम्

ऋषिः—**त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः सिन्धुद्वीपो वाम्बरीषः**॥ देवता—**आपः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

जल व नीरोगता

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे॥ १॥

(१) **आपः**-जल **हि**=निश्चय से **स्थाः**=हैं **मयोभुवः**=कल्याण व नीरोगता को उत्पन्न करनेवाले। अर्थात् जलों के समुचित प्रयोग से हम अपने शरीरों को पूर्णतया नीरोग बना पाते हैं। **ताः**=वे जल **नः**-हमें **ऊर्जे**=बल व प्राणशक्ति में **दधातन**=धारण करें। जलों का समुचित प्रयोग यह है कि—(क) हम स्नान के लिये ठण्डे पानी का प्रयोग स्पञ्जिंग के रूप में (घर्षण स्नान के रूप में) करें और पीने के लिये यथासम्भव गरम का। (ख) प्रातः जीभ व दाँतों को साफ करने के बाद जितना सम्भव हो उतना पानी पीयें, यही हमारी (Bed tea) हो। (ग) भोजन में थोड़ा-थोड़ा करके बीच-बीच में कई बार पानी लें 'मुहुर्मुहुर्वारि पिबेदभूरि'। (२) इस प्रकार जलों का प्रयोग करने पर ये जल **महे**-हमारे महत्त्व के लिये हों, शरीर के भार को कुछ बढ़ाने के लिये हों। जलों के घर्षण स्नान आदि के रूप में प्रयोग से शरीर का उचित भार बढ़ता है। भारी शरीर कुछ हल्का हो जाता है और हल्का शरीर उचित भार को प्राप्त करता है। (३) **रणाय**=(रणशब्दे) जल का उचित प्रयोग शब्द शक्ति के विकास के लिये होता है। वाणी में शक्ति आ जाने से हम 'पर्जन्य निनदोपमः' मेघगर्जना के समान गम्भीर ध्वनि वाले बनते हैं। (४) **चक्षसे**=जलों के ठीक प्रयोग से ये दृष्टिशक्ति की वृद्धि के कारण बनते हैं। भोजन के बाद गीले हाथों के तलों से आँखों को कुछ मलना, प्रातः ठण्डे पानी के छींटे देना आदि प्रयोग दृष्टिशक्ति को बढ़ाते हैं, उषःपान तो निश्चय से इसके लिये अत्यन्त उपयोगी है।

भावार्थ—जल 'नीरोगता, बल व प्राणशक्ति, महत्त्व (भारः शब्दशक्ति व दृष्टिशक्ति' के वर्धक हैं।

ऋषिः—**त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः सिन्धुद्वीपो वाम्बरीषः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥
स्वरः—**षड्जः** ॥

कामयमान माताओं के समान

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः ॥ २ ॥

(१) हे जलो! **यः** जो **वः** तुम्हारा **शिवतमः**-अत्यन्त कल्याण करनेवाला **रसः**-रस है, **नः** हमें **इह**-इस जीवन में **तस्य**- उसका **भाजयत** भागी बनाओ। 'भज सेवायाम्'-हमें उस रस का उसी प्रकार सेवन कराओ **इव** जिस प्रकार **उशतीः**-बालक के हित की कामना करती हुई **मातरः**=माताएँ बच्चे को स्तन्य (दूध) का पान कराती हैं। (२) बच्चा माता के दूध का पान करके जैसे नीरोग व पुष्ट शरीर वाला होता है, उसी प्रकार हम जलों के रस का सेवन करते हुए नीरोगता व पुष्टि को प्राप्त करते हैं। (३) यहाँ स्तन्यपान की उपमा देकर यह संकेत किया गया है कि जलों को धीमे धीमे पीना चाहिए, उनका रस लेने का प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा करने पर ही जल गुणकारी होते हैं।

भावार्थ—जलों का रस हमारे लिये उसी प्रकार पुष्टिकर व नीरोगता को देनेवाला है जैसे कि हितकामना वाली माता का दूध बच्चे के लिये।

ऋषिः—**त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः सिन्धुद्वीपो वाम्बरीषः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥
स्वरः—**षड्जः** ॥

जननशक्ति

तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ। आपो जनयथा च नः ॥ ३ ॥

(१) हे **आपः**=जलो! **यस्य क्षयाय**=जिस रस के निवास के हेतु से आप **जिन्वथ**-हमें प्रीणित करते हो, दोषों को दूर करके तृप्ति व प्रसन्नता का अनुभव कराते हो, **वः**=आपके **तस्मा**-उस रस के लिये **अरं गमाम** हम खूब गायें, अर्थात् उस रस को खूब ही प्राप्त करने का प्रयत्न करें। जलों में एक रस है जो कि हमारे जीवन को नीरोग, निर्मल व सशक्त बनाकर हमें प्रसन्नता का अनुभव कराता है। हम उस रस को प्राप्त करने का पूर्ण प्रयत्न करें। (२) हे **आपः**=जलो! आप **च**-और **नः**=हमें **जनयथा**=विकसित शक्ति वाला करो। अथवा जननशक्ति से युक्त करो। वस्तुतः यहाँ यह संकेत स्पष्ट है कि जलों का समुचित प्रयोग वन्ध्यात्व को तथा नपुंसकत्व को नष्ट करता है।

भावार्थ—जल अपने रसों से हमें प्रीणित करते हैं तथा हमारी शक्तियों का विकास करनेवाले हैं।

ऋषिः—**त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः सिन्धुद्वीपो वाम्बरीषः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥
स्वरः—**षड्जः** ॥

इच्छा-आक्रमण-विजय

शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शं योरभि स्रवन्तु नः ॥ ४ ॥

(१) **देवीः**-(दिव्=विजिगीषा) रोगों को जीतने की कामना वाले **आपः**-जल **नः**-हमारे लिये **अभिष्टये**-रोगों पर आक्रमण के लिये (अभिष्टि=attack) और इस प्रकार **पीतये**=हमारे रक्षण के लिये **भवन्तु** हों। रोग विनाश के द्वारा ये जल **शम्**-शान्ति को देनेवाले हों। (२) यहाँ यह क्रम ध्यान देने योग्य है—'इच्छा-आक्रमण-विजय'। जल रोगों को जीतने की इच्छा करते

हैं (देवीः), रोगों पर आक्रमण करते हैं (अभिष्टये) और उन रोगों को शान्त कर देते हैं (शं) रोग शान्ति द्वारा ये जल हमारा रक्षण करते हैं (पीतये) (३) **शं-योः**=उत्पन्न रोगों का ये जल शमन करनेवाले हों (शं) तथा अनुत्पन्न रोगों का पृथक् करण करनेवाले हों, उनको हमारे से दूर ही रखनेवाले हों। 'शं' शब्द चिक्तिसा-cure व अपनयन का संकेत करता है और **योः**=रोगों को रोकने-prevention उत्पन्न ही न होने देने का। इस प्रकार ये जल रोगों का इलाज व रोकना दोनों ही काम करते हैं (curative इलाज करनेवाला) भी हैं (preventive-अवरोधक) भी। ऐसे ये जल **नः**=हमारे **अभिस्रवन्तु**=दोनों ओर बहें। हम स्नान के रूप में इनका बाह्य प्रयोग करें और आचमन के रूप में अन्तः प्रयोग। इस प्रयोग में यह सूत्र हमें सदा ध्यान रहे कि 'अन्दर गरम और बाहर ठण्डा'। पीने में गरम पानी का तथा स्नान में ठण्डे का उपयोग हो। ठण्डे पानी का उपयोग त्वचा को सशक्त बनाता है, और गरम पानी का पीना पाचन को ठीक रखता है।

भावार्थ—जल हमारे रोगों को जीतने की कामना करते हैं, वे रोगों पर आक्रमण करते हैं और उन्हें शान्त कर देते हैं। ये जल उत्पन्न रोगों को शान्त करनेवाले तथा अनुत्पन्नों को दूर रखनेवाले हैं।

ऋषिः—**त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः सिन्धुद्वीपो वाम्बरीषः**॥ देवता—**आपः**॥ छन्दः—**वर्धमाना गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

वार्यों के ईशान

ईशा॑ना॒ वार्या॑णां॒ क्षय॑न्तीश्चर्षणी॒नाम्। अ॒पो या॑चामि भेष॒जम्॥ ५॥

(१) ये जल **वार्याणाम्**=वरणीय, चाहने योग्य आरोग्य आदि धनों के **ईशानाः**=ईशान व स्वामी हैं, अर्थात् आरोग्य आदि धनों को देनेवाले हैं। और इस प्रकार **चर्षणीनाम्**=कामशील मनुष्यों के **क्षयन्तीः**=(क्षि निवासगत्योः) उत्तम निवास व क्रियाशीलता के कारण हैं। ये जल शरीर में हमारे निवास को उत्तम बनाते हैं तथा नीरोगता व शक्ति को प्राप्त कराके हमारे जीवन को बड़ा क्रियाशील रखते हैं। (२) इन **अपः**=जलों को मैं **भेषजम्**-औषध को **याचामि**=माँगता हूँ। ये जल वस्तुतः सब रोगों के चिकित्सक हैं, उन्हें शान्त करने व दूर रखनेवाले हैं। इनसे हम औषध की याचना करते हैं। ये सुप्रयुक्त होकर हमें नीरोग करें।

भावार्थ—ये जल आरोग्य के ईशान हैं, हमारे निवास को उत्तम बनाकर हमें क्रियाशील बनाते हैं।

ऋषिः—**त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः सिन्धुद्वीपो वाम्बरीषः**॥ देवता—**आपः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥
स्वरः—**षड्जः**॥

विश्व-भेषज

अ॒प्सु मे॒ सोमो॑ अब्रवीद॒न्तर्विश्वा॑नि भेष॒जा। अ॒ग्निं च॑ वि॒श्वशं॑भुवम्॥ ६॥

(१) **सोमः**=सोम शक्ति के पुञ्ज प्रभु ने **मे**=मेरे लिये **अब्रवीत्**=यह प्रतिपादन किया है कि **अप्सु अन्तः**=जलों के अन्दर **विश्वानि भेषजः**=सम्पूर्ण औषध हैं। सब रोग जलों के ठीक प्रयोग से चिकित्सित हो सकते हैं। कोई भी रोग ऐसा नहीं जो कि इन जलों के लिये असाध्य हो। 'जल घातने' इस धातु से बना हुआ 'जल' शब्द ही इस बात का संकेत कर रहा है कि ये सब रोगों का **घात**=विनाश करनेवाले हैं। (२) प्रभु का 'सोम' नाम से स्मरण भी यहाँ भी व पूर्ण है, ये जल ही वस्तुतः 'आपः रेतो भूत्वा०' रेतःकण बनकर शरीर में प्रविष्ट होते हैं और ये हमें सोम (semen) शक्ति सम्पन्न बनाते हैं। यह सोम शक्ति ही रोगों का विनाश करती है। (३)

प्रभु ने **च** यह भी प्रतिपादित किया है कि **अग्निं विश्वशंभुवम्** अग्नि सब रोगों को शान्त करनेवाली है। इस प्रकार 'अप्सु: व अग्निं' शब्द 'जलों में अग्नि' को सब रोगों का शामक व भेषज कर रहे हैं। इन शब्दों में पीने के लिये गरम जल के प्रयोग का संकेत स्पष्ट है।

भावार्थ—गरम जल ही पीना चाहिए, यह हमारे सब रोगों को शान्त करेगा।

ऋषिः–**त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः सिन्धुद्वीपो वाम्बरीषः**॥ देवता–**आपः**॥ छन्दः–**प्रतिष्ठा गायत्री**॥
स्वरः–**षड्जः**॥

दीर्घकाल तक सूर्य-दर्शन

आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे३ मम। ज्योक्च सूर्यं दृशे॥ ७॥

(१) हे **आपः**-जलो! आप **मम तन्वे** मेरे शरीर के लिये **वरूथम्** रोगों का निवारण करनेवाले **भेषजम्** औषध को **पृणीत** (पूरयत) पूरित करो। अर्थात् जलों के यथायोग से मेरे शरीर में रोगों का प्रवेश न हो सके। (२) **च** और इस प्रकार हमारी नीरोगता का कारण बनकर ये जल **ज्योक्**-दीर्घकाल तक **सूर्यं दृशे** हमारे सूर्य दर्शन के लिये हों। अर्थात् हम दीर्घजीवी बनें।

भावार्थ—जल रोगनिवारण के द्वारा दीर्घजीवन के लिये होते हैं।

ऋषिः–**त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः सिन्धुद्वीपो वाम्बरीषः**॥ देवता–**आपः**॥ छन्दः–**अनुष्टुप्**॥
स्वरः–**गान्धारः**॥

'दुरित-द्रोह-आक्रोश व अनृत' (नाश)

इदमापः प्र वहत यत्किं च दुरितं मयि। यद्वाहमभिदुद्रोह यद्वा शेप उतानृतम्॥ ८॥

(१) हे **आपः** जलो! **यत् किञ्च**-जो कुछ भी **मयि दुरितम्** मेरे में अशुभ आचरण आ जाता है। **इदम्**=इसको **प्रवहत** आप बहा कर दूर कर दो। जल शरीर के मलों व रोगों को ही दूर करें, यह बात नहीं है। ये जल मानस मलों को भी, क्रोधादि को दूर करनेवाले हैं। इनके ठीक प्रयोग से स्वस्थ शरीर में मन भी स्वस्थ होता है। (२) **यद्वा**-और जो **अहम्**=मैं **अभिदुद्रोह**-किसी के प्रति द्रोह की भावना को करता हूँ, उसे भी आप बहा दो। (२) **यद्वा**-और जो **शेपे**=मैं क्रोधवश किसी को शाप देता हूँ, गाली आदि देता हूँ, उस सब आक्रोश को ये जल मेरे से दूर करें। (४) **उत**-और **अनृतम्**-सब अनृत को भी ये जल हमारे से दूर करें। हमारा सब व्यवहार ऋत को लिये हुए हो।

भावार्थ—जलों के समुचित प्रयोग से हम 'दुरित-द्रोह आक्रोश व अनृत' से बचें।

ऋषिः–**त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः सिन्धुद्वीपो वाम्बरीषः**॥ देवता-**आपः**॥ छन्दः–**अनुष्टुप्**॥
स्वरः–**गान्धारः**॥

पयस्वान् अग्नि

आपो अद्यान्वचारिषं रसेन समगस्महि। पयस्वानग्न आ गहि तं मा सं सृज वर्चसा॥ ९॥

(१) **अद्य**-आज मैं **आपः**-जलों को **अनु अचारिषम्**-शास्त्रों के अनुकूल सेवित करता हूँ। **रसेन समगस्महि**=हम जलों के रस से संगत होते हैं। वस्तुत: जलों के पीने का ठीक तरीका यही है कि उन्हें रस लेकर पिया जाए। इसी विधि को 'आचमन करना' कहते हैं। (२) हे **पयस्वान् अग्ने**=अग्निदेव! प्रशस्त जलों वाला तू **आगहि** हमें प्राप्त हो। अर्थात् हम गरम पानी का ही प्रयोग करें। (३) **तम्**-उस गरम पानी का प्रयोग करनेवाले **मा**-मुझे **वर्चसा**-वर्चस् व

दीप्ति से **संसृज**-संसृष्ट कर। यह गरम जल का प्रयोग सब प्रकार के रोगों से हमें मुक्त करे और वर्चस्वी बनाये।

भावार्थ—हम जलों का प्रयोग रस लेते हुए करें। यह गरम जल का प्रयोग हमें वर्चस्वी बनाये।

सूक्त का प्रारम्भ इस प्रकार है कि जल कल्याणजनक हैं, बल व प्राणशक्ति को देनेवाले हैं, (१) इनके रस से हमारी शक्तियों का विकास होता है, (२) ये उत्पन्न रोगों को शान्त करते हैं, अनुत्पन्न को दूर रखते हैं, (३) इनमें सब औषध हैं, (४) गरम जल सब रोगों को शान्त करता है, (५) दीर्घजीवन को देता है, (६) 'दुरित-द्रोह-आक्रोश व अनृत' को भी नष्ट करता है, (७) हमें वर्चस्वी बनाता है, (८) इस वर्चस्विता के अविनाश के लिये ही गृहस्थ के मूल सिद्धान्त का प्रतिपादन कराते हैं।

इस सूक्त के ऋषि 'यम व यमी' हैं। यम का अर्थ है 'आत्मसंयम वाला'। यम के इस संयम की परीक्षा के लिये ही यमी यम से विवाह का प्रस्ताव करती है—

[१०] दशमं सूक्तम्

ऋषिः—**यमी वैवस्वती**॥ देवता—**यमो वैवस्वतः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥
स्वरः—**गान्धारः**॥

सन्तान का महत्त्व

ओ चित्सखायं सख्या ववृत्यां तिरः पुरू चिदर्णवं जगन्वान्।
पितुर्नपातमा दधीत वेधा अधि क्षमि प्रतरं दीध्यानः॥ १॥

(१) यमी यम से कहती है कि **उ चित्**-निश्चय से **सखायम्**=मित्रभूत तुझ को **सख्या**=मित्रभाव से **आववृत्याम्**=(आवर्तयामि सा०) आवृत्त करती हूँ। 'पति पत्नी' परस्पर एक-दूसरे के सखा हैं, सप्तपदी के सातवें कदम में कहते हैं कि 'सखे सप्तपदी भव'। मित्रभाव से आवृत करने का अभिशय यही है कि तू मुझे पति रूप से प्राप्त हो। (२) इसलिए मैं तुझे पतिरूप से चाहती हूँ कि **पुरुचित्**=इस अत्यन्त विस्तृत **अर्णवम्**-संसार समुद्र को **जगन्वान्**=गया हुआ पुरुष **तिरः**=अन्तर्हित हो जाता है। टैनिसन एक स्थान पर लिखते हैं कि 'From great deep to the great deep he goes' मनुष्य एक महान् समुद्र से आता है, और थोड़ी-सी देर इस स्थल इस मध्य पर रहकर, दूसरे विस्तृत समुद्र में चला जाता है। न मनुष्य के आने का पता है, न जाने का; 'कहाँ से आया, कहाँ गया' यह सब अज्ञात ही है। सो मनुष्य मृत्यु पर संसार समुद्र में लीन हो जाता है और उसका कुछ पता नहीं कि वह कहाँ गया। (३) इस बात का ध्यान करके ही **प्रतरं दीध्यानः**=इस विस्तृत समुद्र का विचार करता हुआ **वेधाः**=बुद्धिमान् पुरुष **अधिक्षमि**=इस पृथ्वी पर **पितुः नपातम्**=पिता के न नष्ट होने देनेवाले सन्तान को **आदधीत**=आहित करता है। अर्थात् एक सन्तान को जन्म देता है और अपने इस नश्वर शरीर के नष्ट हो जाने पर भी उस सन्तान के रूप में बना ही रहता है। इसीलिए वह प्रार्थना भी करता है कि 'प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम'=हे प्रभो! हम सन्तानों के द्वारा अमर बने रहें। (४) यमी की युक्ति संक्षेप में यह है कि—(क) इस विशाल संसार-समुद्र में मनुष्य कुछ देर के बाद तिरोहित हो जाता है। (ख) सन्तान के रूप में ही उसका चिह्न बचा रहता है। (ग) सो सन्तान प्राप्ति के लिये तू मुझे पत्नी के रूप में चाहनेवाला हो और मेरे में सन्तान का आधान कर।

भावार्थ—मनुष्य सन्तान के रूप में ही बना रहता है सो 'सन्तान प्राप्ति के लिये यम यमी की कामना करे' यह स्वाभाविक ही है।

ऋषिः—**यमो वैवस्वतः** ॥ देवता—**यमी वैवस्वती** ॥ छन्दः -**विराट्त्रिष्टुप्** ॥
स्वरः—**गान्धारः** ॥

समीप सम्बन्ध की हानियाँ

न ते सखा सख्यं वष्ट्येतत्सलक्ष्मा यद्विषुरूपा भवाति।
महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवो धर्तार उर्विया परि ख्यन्॥ २ ॥

(१) गत मन्त्रोक्त यमी की बात का उत्तर देते हुए यम कहता है कि सन्तान प्राप्ति के लिये पुरुष और स्त्री का मित्रभाव ठीक ही है, परन्तु **ते सखा**=सहोत्पन्न होने से तेरा मित्र मैं **एतत् सख्यम्**-इस पति पत्नी रूप मित्रता को **न वष्टि** नहीं चाहता हूँ। **यत्** क्योंकि **सलक्ष्मा**-समान लक्षणों वाली कन्या सन्तानोत्पत्ति के लिये **विषुरूपा** बहुत ही विरूप होती है (विषमरूपा सा०) अर्थात् भाई बहिन के इतने समीप सम्बन्ध में सन्तान विरूप ही उत्पन्न होती है। प्राकृतिक क्षेत्र में 'धन विद्युत्' 'धन विद्युत्' से दूर भागती है, ऋण की ओर आकृष्ट होती है। इसी प्रकार सन्तानोत्पत्ति के लिये भी 'सलक्ष्मत्व' हानिकर है। दूर के सम्बन्ध ही ठीक होते हैं। (२) **महस्पुत्रासः**=तेजस्विता के द्वारा (पुनाति त्रायते) अपने को पवित्र करनेवाले व रक्षित करनेवाले, **असुरस्य वीराः**-उस प्राणशक्ति के देनेवाले प्रभु के वीर पुत्र, **दिवः धर्तारः**-प्रकाश व ज्ञान के धारण करनेवाले व्यक्ति इस समीप सम्बन्ध का **उर्विया**-खूब ही **परिख्यन्**-निषेध करते हैं। (३) वस्तुतः 'यह मर्ह स्पुत्रासः, असुरस्य वीराः तथा दिवः धर्तारः' इन शब्दों से यह संकेतित हो रहा है कि समीप सम्बन्धों का परिणाम यह होता है कि—(क) हमारी तेजस्विता का क्षय होता है, क्योंकि यह सम्बन्ध भोगवृत्ति को प्रधानता देने पर ही होता है। (ख) हम प्रभु के पुत्र न होकर प्रकृति के पुत्र हो जाते हैं, प्राकृतिक भोगों में पड़कर प्राणशक्ति को क्षीण कर बैठते हैं। (ग) हमारे ज्ञान में भी कमी आ जाती है। इन कारणों से 'तेजस्वी प्रभु-भक्त ज्ञानी' लोग इस समीप सम्बन्ध का प्रबल निषेध करते हैं।

भावार्थ—समीप सम्बन्ध विकृत सन्तानों को जन्म देने के कारण बनते हैं। इनके कारण हमारी तेजस्विता-प्राणशक्ति व ज्ञान में भी हीनता आती है।

ऋषिः—**यमी वैवस्वती** ॥ देवता—**यमो वैवस्वतः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥
स्वरः—**गान्धारः** ॥

सन्तान के लिये वीर्यदान की अनिन्द्यता

उशन्ति घा ते अमृतास एतदेकस्य चित्त्यजसं मर्त्यस्य।
नि ते मनो मनसि धाय्यस्मे जन्युः पतिस्तन्व१मा विविश्याः ॥ ३ ॥

(१) यम के इस समीप सम्बन्ध को न स्वीकार करने पर यमी फिर कहती है कि **ते**-वे **अमृतासः**=भोगवृत्ति से ऊपर उठे हुए, भोगों में न फँसनेवाले, इनके पीछे न मरनेवाले 'अ-मृत' पुरुष भी **एतत्**=इस पति पत्नी सम्बन्ध को **घा उशन्ति**=चाहते ही हैं। प्रभु की अमैथुनी मानस-सृष्टि में उत्पन्न हुए हुए प्रभु के अमृत पुत्रों ने क्या इस सम्बन्ध की कामना नहीं की। (२) वे तो इस सम्बन्ध को और पत्नी में सन्तान के आधान को **एकस्य मर्त्यस्य** एक मनुष्य के **चित्**=निश्चय से **त्यजसम्**-त्याग को समझते हैं। सन्तान निर्माण के लिये यह वीर्य का दान तो सचमुच एक महान् त्याग है। (३) इसलिए हे यम! **ते मनः**-तेरा मन **अस्मे मनसि**-हमारे मन में **निधायि**-निहित हो। अर्थात् तू मेरी कामना करनेवाला हो, मुझे पत्नी रूप से चाहनेवाला बन।

(४) **जन्युः**=सन्तान को जन्म देनेवाला **पतिः**=मेरा पति बनकर **तन्वं आविविश्याः**=मेरे शरीर में प्रवेश कर। 'तद्धि जायाया जायात्वं यदस्यां जायते पुनः', जाया का जायात्व यही है कि इसमें पुरुष पुनः जन्म लेता है। सन्तान के रूप में पिता ही दुबारा उत्पन्न होता है। उसके शरीर के एक अंश से ही पुत्र के शरीर का निर्माण होता है। सो पुत्र के रूप में वह शरीर की दृष्टि से भी जीवित ही बना रहता है। (५) 'जन्युः' शब्द इस भाव को सुव्यक्त कर रहा है कि सन्तान को जन्म देनेवाला 'काम' निन्दनीय नहीं है। 'प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः' इन शब्दों में यह काम परमेश्वर की ही विभूति है और इसलिए अवाञ्छनीय नहीं है।

भावार्थ—प्रभु के अमृत पुत्र भी परस्पर पति-पत्नी भाव को चाहते ही हैं, यह तो एक महान् त्याग है। सन्तान को जन्म देने के लिये यह सम्बन्ध अनिन्द्य है।

ऋषिः—**यमो वैवस्वतः**॥ देवता—**यमी वैवस्वती**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥
स्वरः—**गान्धारः**॥

उत्कृष्ट बन्धुत्व

न यत्पुरा चकृमा कद्ध नूनमृता वदन्तो अनृतं रपेम।
गन्धर्वो अप्स्वप्या च योषा सा नो नाभिः परमं जामि तन्नौ॥ ४॥

(१) यम उत्तर देता हुआ कहता है कि **यत्**=जिस बात को **पुरा**-इससे पहली सृष्टि में **कत् ह न चकृमा**=कभी भी नहीं किया है **नूनम्**=अब निश्चय से **ऋता वदन्तः**=सत्यों को ही अपने जीवन से कहते हुए हम **अनृतं**-अनृत को **रपेम**=कहें? अर्थात् हम अपने जीवन में उस बात को जो कि सत्य नहीं है क्यों आने दें? यह ठीक नहीं है। (२) सृष्टि के प्रारम्भ में पुरुष **गंधर्वः**=वेद वाणी का धारण करनेवाला है तथा **अप्सु**=कर्मों में निवास वाला है अर्थात् कर्मशील है, **च**=और **योषा**=स्त्री भी **अप्या**=कर्मों में उत्तमता से लगी रहनेवाली है, वस्तुतः इसीलिए तो वह 'योषा' है, गुणों को अपने से संपृक्त करनेवाली तथा दोषों को अपने से दूर करनेवाली। **सा**=वह 'ज्ञान का धारण व कर्मशीलता' ही **नः**-हम सृष्टि के प्रारम्भ में होनेवाले (स्त्री पुरुषों) का **नाभिः**-(णह बन्धने) बन्धन है, हमें परस्पर बाँधनेवाली बात है। **तत्**=वह ही **नौ**=हम दोनों का भी **परमं जामि**=सर्वोत्कृष्ट बन्धुत्व है। 'पति पत्नी' बनने से ही तो बन्धुत्व नहीं होता?

भावार्थ—पिछली सृष्टि में भी भाई-बहिन कभी पति-पत्नी के समीप सम्बन्ध में सम्बद्ध नहीं हुए। सदा ऋत का आचरण करते हुए हमें अनृत को अपनाना शोभा नहीं देता 'ज्ञानधारण व क्रियामय जीवन' ही पुरुष-स्त्री का सर्वोत्कृष्ट सम्बन्ध है। वही भाई-बहिन का परम बन्धुत्व है।

ऋषिः—**यमी वैवस्वती**॥ देवता—**यमो वैवस्वतः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥
स्वरः—**गान्धारः**॥

'सम्बन्ध-निर्माता' प्रभु

गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः।
नकिरस्य प्र मिनन्ति व्रतानि वेद नावस्य पृथिवी उत द्यौः॥ ५॥

(१) यमी फिर यम की परीक्षा लेती हुई कहती है कि **जनिता**=हम सब को जन्म देनेवाले उस प्रभु ने **गर्भे नु**=गर्भ में ही साथ-साथ जन्म देने से **नौ**=हम दोनों को **दम्पती**=पति-पत्नी **कः**=बनाया है। वे प्रभु **देवः**=पूर्ण ज्ञानमय हैं, **त्वष्टा**=वे ही सब सम्बन्धों का निर्माण करनेवाले हैं, **सविता**=सब प्रेरणाओं के देनेवाले हैं, **विश्वरूपः**=और उन प्रेरणाओं को देकर इस संसार

को रूप प्राप्त करानेवाले हैं। (२) ज्ञानमय होने से उस प्रभु के निर्मित सम्बन्धों में गलती हो सो बात नहीं। उनकी प्रेरणायें ठीक ही हैं और उन्होंने संसार को ठीक ही रूप दिया है। **अस्य व्रतानि**-इस सविता देव के व्रतों को **नकिः प्रमिनन्ति** कोई भी हिंसित नहीं करते हैं। प्रभु की व्यवस्था को कोई तोड़नेवाला नहीं है। (३) **नौ**=हम दोनों के **अस्य**-इस सम्बन्ध को **पृथिवी उत द्यौः**-पृथिवी और द्युलोक अर्थात् सारा संसार **वेद**-जानता है। 'हमारा यह सम्बन्ध कोई छिपा हुआ व पापमय हो' ऐसी बात नहीं है।

भावार्थ—हमारे इस पति-पत्नी सम्बन्ध को तो करनेवाले हमारे पिता प्रभु ही हैं, यह स्पष्ट बात है, 'कोई छिपी हुई पापमय बात हो' सो नहीं।

ऋषिः-**यमी वैवस्वती**॥ देवता-**यमो वैवस्वतः**॥ छन्दः-**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**गान्धारः**॥

प्रारम्भिक दिन की बात

को अस्य वेद प्रथमस्याह्नः क ईं ददर्श क इह प्र वोचत्।
बृहन्मित्रस्य वरुणस्य धाम कदु ब्रव आहनो वीच्या नॄन्॥ ६॥

(१) उत्तर देता हुआ यम कहता है कि **अस्य प्रथमस्य अह्नः**=इस पहले दिन की बात को **कः वेद**=परमात्मा ही जानता है। **ईम्**=निश्चय से **कः ददर्श**=उस दिन की बात को तो प्रभु ही देखते हैं और **इह**-सृष्टि के इस प्रारम्भ समय में **कः प्रवोचत्**=वह अनिरुक्त (अनिर्वचनीय महिमा वाले) प्रजापति ही ज्ञान का प्रवचन करते हैं। उस समय की बात मनुष्य अनुमान से ठीक-ठीक नहीं जान पाता। और अगले सृष्टिक्रम में तो निश्चय से पति-पत्नी का सम्बन्ध दूर-दूर ही होता है। (२) **मित्रस्य**-सब के साथ स्नेह करनेवाले **वरुणस्य**=द्वेषादि का निवारण करनेवाले उस प्रभु का **धाम**-तेज **बृहत्**-बहुत अधिक है अथवा सभी प्राणियों की वृद्धि का कारण है। (३) यहाँ 'मित्र वरुण' शब्दों से प्रभु का स्मरण संकेत कर रहा है कि वेद का मूलभूत उपदेश 'प्रेम व निर्द्वेषता' ही है। **उ**=और वे **कत्**-(कं तनोति) सुख का विस्तार करनेवाले प्रभु ही **ब्रवः**=सृष्टि के प्रारम्भ में हमें उपदेश देते हैं, वे हमारे पिता ही नहीं, गुरु भी हैं। हम सब उनके शिष्य हैं, वे प्रभु **नॄन्**-सब उन्नतिशील मनुष्यों को **वीच्या**-हृदय तरंगों से अर्थात् भावनाओं से **आहनः**-आहत करते हैं (हन् गतौ) हमारे जीवनों को गतिमय बनाते हैं। भावनाओं के अभाव में हमारा जीवन गतिशून्य होता। प्रभु ने काम व भाव को 'वेदाधिगम व वैदिक कर्मयोग' के अनुष्ठान के लिये ही हमारे हृदयों में रखा है। (काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः) इस काम को अपवित्र न होने देने के लिये ही ज्ञान है एवं ज्ञान व भाव मिलकर हमारे जीवनों व सम्बन्धों को सुन्दर बनाते हैं।

भावार्थ—पहले दिन की बात को तो प्रभु ही जानते हैं। प्रभु का तेज अनन्त है। उनका मौलिक उपदेश यही है कि हम प्रेम व निर्द्वेषता से चलें। वे प्रभु ही हमें ज्ञान देते हैं और वे ही हमारे हृदयों को भावान्वित करते हैं।

ऋषिः-**यमी वैवस्वती**॥ देवता-**यमो वैवस्वतः**॥ छन्दः-**आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**गान्धारः**॥

मोह (अलग होने की घबराहट)

यमस्य मा यम्यं१ काम आगन्त्समाने योनौ सहशेय्याय।
जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्यां वि चिद् वृहेव रथ्येव चक्रा॥ ७॥

(१) **यमस्य**-तुझ यम का **कामः**=प्रेम (=मोह) **यम्यं मा**-मुझ यमी के प्रति **आगन्** प्राप्त हो। **समाने योनौ** समान ही घर में **सहशेय्याय**=साथ-साथ निवास के लिये कामना हो। अर्थात्

हमें अलग-अलग न होना पड़े। (२) यह ठीक है कि प्रभु ने कुछ ऐसी व्यवस्था की है समान रुधिर मिलकर, कुछ गुणों में नवीनता उत्पन्न न होकर, ह्रास ही होता है। इसलिए मनुष्य को दूर-दूर ही सम्बन्ध करने पड़ते हैं और इस प्रकार भिन्न-भिन्न घर परस्पर गुंथ जाते हैं। यदि ऐसा न होता तो मोहवश व्यक्ति एक ही घर में सीमित हो जाते, समाज की भावना का पोषण ही न हो पाता। भाई-बहिन का सम्बन्ध यदि उन्हें एक ही घर में सीमित कर देता है तो एक स्थान पर बहिन का सम्बन्ध होना तथा दूसरे स्थान पर भाई का सम्बन्ध होना कमजकम तीन घरों को मिला देता है। (३) पर यहाँ यमी यम की परीक्षा लेती हुई उसे प्रेम के नाते प्रेरित करती है कि हे यम! तूम मेरी कामना कर। और मैं **जाया इव**=पत्नी की तरह **पत्ये**-पति के रूप में तेरे लिये **तन्वं**=अपने शरीर को **रिरिच्याम्**=(विविच्यां, प्रकाशयेयम्) प्रकाशित करूँ। अर्थात् हम परस्पर पति-पत्नी के रूप में हों। **चित्**-और निश्चय से **विवृहेव**=हम धर्म-अर्थ व काम रूप पुरुषार्थों के लिये उद्योग करें। **रथ्या चक्रा इव**-जैसे रथ के दो पहिये रथ को उद्दिष्ट स्थल पर पहुँचानेवाले होते हैं उसी प्रकार हम पति-पत्नी इस जीवन रथ के दो पहियों के समान हों और जीवन को सफल बनायें।

भावार्थ—हे यम! क्या तुझे मेरे प्रति प्रेम नहीं? हमारा आपस में प्रेम स्वाभाविक है हम पति पत्नी बनकर धर्म, अर्थ, काम आदि पुरुषार्थों को सिद्ध करते हुए जीवन को सफल करें।

ऋषिः—**यमो वैवस्वतः**॥ देवता—**यमी वैवस्वती**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

देवों के चर

न तिष्ठन्ति न नि मिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति।
अन्येन मदाहनो याहि तूयं वि वृह रथ्येव चक्रा॥ ८॥

(१) यम उत्तर देता हुआ कहता है कि 'यह समझना कि हमारा यह सम्बन्ध छिपा रहेगा' ठीक नहीं है। मनुष्यों को न भी पता लगे, सूर्यादि देव तो हमारे इन कर्मों को देखते ही हैं। 'आदित्यचन्द्रावनलानिलौ च द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम्' 'सूर्य, चाँद, अग्नि, वायु, द्युलोक, पृथिवीलोक, जल, हृदय, यम, दिन, रात, दोनों सन्ध्याकाल तथा धर्म' ये सब मनुष्य के वृत्त को देख रहे हैं। ये **एते**-जो ये **देवानां स्पशः**=देवों के गुप्तचर मनुष्यों के आचरण को देखते हुए, **इह चरन्ति**-यहाँ विचरण करते हैं **न तिष्ठन्ति**-न तो खड़े होते हैं, **न निमिषन्ति**-न पलक मारते हैं। अर्थात् ये देव अन्तर्हित हुए-हुए हमारे सब कार्यों को जान रहे हैं। (२) इसलिये हे **आहनः**-गति के द्वारा सब बुराइयों का हिंसन करनेवाली (हन्=गति, हिंसा) मेरी बहिन! **मद् अन्येन**=मेरे से भिन्न व्यक्ति के साथ **तूयम्**=शीघ्र **याहि**-तू इस जीवनयात्रा में गतिशील हो, **तेन**=उसी के साथ **विवृह**=तू धर्म, अर्थ व काम रूप पुरुषार्थ के लिये उद्योग कर। उसी के साथ मिलने पर तुम दोनों **रथ्या चक्रा इव**-रथ के पहियों के समान जीवन यात्रा में आगे और आगे बढ़नेवाले होवो।

भावार्थ—हमारे प्रत्येक कर्म को देव देख रहे हैं। सो हम समीप सम्बन्धों को दूर रखकर दूर सम्बन्धों को ही बनाकर धर्मार्थ काम को सिद्ध करनेवाले हों।

ऋषिः—**यमो वैवस्वतः**॥ देवता—**यमी वैवस्वती**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

सुदूर-सम्बन्ध

रात्रीभिरस्मा अहभिर्दशस्येत्सूर्यस्य चक्षुर्मुहुरुन्मिमीयात्।
दिवा पृथिव्या मिथुना सबन्धू यमीर्यमस्य बिभृयादजामि॥ ९॥

(१) गत मन्त्र से यम 'मत् अन्येन'-इन शब्दों में अपने से भिन्न किसी श्रेष्ठ पुरुष से अपनी बहिन के सम्बन्ध को चाहता है। यम प्रार्थना करता है कि उसकी बहिन **रात्रीभिः अहभिः**=दिन-रात **अस्मा**-अपने इस पति के लिये **दशस्येत्**=आराम को देने की इच्छा वाली हो। (२) उसकी बहिन व उसके पति पर **सूर्यस्य चक्षुः**=सूर्य की आँख **मुहुः**=बारम्बार **उन्मिमीयात्**-खुले, अर्थात् इनका जीवन दीर्घ हो। (३) **दिवा पृथिव्या**=जैसे द्युलोक पृथिवीलोक के साथ **मिथुना**=परस्पर **सबन्धू**-साथ-साथ समान बन्धुत्व वाले होते हैं, इसी प्रकार ये भी बन्धुत्व वाले हों। द्युलोक व पृथिवीलोक कितने दूर-दूर हैं, इसी प्रकार यम भी चाहता है कि इसकी बहिन सुदूर सम्बन्ध वाली हो। मेरे से भी बहिन की दूरी कोई प्रेम को कम थोड़ा कर देगी, दूरी तो प्रेम को बढ़ा ही देती है 'distance enhances love' (४) **यमीः**=संयत जीवन वाली मेरी बहिन **यमस्य**=मुझ यम के **अजामि**-(अभ्रातरं) असम्बद्ध व्यक्ति को अर्थात् किसी सुदूर गोत्र वाले को ही **बिभृयात्**-भर्तृरूपेण ग्रहण करे। अर्थात् दूर ही कहीं सम्बन्ध वाली हो।

भावार्थ—पत्नी दिन रात पति के सुख का ध्यान करे, परस्पर मेल व प्रेम से ये दीर्घजीवी हों। द्युलोक व पृथिवीलोक जिस प्रकार परस्पर दूरी पर हैं, इसी प्रकार सम्बन्ध दूरी पर ही हों। दूर गोत्र में ही सम्बन्ध हो।

ऋषिः—**यमो वैवस्वतः**॥ देवता—**यमी वैवस्वती**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

उत्कृष्ट युग

आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि।

उप बर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्॥ १०॥

(१) यम चाहता है कि **घा**=निश्चय से **ताः**-वे **उत्तरा युगानि**=उत्कृष्ट **युग**=समय **आगच्छान्**-आयें **यत्र**-जहाँ **जामयः**-बहिनें **अजामि**=(अभ्रातरं) न भाई को ही, न रिश्तेदार को ही, सूदर गोत्र वाले को ही **कृणवन्**-पतिरूपेण स्वीकार करें। वस्तुतः सुदूर सम्बन्धों से ही उत्कृष्ट सन्तानों का निर्माण होता है, और एक समाज उत्कृष्ट युग में पहुँचती है। (२) हे यमि! तू **वृषभाय**=एक शक्तिशाली श्रेष्ठ पुरुष के लिये **बाहुम्**-अपनी भुजा को **उपबर्बृहि**=उपबर्हण व तकिया बनानेवाली हो। अर्थात् उस श्रेष्ठ पुरुष व तेरा सम्बन्ध परस्पर प्रेम पूर्ण हो। हे **सुभगे**=उत्तम भाग्य वाली **मत् अन्यं**-मेरे से विलक्षण पुरुष को ही **पतिम् इच्छस्व**-पति के रूप में वरण करनेवाली हो।

भावार्थ—सुदूर सम्बन्ध में ही सौभाग्य व सौन्दर्य है। यह सुदूर सम्बन्ध ही एक राष्ट्र में उत्कृष्ट युग को लाने का कारण बनता है।

ऋषिः—**यमी वैवस्वती**॥ देवता—**यमो वैवस्वतः**॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

संरक्षण व सुस्थिति

किं भ्रातासद्यदनाथं भवाति किमु स्वसा यन्निर्ऋतिर्निगच्छात्।

काममूता बह्वे३तद्रपामि तन्वा मे तन्वं१ सं पिपृग्धि॥ ११॥

(१) यमी परीक्षा लेती हुई फिर कहती है कि **यत्**=यदि **अनाथं भवाति**-बहिन अनाथ-नाथ व रक्षक से रहित हो जाती है तो **किं भ्राता असत्**=वह कुत्सित भाई ही होता है। भाई को तो बहिन का सदा रक्षक होना चाहिए। उ-और **यत्**=यदि भाई को **निर्ऋतिः**=दुर्गति व कष्ट **निगच्छात्**=प्राप्त हो तो वह **किं स्वसा**-कुत्सित ही तो बहिन है। अर्थात् हे यम! तू मेरा सदा

रक्षक हो, और मैं तुझे सदा सुख के पहुँचानेवाली बनूँ। ऐसा ही हमारा सम्बन्ध बना रहे। (२) **काम-मूता**=(मव बन्धने) प्रेम भाव से बद्ध हुई-हुई **एतत्**=यह बात **बहु**=फिर-फिर **रपामि**=मैं कहती हूँ कि **तन्वा**=अपने शरीर से **मे तन्वम्**=मेरे शरीर को **संपिपृग्धि**=तू सम्यक् संपृक्त करनेवाला हो। हम एक दूसरे की कमी को दूर करनेवाले हों, परस्पर पूरक हों।

भावार्थ—पति पत्नी का रक्षण करता है, पत्नी पति को सुस्थिति प्राप्त कराती है। परस्पर प्रेमभाव से युक्त होकर वे एक दूसरे की न्यूनताओं को दूर करनेवाले होते हैं। 'पति पत्नी' वस्तुतः एक दूसरे के पूरक हैं।

ऋषिः—**यमो वैवस्वतः**॥ देवता—**यमी वैवस्वती**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

सुख-समृद्धि-सम्पन्नता

न वा उ ते तन्वा तन्वं१ सं पपृच्यां पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्।
अन्येन मत्प्रमुदः कल्पयस्व न ते भ्राता सुभगे वष्ट्येतत्॥ १२॥

(१) यम उत्तर देता हुआ कहता है कि मैं **वा उ**=निश्चय से **ते तन्वा**=तेरे शरीर से **न संपपृच्याम्**=अपने शरीर को संपृक्त नहीं कर सकता, क्योंकि **यः**=जो भी भाई होकर **स्वसारं निगच्छात्**=बहिन के प्रति पतिभाव से प्राप्त होता है उसे **पापं आहुः**=ज्ञानी पुरुष पापी कहते हैं। सो इस सम्बन्ध में मैं तेरा नाथ व तू मेरी सुस्थिति का कारण थोड़े ही होगी? सो भाई के रूप में रहता हुआ ही मैं तेरा उत्तम रक्षक होऊँगा, और **स्वसा**=के रूप में ही तू मेरी उत्तम स्थिति का कारण बनेगी। (२) **मद् अन्येन**=मेरे से विलक्षण पुरुष के साथ ही **प्रमुदः कल्पयस्व**=प्रकृष्ट आनन्दों को साधनेवाली तू हो, अर्थात् घर को तू सुख-समृद्धि-सम्पन्न बनानी वाली हो। (३) **ते भ्राता**=तेरे सदा सुख को प्राप्त कराने की कामना वाला मैं तेरा भाई हे **सुभगे**=उत्तम भाग्य वाली! **एतत्**=इस पति रूप सम्बन्ध को **न वष्टि**=नहीं चाहता है। मैं तेरा भाई ही रहता हुआ तेरे सौभाग्यवर्धन की कामना वाला हूँगा।

भावार्थ—हम सुदूर सम्बन्धों को स्थापित करते हुए घरों को सुख-समृद्धि-सम्पन्न बनाएँ। फलते-फूलते हमारे घर आमोद-प्रमोद से भरपूर हों।

ऋषिः—**यमी वैवस्वती**॥ देवता—**यमो वैवस्वतः**॥ छन्दः—**आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

कक्ष्या और युक्त या बेल और वृक्ष

बतो बतासि यम नैव ते मनो हृदयं चाविदाम।
अन्या किल त्वां कक्ष्येव युक्तं परि ष्वजाते लिबुजेव वृक्षम्॥ १३॥

(१) सम्पूर्ण कई परीक्षा में उत्तीर्ण होते हुए अपने भाई को देखकर हृदय में प्रसन्न होती हुई यमी कहती है कि **बत उ बत असि**=(Joy or satisfaction तथा wonder or surprise) अरे भाई! तू तो मेरे हृदय को आनन्दित व आश्चर्यित करनेवाला है। (२) मैंने अभी तक **ते मनः**=तेरे मानसभावों को **हृदयं च**=व दिल की गहराई (दृढ़ि आस्तिकभाव) को **न एव अविदाम**=नहीं ही जाना था। आज तेरी महत्ता को समझ बड़ी प्रसन्नता हुई है। (३) यह ठीक ही है कि **अन्या किल**=निश्चय से मेरे से विलक्षण अर्थात् सुदूर गोत्र वाली ही कोई कन्या **त्वां परिष्वजाते**=तेरा आलिंगन करे। उसी प्रकार आलिंगन करे **इव**=जैसे कि **कक्ष्या**=कमर में बाँधी जानेवाली रज्जु **युक्तम्**=अपने से सम्बद्ध घोड़े को आलिंगित करती है अथवा **इव**=जैसे **लिबुजा**=बेल **वृक्षम्**=वृक्ष को आलिंगित करती है। तेरा अपनी पत्नी से सम्बन्ध तुझे शक्तिशाली बनानेवाला हो उसी प्रकार

जैसे कक्ष्या घोड़े को कसी हुई कमर वाला बनाती है और तू पत्नी का उसी प्रकार सहारा हो तथा उसकी उन्नति का कारण बन जैसे कि वृक्ष बेल का।

भावार्थ—सुदूर सम्बन्ध के होने पर पत्नी पति की शक्ति व उत्साह के वर्धन का कारण बने और पति पत्नी का आश्रय व वर्धक हों।

ऋषिः—**यमो वैवस्वतः**॥ देवता—**यमी वैवस्वती**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

परस्पर प्रेम व सुभद्रा संवित्

अन्यमू षु त्वं यम्यन्य उ त्वां परि ष्वजाते लिबुजेव वृक्षम्।
तस्य वा त्वं मन इच्छा स वा तवाधा कृणुष्व संविदं सुभद्राम्॥ १४॥

(१) यम भी बहिन के लिये मंगल कामना करता हुआ कहता है कि **यमि**-संयत जीवन वाली **त्वम्**-तू **उ** निश्चय से **अन्यम्** अपने से विलक्षण रुधिरादि धातुओं वाले पुरुष को ही **परिष्वजाते**-आलिंगन कर तथा **त्वां उ**-तुझे भी **अन्यः** तेरे से विलक्षण धातुओं वाला पुरुष ही **सुपरिष्वजाते**-सम्यक् आलिंगन करे। उसी प्रकार **इव**-जैसे कि **लिबुज** बेल **वृक्षम्**-वृक्ष को आलिंगन करती है। (२) **त्वम्** तू **तस्य मनः**-उसके मन को **वा**-निश्चय से **इच्छा**=चाहनेवाली बन, **वा स**=और वह भी **तव** तेरे मन को चाहनेवाला हो। तुम्हारा परस्पर प्रेम हो, तुम एक दूसरे के भावों को आदृत करनेवाले होवो, तुम्हारा परस्पर ऐकमत्य हो। (३) **अधा**=और अब, इस प्रकार पति के साथ प्रेम व ऐकमत्य वाली होकर **सुभद्रां संविदम्** कल्याणी बुद्धि को (understanding) अथवा परस्परैक्यमतिता को (Agreement) **कृणुष्व**-तू करनेवाली हो। अर्थात् तुम्हारे घर में शुभ विचार व सामञ्जस्य ही बना रहे।

भावार्थ—पति पत्नी का परस्पर प्रेम हो। घर में सदा 'सुभद्रा-संवित्' बनी रहे।

इस सम्पूर्ण सूक्त में यमी यम की परीक्षा लेती हुई उसे समीप सम्बन्ध के लिये प्रेरित करती है। परन्तु यम उस परीक्षा में उत्तीर्ण होकर दूर सम्बन्धों के महत्त्व को सुव्यक्त करता है। और प्रसंगवश 'घर को किस प्रकार सुन्दर बनाना चाहिए' इस बात का भी संकेत करता है। इस सुन्दर घर में 'किस प्रकार यज्ञादि में जीवन को बिताना चाहिए' इसका निर्देश करते हैं।

[११] एकादशं सूक्तम्

ऋषिः—**हविर्धान आङ्गिः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

यज्ञ और वर्षा

वृषा वृष्णे दुदुहे दोहसा दिवः पयांसि यह्वो अदितेरदाभ्यः।
विश्वं स वेद वरुणो यथा धिया स यज्ञियो यजतु यज्ञियाँ ऋतून्॥ १॥

(१) प्रस्तुत मन्त्रों का ऋषि 'आंगि' (अगि गतौ) क्रियाशील व्यक्ति है जो कि हविर्धानः=हवि का धारण करनेवाला है, यज्ञ करके यज्ञशेष का ही सेवन करनेवाला है। यह इस बात को समझता है कि **वृषा** वृष्टि का करनेवाला वह प्रभु **यह्वः**-महान् है (यह्व इति महतो नामधेयम्) अथवा 'यातश्च हूतश्च'-वे प्रभु जाने जाते हैं और पुकारे जाते हैं। अर्थात् जब मनुष्य संसार में अन्य शरण को नहीं देखता, उस समय प्रभु का ही सहारा ढूँढ़ता है और प्रभु की ही ओर जाता है और उसे पुकारता है। वे प्रभु '**अदाभ्यः**'-अहिंसित हैं, अपने कार्यों के अन्दर किसी से पराभूत नहीं होते। वे 'वृषा-यह्व व अदाभ्य' प्रभु **दिवः दोहसा**-द्युलोक के दोहन से **वृष्णे**-औरों पर सुखों की वर्षा करनेवाले, स्वार्थ से ऊपर उठे हुए यज्ञशील पुरुष के लिये **अदितेः**-अखण्डित याग क्रिया

से, अर्थात् निरन्तर यज्ञादि के द्वारा **पयांसि**=जलों का **दुदुहे**=दोहन व पूरण करते हैं। द्युलोक रूप गौ को प्रभु दोहते हैं, उस दोहन से वृष्टिजल रूप दूध प्राप्त होता है। (२) वस्तुतः **वरुणः**-हमारे सब कष्टों का निवारण करनेवाले **स**-वे प्रभु **यथा**=क्योंकि **धिया**=ज्ञानपूर्वक कर्मों से **विश्वम्**=सब आवश्यक पदार्थों को **वेद**=प्राप्त कराते हैं। इसलिए **स**=वह **यज्ञियः**=यज्ञशील पुरुष **यज्ञियान् क्रतून्**=यज्ञ करने योग्य ऋतुओं का लक्ष्य करके **यजतु**=यज्ञ करे। प्रभु प्रार्थना को पुरुषार्थ के उपरान्त ही सुनते हैं। अर्थात् प्रार्थना ही करते जाएँ और पुरुषार्थ न करें तो वह प्रार्थना व्यर्थ ही जाती है। सो हम कर्मशील बनें। कर्म भी समझदारी से करने चाहिएँ। 'धिया' शब्द ज्ञान व कर्म का वाचक होकर 'समझदारी से ही कर्मों के करने का' संकेत कर रहा है। समझदारी से कर्म करने का अभिप्राय यही है कि ऋतु व समय के अनुसार कर्म किया जाए। (३) सब से बड़ी बुद्धिमत्ता यही है कि मनुष्य अत्यन्त स्वार्थी बनकर अपने मुख में ही आहुति न देता रहे। 'स्वेषु आस्येषु जुह्वतः चेरुः'=अपने ही मुखों में आहुति देनेवाले तो असुर हो जाते हैं। हम असुर न बनकर 'देव' बनें। देव 'वृषा' होते हैं, औरों पर सुखों का वर्षण करनेवाले होते हैं। इस वृषा के लिये प्रभु ही वर्षण करते हैं, और सब अन्नादि ठीक उत्पन्न होते हैं।

भावार्थ—हम ऋतुओं के अनुसार यज्ञ करनेवाले बनें। यह यज्ञक्रिया 'अदिति' हो, अखण्डित हो। हमारे यज्ञ प्रतिदिन नियमितरूप से चलें।

ऋषिः—**हविर्धान आङ्गिः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

स्तवन व वेदज्ञान

रप॑द्ग॒न्ध॒र्वीरप्या॑ च॒ योष॑णा न॒दस्य॑ ना॒दे परि॑ पातु मे॒ मनः॑।
इ॒ष्टस्य॒ मध्ये॒ अदि॑ति॒र्नि धा॑तु नो॒ भ्राता॑ नो ज्ये॒ष्ठः प्र॑थ॒मो वि वो॑चति॥ २॥

(१) एक घर में गृहिणी घर का केन्द्र होती है, वही घर को बनाती है, बच्चों का निर्माण करती है। उसकी एक-एक क्रिया बच्चों के चरित्र पर प्रभाव डालनेवाली होती है। सो वह **रपत्**=प्रातः उठकर प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करती है। यह स्तोत्रोच्चारण घर के सारे वातावरण को सुन्दर बनाता है। बच्चों में भी इस से भक्तिभाव का उदय होता है। (२) **गन्धर्वीः**=यह (गांधारयति) वेदवाणी का धारण करती है। स्वाध्याय को जीवन का नियमित अंग बनाती है। (३) **अप्या**=(अप्सु साध्वी) कर्मों में यह उत्तम होती है। वेदज्ञान के अनुसार कर्मों में लगी रहती है। यह इस बात को समझती है कि अकर्मण्यता अलक्ष्मी का कारण होती है। (४) **च**=और इस कर्मशीलता के कारण ही यह **योषणा**=अवगुणों से अपने को पृथक् करनेवाली तथा गुणों से अपने को संपृक्त करनेवाली होती है। (५) गृहपति भी प्रार्थना करता है कि **नदस्य मे**=स्तवन करनेवाला जो मैं, उस मेरे **मनः**-मन को **नादे**=प्रभुस्तवन के होने पर **अदितिः**=अखण्डित यागक्रिया अथवा वे अविनाशी प्रभु **परिपातु**=सुरक्षित करें। प्रभुस्तवन में लगा हुआ मेरा मन वासनाओं के आक्रमण से आक्रान्त न हो। (६) **नः**=हम सब को **अदितिः**=वे अविनाशी प्रभु **इष्टस्य मध्ये**=यज्ञों के बीच में **निधातु**=स्थापित करें। प्रभु कृपा से हम सदा यज्ञ-यागों में प्रवृत्त रहें। (७) 'अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा' ऋषियों से सनातन वेदज्ञान का दोहन करनेवाला **नः**=हमारा **ज्येष्ठः**=सबसे बड़ा **प्रथमः**=प्रथम स्थान में स्थित **भ्राता**=भाई अर्थात् ब्रह्मा ('ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव') **विवोचति**=हमें विशिष्ट रूप से वेदज्ञान देता है।

भावार्थ—आदर्श घर वही है जिसमें कि पति-पत्नी प्रभु का स्तवन करनेवाले व यज्ञशील हैं। प्रभु कृपा से उनका मन यज्ञप्रवण बना रहता है। और वे आचार्यों से वेदज्ञान प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—हविर्धान आङ्गिः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराड्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

'भद्रा-क्षुमती-यशस्वती-स्वर्वती' उषा

सो चिन्नु भद्रा क्षुमती यशस्वत्युषा उवास मनवे स्वर्वती।
यदीमुशन्तमुशतामनु क्रतुमग्निं होतारं विदथाय जीजनन्॥ ३॥

(१) **सा उ चित् नु उषा**-और अब वह उषा निश्चय से **मनवे**-समझदार पुरुष के लिये **उवास** उदित होती है अथवा अन्धकार को दूर करती है। कैसी यह उषा? (क) **भद्रा**-(भदि कल्याणे सुखे च) कल्याण व सुख को देनेवाली, (ख) **क्षुमती**-(क्षु शब्दे) प्रार्थना व स्तुति के शब्दों वाली। अर्थात् जिसमें एक भक्त कल्याण कर कर्मों को ही करता है और प्रभु की प्रार्थना करता हुआ प्रभु के नामों का उच्चारण करता है। (ग) **यशस्वती**-यह उषा हमारे लिये कीर्ति वाली हो। अर्थात् हम इसके अन्दर ऐसे ही कार्यों को करें जो कि हमारे यश व कीर्ति का कारण बनें। (घ) **स्वर्वती**=यह उषा प्रकाश वाली होती है। अर्थात् इस समय स्वाध्याय को करते हुए हम अपने ज्ञान के प्रकाश को बढ़ानेवाले हों। (२) ऐसा उषाकाल हमारे लिये तभी उदित होता है **यद्**-जब कि हम **ईम्**-निश्चय से **उशन्तम्**-हमारे हित की कामना वाले, **उशताम्**-उन्नति की कामना वाले पुरुषों के **अनुक्रतुं**-संकल्प व पुरुषार्थ के अनुसार **अग्निम्**-अग्रगति के साधक **होतारम्**-हमें उन्नति के लिये सब पदार्थों के प्राप्त करानेवाले उस प्रभु को **विदथाय**-ज्ञान प्राप्ति के लिये **जीजनन्**-हम अपने हृदयों में आविर्भूत करते हैं। वस्तुतः जब हम अपने हृदयों में उस प्रभु के प्रकाश को देखने का दृढ संकल्प व पुरुषार्थ करते हैं तभी हम प्रभु को देख पाते हैं और उसी ही समय हमारे लिये उषाकाल सचमुच 'भद्र क्षुमान् यशस्वान् व स्वर्वान्' होते हैं। इस प्रकार के उषाकालों को बना सकनेवाला पुरुष ही 'मनु'-सुभद्र है।

भावार्थ—हम प्रभु प्राप्ति की प्रबल कामना व पुरुषार्थ वाले हों। तब हमारे लिये प्रत्येक उषा भद्र ही भद्र होगी।

ऋषिः—हविर्धान आङ्गिः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराड्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

आर्या विशः

अध त्यं द्रप्सं विभ्वं विचक्षणं विराभरदिषितः श्येनो अध्वरे।
यदी विशो वृणते दस्ममार्या अग्निं होतारमध धीरजायत॥ ४॥

(१) गत मन्त्र में प्रभु के आविर्भाव का उल्लेख था। **अध**=इस प्रभु के प्रकाश को होने पर **श्येनः**-(श्यैङ् गतौ) यह गतिशील **विः** जीव रूप पक्षी **इषितः**-प्रभु से प्रेरणा को दिया हुआ **त्यम्**-उस **द्रप्सम्**=हर्ष के कारणभूत सोम को **अध्वरे आभरत्**=अपने इस हिंसाशून्य जीवनयज्ञ में पोषित करता है जो सोम **विश्वम्**-शरीर में शक्ति को प्राप्त करानेवाला है, महान् (great) बनानेवाला है तथा **विचक्षणं**=विशिष्ट प्रकाश को प्राप्त करानेवाला है, मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि को दीप्त करके प्रकाश को भरनेवाला है। (२) यहाँ सोमरक्षण के उपायों का संकेत इस रूप में हुआ है कि मनुष्य श्येनः-गतिशील बने तथा विः-ऊँची उड़ान लेनेवाला हो, अपने सामने कोई ऊँचा लक्ष्य रखे। ऐसा होने पर ही वह वासनाओं से बचकर सोम का रक्षण कर पायेगा। सोमरक्षण के लाभ 'विश्वं व विचक्षणं' शब्दों से स्पष्ट है कि यह शरीर में हमें शक्ति देती है और मस्तिष्क में प्रकाश। (३) इस प्रकार सोम के शरीर में भरण के बाद **यद्**-जब **ई**-निश्चय से **आर्याविशः**=श्रेष्ठ प्रजाएँ **द्रप्सम्**=सब दुःखों व पापों के नष्ट करनेवाले अथवा दर्शनीय, **अग्निम्**-अग्रेणी-उन्नतिपथ

पर ले चलनेवाले, **होतारम्**=सब आवश्यक पदार्थों के प्राप्त करानेवाले प्रभु को **वृणते**=वरती हैं। **अध**-तो इसके बाद **धीः**-ज्ञानपूर्वक कर्म **अजायत**=उत्पन्न होता है। आर्य पुरुष ज्ञानपूर्वक कर्मों को ही करते हैं। उनके कर्मों में पवित्रता के होने का यह भी कारण है कि वे प्रभु का ही वरण करते हैं। प्रकृति में फँसने पर ही मनुष्य का मन संसार की माया से आवृत होकर सत्य के स्वरूप को नहीं देख पाता। परमात्मा की शरण में जानेवाले व्यक्ति माया को तैर जाते हैं और उनके कर्मों में सत्यता का प्रकाश होता है।

भावार्थ—सोमरक्षण के द्वारा हम शक्ति व प्रकाश को प्राप्त करें। आर्य लोग प्रभु का ही वरण करते हैं, सो उनके कार्य पवित्र होते हैं।

ऋषिः—**हविर्धान आङ्गिः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

ससवान्

सदा॑सि र॒ण्वो यव॑सेव॒ पुष्य॑ते॒ होत्रा॑भिरग्ने॒ मनु॑षः स्वध्व॒रः।

विप्र॑स्य वा॒ यच्छ॑शमा॒न उ॒क्थ्यं१॒॑ वाजं॑ सस॒वाँ उ॑पया॒सि॒ भूरि॑भिः॥ ५॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! आप सदा **रण्वः असि**=सदा रमणीय हो। आप उसी प्रकार सुन्दर हो **इव**=जैसे कि **पुष्यते**=पुष्ट होनेवाले के लिये **यवसा**=यवादितृण धान्य सुन्दर होते हैं। जो किसी प्रकार की हानि न करके मनुष्य को नीरोग ही नीरोग बनानेवाले हैं। इसी प्रकार प्रभु का सान्निध्य मनुष्य की अध्यात्म उन्नति के लिये अत्यन्त हितकर है। जौ शरीर के लिये, प्रभु का स्मरण मन के लिये समान रूप से हितकर हैं। (२) **होत्राभिः**=दानपूर्वक अदन की क्रियाओं से **मनुषः**=विचारशील पुरुष अथवा विचारपूर्वक क्रियाओं को करनेवाला व्यक्ति **स्वधरः**=उत्तम हिंसाशून्य कर्मों वाला होता है। (३) **यत्**=जब **शशमानः**=प्रभु का स्तवन करता हुआ अथवा प्रगतिवाला खूब क्रियाशील व्यक्ति **विप्रस्य**=विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले व्यक्ति के **उक्थ्यं**=प्रशंसनीय **वाजम्**=बल को प्राप्त होता है। अर्थात् प्रभुस्तवन से और क्रियाशीलता से वह प्रशंसनीय बल प्राप्त होता है जो कि हमारी सब न्यूनताओं को दूर करने में सहायक होकर हमें 'विप्र' बनाता है। (४) इस 'विप्र' के लिये कहते हैं कि तू **ससवान्**=(सस्यवान्) वानस्पतिक भोजनों का सेवन करनेवाला बनकर **भूरिभिः**=धारण व पोषण की क्रियाओं से (भृ=धारण पोषणयोः) अर्थात् लोक संग्रहात्मक कार्यों से **उपयासि**=प्रभु के समीप प्राप्त होता है। प्रभु को प्राप्त करने के लिये दो बातें आवश्यक हैं—(क) वानस्पतिक भोजन को अपनाना तथा (ख) अधिक से अधिक प्राणियों के हित में प्रवृत्त होना।

भावार्थ—मनुष्य दानपूर्वक अदन करता हुआ जीवन को यज्ञमय बनाता है। प्रभुस्तवन व क्रियाशीलता को अपनाकर प्रशस्त बल को प्राप्त करता है। शाकाहारी व लोकहितकारी बनकर प्रभु को पाते हैं।

ऋषिः—**हविर्धान आङ्गिः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

जारः—असुरः

उदी॑रय पि॒तरा॑ जा॒र आ भग॒मिय॑क्षति हर्य॒तो हृ॒त्त इ॑ष्यति।

विव॑क्ति॒ वह्निः॑ स्वप॒स्यते॑ म॒खस्त॑वि॒ष्यते॒ असु॑रो॒ वेप॑ते म॒ती॥ ६॥

(१) **पितराः**=द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को **उदीरय**=उत्कृष्ट गति प्राप्त करा। अर्थात् मस्तिष्क व शरीर दोनों को उन्नत कर। द्युलोक मस्तिष्क है और पृथिवीलोक शरीर। ये दोनों

माता व पिता के रूप में वर्णित होते हैं 'पृथिवी माता'। 'माता च पिता च' इस प्रकार विग्रह होने पर, एकशेष होकर, 'पितरौ' यही प्रयोग होता है। (२) **जारः**-(जरतेः स्तुतिकर्मणः) प्रभु का स्तोता **भगं**-भग को **आ इयक्षति**-सब प्रकार से अपने साथ संगत करता है। जीवन के प्रारम्भिक काल में 'ऐश्वर्यसाधक विज्ञान व धर्म' को वह अपने में दृढ़ करता है, इसके जीवन का मध्य 'यश व श्री' के साथ संगत होता है और जीवन का चरम भाग 'ज्ञान व वैरागमय' होता है। इस प्रकार उस भगवान् के सम्पर्क में आकर यह भी 'भग' वाला बनता है। (३) **हर्यतः**-(हर्य गतिकान्त्योः) उस प्रभु की ओर जानेवाला और उस प्रभु की ही कामना वाला यह **हृत्तः** हृदय से, हृदयस्थ उस प्रभु से **इष्यति**=प्रेरणा को प्राप्त करता है। (४) **वह्निः**-उस प्रेरणा को धारण करनेवाला यह व्यक्ति उस प्रेरणा को अपने जीवन से कहता है। अर्थात् उस प्रेरणा के अनुसार कार्य करता है। प्रेरणा को कार्य में अनूदित करता है। (५) इस **स्वपस्यते**-उत्तम (सु) कर्मों (अपस्) को अपनाने के लिये इच्छा करते हुए (यं) और इस प्रकार **तविष्यते** दिव्यगुणों की वृद्धि की इच्छा वाले पुरुष के लिये (तु वृद्धौ) यह जीवन **मखः**=यज्ञ बन जाता है। इसका जीवन ही यज्ञमय बन जाता है। (६) **असुरः**-(अस्यति) सब अशुभों को अपने से परे फेंकनेवाला यह **मती**-बुद्धि से **वेपते**=दुरितों को कम्पित करके दूर कर देता है। इसका जीवन पवित्र ही पवित्र हो जाता है।

भावार्थ—हम मस्तिष्क व शरीर की उन्नति करें। प्रभुस्तवन से भग का अपने जीवन में संगमन करें। हृदयस्थ प्रभु की वाणी को सुनें। उसके अनुसार कार्य करें। हमारा जीवन यज्ञमय हो जाए और हम बुद्धिपूर्वक कार्य करते हुए सब दुरितों को दूर करनेवाले हों।

ऋषिः-**हविर्धान आङ्गिः**॥ देवता-**अग्निः**॥ छन्दः-**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

द्युमान्-अमवान्

यस्ते॑ अग्ने सु॒म॒तिं मर्तो॒ अक्ष॒त्सह॑सः सूनो॒ अति॒ स प्र शृ॑ण्वे।
इषं॒ दधा॑नो॒ वह॑मानो॒ अश्वै॒रा स द्यु॒माँ अम॑वान्भूषति॒ द्यून्॥ ७॥

(१) हे **अग्ने**-(अगि गतौ गतिः ज्ञानम्) सर्वज्ञ व **सहसः सूनो**-बल के पुञ्ज सर्वशक्तिमन् प्रभो! **यः मर्तः**=जो भी मनुष्य **ते**-आपकी **सुमतिम्**-कल्याणी बुद्धि को **अक्षत्**-(अश्नुते) व्याप्त करता है अर्थात् प्राप्त करता है, **स**=वह **अति**-सर्वलोकातिग **प्रशृण्वे**-ख्याति को प्राप्त करता है। उसकी कीर्ति त्रिलोकी को भी लाँघ जाती है, यह अत्यन्त यशस्वी जीवनवाला होता है। (२) **इषं दधानः**=प्रभु की प्रेरणा को धारण करता हुआ, **अश्वैः** इन्द्रियों से उस प्रेरणा को **वहमानः**=क्रियारूप में लाता हुआ, **स**-वह पुरुष **आ द्युमान्**=सब ओर से प्रकाशमय जीवनवाला अर्थात् अत्यन्त उत्कृष्ट ज्ञान की ज्योतिवाला तथा **अमवान्**-बल वाला होता हुआ **द्यून् भूषति**=अपने दिनों को अलंकृत करता है, अर्थात् अपने जीवन के एक एक दिन को यह सुन्दर बनाता है। (३) मन्त्रार्थ से यह बात स्पष्ट है कि प्रभु की प्रेरणा संक्षेप में यही है कि 'ज्ञानी बनो और कर्म में लगे रहने के द्वारा शक्ति का सम्पादन करो'। ज्ञानपूर्वक कर्म करना ही वेद का सार है। यही ब्रह्म व क्षत्र के विकास का मार्ग है। प्रभु की प्रेरणा को सुनकर यह ज्ञानपूर्वक कर्म करनेवाला पुरुष अपने जीवन के एक एक दिन को सुन्दर बनाता है और ज्योतिर्मय तथा बलशाली होता है।

भावार्थ—प्रभु की प्रेरणा को सुनकर हम ज्योतिर्मय शक्ति सम्पन्न जीवनवाले बनें।

ऋषिः-**हविर्धान आङ्गिः**॥ देवता-**अग्निः**॥ छन्दः-**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

संहतिः=मेल

यद॑ग्न ए॒षा समि॑ति॒र्भवा॑ति दे॒वी दे॒वेषु॑ यज॒ता य॑जत्र।
रत्ना॑ च॒ यद्वि॒भजा॑सि स्वधावो भा॒गं नो॒ अत्र॒ वसु॑मन्त वीतात्॥ ८॥

(१) हे **अग्ने** हमारी उन्नतियों के साधक प्रभो! **यजत**=(यज=संगतिकरण) मेल के द्वारा हमारा त्राण करनेवाले प्रभो! **यत्**=जब **एषा**=यह **समितिः**=संहतिः=मेल **भवाति**=होता है, अर्थात् जब हम परस्पर मिलकर चलते हैं, जो मिलकर चलना **देवी**=(विजिगीषा) हमारी सब बुराइयों को जीतने की कामना वाला है अर्थात् जिस मेल से सब दुर्गतियाँ दूर होती हैं, जो मेल **देवेषु**=देव पुरुषों में सदा निवास करता है 'येन देवा न वियन्ति, ते च विच्छिद्यन्ते मिथः'। **यजता**=जो मेल हमें एक दूसरे का आदर करना सिखाता है (यज-पूजा) तथा जिस मेल से हम परस्पर मिलकर चलते हुए एक दूसरे का कल्याण कर पाते हैं **च**=और **यद्**=जब (२) हे **स्वधावः**=(स्व+धाव) आत्मतत्त्व का शोधन करनेवाले प्रभो! अथवा (स्वधा+व) अन्नों वाले प्रभो! आप हमें **रत्ना**=उत्तमोत्तम रमणीय वस्तुओं को **विभजासि**=प्राप्त कराते हैं तो **नः**=हमें **अत्र**=इस मानव जीवन में **वसुमन्तम्**=उत्तम निवास के देनेवाले **भागम्**=भजनीय धनों को **वीतात्**=(आगमय) प्राप्त कराइये। (३) वस्तुतः मेल के होने पर सब उत्तम वस्तुओं की प्राप्ति होती है, हम शत्रुओं को जीत पाते हैं (देवी) रमणीय धनों को, यह परस्पर का मेल ही, हमें प्राप्त कराता है। परिणामतः हमारा निवास उत्तम होता है।

भावार्थ—हम परस्पर मेल वाले हों, जिससे सब प्रकार से हमारा निवास उत्तम हो।

ऋषिः—**हविर्धान आङ्गिः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु की प्रेरणा

श्रुधी नो अग्ने सदने सधस्थे युक्ष्वा रथममृतस्य द्रवित्नुम्।
आ नो वह रोदसी देवपुत्रे माकिर्देवानामप भूरिह स्याः॥ ९॥

(१) प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **सदने**=इस शरीर रूप गृह में **सधस्थे**=मिल करके बैठने के स्थान हृदय में **नः श्रुधी**=हमारी बात को सुन। अर्थात् हृदय सधस्थ है, वहाँ आत्मा व परमात्मा दोनों ही का निवास है। हृदयस्थ प्रभु जीव को सदा प्रेरणा देते हैं। जीव को चाहिए कि उस प्रेरणा को सुने। प्रेरणा को सुनने में ही उसका कल्याण है। (२) प्रभु विशेष रूप से कहते हैं कि **रथं युक्ष्वा**=तू अपने रथ को जोत। यह तेरा रथ खड़ा ही न रह जाए। अर्थात् तू सदा क्रियाशील हो। (३) **अमृतस्य द्रवित्नुम्**=यह तेरा रथ अमृत का द्रावक हो। अर्थात् तू सदा मधुर शब्दों का ही बोलनेवाला हो, तेरा सारा व्यवहार ही मधुर हो। (४) **नः**=हमारे **रोदसी**=द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को **आवह**=सब प्रकार से धारण करनेवाला हो। तेरा शरीर स्वस्थ हो और मस्तिष्क दीप्त हो। ये तेरा शरीर व मस्तिष्क 'देवपुत्रे' हों, दिव्यगुणों के द्वारा अपने को पवित्र रखनेवाले व सुरक्षित करनेवाले हों (देवैः पुनाति त्रायते) (५) **इह**=तू अपने इस जीवन में **देवानाम्**=दिव्य गुण-सम्पन्न विद्वानों का **अपभूः**=निरादर करनेवाला व अपने से दूर करनेवाला **माकिः स्याः**=मत हो। अर्थात् तू सदा सत्संग करनेवाला हो।

भावार्थ—हम प्रभु की प्रेरणा को सुनें। प्रभु प्रेरणा दे रहे हैं कि—(क) क्रियाशील बनो, (ख) तुम्हारी वाणी व व्यवहार अमृत तुल्य हो, (ग) शरीर व मस्तिष्क को उत्तम बनाओ, (घ) सदा सत्संग की रुचि वाले बनो।

सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से हुआ है कि हम ऋतुओं के अनुसार यज्ञ करनेवाले बनें—(१) हम साधन व वेदज्ञान को अपनाएँ, (२) हमारा प्रत्येक उषाकाल भद्र हो, (३) हम प्रभु का वरण करनेवाले आर्य बनें, (४) शाकाहारी व लोकहितकारी बनकर प्रभु को पाने के अधिकारी हों, (५) हृदयस्थ प्रभु की वाणी को सुनें, (६) प्रेरणा को सुनकर ज्ञानवान् व बलवान् बनें, (७) ज्ञान के परिणाम स्वरूप हमारा परस्पर मेल हो, (८) हम सदा सत्संग में रुचि वाले हों, (९) ऋत व सत्य को अपनाकर शरीर व मस्तिक को सुन्दर बनायें।

[१२] द्वादशं सूक्तम्

ऋषिः—**हविर्धान आङ्गिः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ऋत व सत्य

द्यावा॑ ह॒ क्षामा॑ प्रथ॒मे ऋ॒तेना॑भिश्रा॒वे भ॑वतः स॒त्य॒वाचा॑।
दे॒वो यन्मर्ता॑न्य॒जथा॑य कृ॒ण्वन्त्सीद॒द्धोता॑ प्र॒त्यङ् स्वमसुं॒ यन्॥ १ ॥

(१) अध्यात्म में **द्यावा क्षामा**='द्युलोक व पृथिवीलोक' का अभिप्राय मस्तिष्क व शरीर ही है '**मूर्ध्नो द्यौः**, पृथिवी शरीरम्'। जैसे द्युलोक, सूर्य व नक्षत्रों से चमकता है, उसी प्रकार हमारा मस्तिष्क ब्रह्मविद्या के सूर्य से और विज्ञान के नक्षत्रों से चमकता हुआ हो। जैसे पृथिवी दृढ़ है उसी प्रकार हमारा शरीर भी दृढ़ होना चाहिए। **ह**=निश्चय से **द्यावाक्षामा**=मस्तिष्क व शरीर **प्रथमे**=मनुष्य के सब से प्रथम स्थान में है। मनुष्य का मौलिक कर्तव्य यही है कि वह मस्तिष्क व शरीर को स्वस्थ रखने का प्रयत्न करे। यदि हमारी शक्ति रुपया कमाने में ही अथवा व्यर्थ की कीर्ति को पाने में ही व्ययित हो गई और हमने शरीर व मस्तिष्क की उपेक्षा की तो यह हमारे जीवन की सब से बड़ी गलती होगी। (२) ये शरीर व मस्तिष्क क्रमशः **ऋतेन**=ऋत से, प्रत्येक कार्य को ठीक समय पर करने से तथा **सत्यवाचा**=सत्यवाणी से अर्थात् असत्य को सदा अपने से दूर रखने से **अभिश्रावे भवतः**=सदा अन्दर बाहर प्रशंसनीय होते हैं। शरीर व मस्तिष्क के ठीक होने पर हम घर में भी और बाहर भी कीर्ति को पाते हैं। शरीर का ठीक कहना 'ऋत' पर निर्भर करता है। 'प्रत्येक भौतिक क्रिया ठीक समय पर हो', यही 'ऋत' है। विशेषतः खाना-पीना व सोना-जागना तो अवश्य समय पर होना चाहिए। मस्तिष्क की पवित्रता के लिये 'सत्यं पुनातु पुनः शिरसि' इस ब्राह्मण वाक्य के अनुसार सत्य वाणी परम सहायिका है। (३) इस प्रकार शरीर के दृढ़ तथा मस्तिष्क के उज्ज्वल होने पर हम प्रभु के प्रिय होते हैं एक स्वस्थ व योग्य सन्तान ही पिता को प्रिय होता है और वे **देवः**= सब दिव्यगुणों के पुञ्ज प्रकाशमय प्रभु **यद्**=जब **मर्तान्**=हम मनुष्यों को **यजथाय**=अपने साथ सम्पर्क के लिये **कृण्वन्**=करते हैं तो वे **प्रत्यङ्**=हमारे अन्दर ही हृदयान्तरिक्ष में (inner, interior) **सीदत्**=विराजमान होते हुए **होता**=हमें सब आवश्यक पदार्थों के देनेवाले होते हुए **स्वम्**=अपनी **असुम्**=प्राणशक्ति को अथवा सब असुरों को दूर फेंकनेवाली शक्ति को **यन्**=प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हम ऋत व सत्य के द्वारा शरीर को दृढ़ व मस्तिष्क को उज्ज्वल बनायें। प्रभु के प्रिय बनकर, प्रभु सम्पर्क में आकर अन्तःस्थित प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न हों। यही हमारा मूल-कर्तव्य है।

ऋषिः—**हविर्धान आङ्गिः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

प्रथमः चिकित्वान्

दे॒वो दे॒वान्प॑रि॒भूर्ऋ॒तेन॒ वहा॑ नो ह॒व्यं प्र॑थ॒मश्चि॑कि॒त्वान्।
धू॒मके॑तुः स॒मिधा॒ भाऋ॑जीको म॒न्द्रो होता॒ नित्यो॑ वा॒चा यजी॑यान्॥ २ ॥

(१) प्रभु ऋत व सत्य का पालन करनेवाले जीव से कहते हैं कि **देवः**=शरीर से अजीर्ण व मस्तिष्क से दीप्त बननेवाला तू **ऋतेन**=इस ऋत के पालन से, व्यवस्थित जीवन से **देवान् परिभूः**=सब दिव्यगुणों को शरीर में चतुर्दिक् भावित करनेवाला हो। तेरे शरीर में यथास्थान उस-उस देवता की स्थिति हो। (२) तू **प्रथमः**=शरीर व मस्तिष्क को उत्तम बनाने वालों में सर्वाग्रणी

व **चिकित्वान्**=समझदार होता हुआ **नः**-हमारे **हव्यम्**=हव्य को **वहा**=वहन करनेवाला हो। अर्थात् तेरा जीवन यज्ञमय हो। तू सदा यज्ञशेष का ही सेवन करनेवाला बन, देकर बचे हुए को खानेवाला हो (हु दानादनयोः) (३) **धूमकेतुः**=(धू=कम्पने, केत=ज्ञान) तू ज्ञान के द्वारा वासनाओं को कम्पित करके अपने से दूर करनेवाला हो। (४) **समिधा**=ज्ञान की दीप्ति से **भाऋजीकः**=दीप्ति का अर्जन करनेवाला बन। अथवा 'ऋजुदीप्तिः'=सरल ज्ञान की दीप्ति वाला हो। (५) **मन्द्रः**=तेरा जीवन सदा प्रसन्नता-पूर्ण हो। **नित्यः होता**-तू सदा देनेवाला बन। वस्तुतः हम जितना देते हैं, उतना ही हमारा जीवन आनन्दमय होता है। (६) **वाचा यजीयान्**=ज्ञान की वाणी से तू सदा उस प्रभु का पूजन करनेवाला हो अथवा ज्ञान की वाणियों से अपना संग करनेवाला हो। अर्थात् सदा स्वाध्यायशील हो।

भावार्थ—प्रभु का आदेश है कि हे जीव! दिव्यगुणों को धारण कर, यज्ञशील हो, ज्ञान के द्वारा वासनाओं को कम्पित करनेवाला हो, ऋजुदीप्ति-सदा प्रसन्न-नित्य होता तथा ज्ञान की वाणियों से संगत करनेवाला हो।

ऋषिः-**हविर्धान आङ्गिः**॥ देवता-**अग्निः**॥ छन्दः-**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

गोदुग्ध व वनस्पति

स्वावृग्देवस्यामृतं यदी गोरतो जातासो धारयन्त उर्वी।
विश्वे देवा अनु तत्ते यजुर्गुर्दुहे यदेनी दिव्यं घृतं वाः॥ ३॥

(१) मनुष्य **देवस्य**=उस दिव्यगुणों के पुञ्ज प्रभु का **स्वावृक्**=उत्तमता से आवर्जन करनेवाला होता है। एक मनुष्य का झुकाव प्रभु की ओर होता है **यद्**=जब **ई**=निश्चय से गोः **अमृतम्**=गौ का अमृत तुल्य दुग्ध तथा **अतः गोः जातासः**=इस पृथ्वी से (गौ=भूमि) उत्पन्न वानस्पतिक भोजन **उर्वी**=इन द्यावापृथिवी को, मस्तिष्क व शरीर को **धारयन्त**=धारण करते हैं। अर्थात् जब एक मनुष्य गोदुग्ध व वानस्पतिक भोजनों का सेवन करता है तो उसका शरीर व मस्तिष्क दोनों बड़े उत्तम बनते हैं। और इस मनुष्य का झुकाव प्राकृतिक भोगों की ओर न होकर प्रभु की ओर होता है। (२) जब मनुष्य का झुकाव प्रभु की ओर होता है तो **तत्**=तब **विश्वेदेवाः**=सब दिव्यगुण **ते यजुः**=तेरे सम्पर्क को (यज=संगतिकरण) **अनुगुः**=अनुकूलता से प्राप्त होते हैं। (३) प्रभु की ओर झुकाव होने पर दिव्यगुण प्राप्त होते ही हैं, **यत्**=क्योंकि **एनी**=श्वेत-शुद्ध-शुक्त वेदवाणी **दिव्यम्**=दिव्य व अलौकिक **घृतम्**=ज्ञान-दीप्ति को तथा **वा**=(वार्) रोगों के निवारण को **दुहे**=पूरित करती है (वारणं वाः)। वेदवाणी ज्ञान को तो प्राप्त कराती ही है, यह वाणी मनुष्य की वृत्ति को सुन्दर बनाकर, उसे वासनाओं से ऊपर उठाकर, नीरोग भी बनाती है। यह वरदा वेदमाता 'आयुः=प्राणं' आयुष्य व प्राण को देनेवाली तो है ही।

भावार्थ—जब गोदुग्ध व वानस्पतिक भोजन हमारे शरीर व मस्तिष्क को धारण करते हैं तो हमारा झुकाव प्रभु की ओर होता है, हमें दिव्यगुण प्राप्त होते हैं और ज्ञान की वाणी हमारे में ज्ञान-दीप्ति व नीरोगता को प्राप्त कराती है।

ऋषिः-**हविर्धान आङ्गिः**॥ देवता-**अग्निः**॥ छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

द्यावापृथिवी का माधुर्य

अर्चामि वां वर्धायापो घृतस्नू द्यावाभूमी शृणुतं रोदसी मे।
अहा यद् द्यावोऽसुनीतिमयन्मध्वा नो अत्र पितरा शिशीताम्॥ ४॥

(१) **अपः** कर्मों के **वर्धाय**=(वर्धनम् वर्धः) वर्धन के लिये **वाम्** आप दोनों द्युलोक व पृथिवीलोक को **अर्चामि** मैं पूजित करता हूँ। ये मेरे शरीर व मस्तिष्क **घृतस्नू**-घृत का स्रावण करनेवाले हों। (घृत दीप्ति) मस्तिष्क में ज्ञान की दीप्ति हो। (घृत-मलक्षरण) शरीर मलों के क्षरण वाला हो, मलों के क्षरण से यह शरीर नीरोग हो। (२) **द्यावाभूमी** ये ज्ञानदीप्त मस्तिष्क तथा क्षरित मलों वाला शरीर **रोदसी**-(क्रन्दसी) प्रभु का आह्वान करनेवाले होते हुए **मे शृणुतम्** सदा मेरी बात सुननेवाले हों, अर्थात् मेरी अधीनता में हों, मेरे आज्ञावर्ती हों। अथवा ये प्रभु प्रेरणा को सुननेवाले हों। (३) **यद्** जब **द्यावः**=ज्ञानी स्तोता (दिव्-द्युतिस्तुति) ज्ञानी भक्त, **अहा**-प्रतिदिन **असुनीतिम् अयन्** प्राणों के मार्ग पर चलते हैं, अर्थात् उस जीवनमार्ग को अपनाते हैं जो प्राणशक्ति का वर्धन करनेवाला है तो **अत्र**-इस जीवन में **नः**-हमें **पितरा** द्यावापृथिवी (द्यौष्पिता पृथिवी माता) मस्तिष्क व शरीर **मध्वा** माधुर्य से **शिशीताम्**=संस्कृत कर दें। अर्थात् हमारी एक एक क्रिया जहाँ माधुर्य के लिये हुए हो वहाँ हमारा ज्ञान भी माधुर्यपूर्ण हो तथा मधुरता से ही दूसरों तक पहुँचाया जाये। वस्तुतः द्यावाभूमी का माधुर्य से पूर्ण होना ही जीवन के विकास की पराकाष्ठा है। इनको ऐसा बनाना ही इसका अर्चन है।

भावार्थ—हमारे मस्तिष्क व शरीर ज्ञान दीप्ति व क्षरित मलों वाले हों। हम प्राणरक्षण के मार्ग से चलें तथा अपने को मधुर बनायें।

ऋषिः—**हविर्धान आङ्गिः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

यशो-बलम् (श्लोकः+वाजः)

किं स्विन्नो राजा जगृहे कदस्याति व्रतं चकृमा को वि वेद।
मित्रश्चिद्धि ष्मा जुहुराणो देवाञ्छ्लोको न यातामपि वाजो अस्ति॥५॥

(१) वह **राजा**-देदीप्यमान (राज दीप्तौ) ब्रह्माण्ड का शासक प्रभु **किं स्वित्**-क्या **नः जगृहे**-हमारा ग्रहण करेगा? जैसे पिता पुत्र को गोद में लेता है उसी प्रकार क्या वे प्रभु हमें गोद में लेंगे? (२) **कत्**-कब (कदा) **अस्य**-इस प्रभु के **अतिव्रतम्**-तीव्र व्रतों को **चकृमा**-हम कर पाएँगे? अर्थात् उस पिता प्रभु की प्राप्ति के लिये साधनभूत महान् यम नियम आदि व्रतों का हम कब पूर्णतया पालन कर सकेंगे? इन बातों को तो **कः**-वह अनिर्वचनीय (शब्दातीत) प्रजापति प्रभु ही **विवेद**-जानते हैं। 'हमारे कर्म प्रभु प्राप्ति के योग्य कब होंगे'? यह बात तो प्रभु के ही ज्ञान का विषय हो सकती है। ज्यों ही हमारे कर्म उस योग्यता के होंगे त्यों ही प्रभु हमें अपनी गोद में अवश्य ग्रहण करेंगे। (३) वे प्रभु **चित् हि ष्मा**-निश्चय से **मित्रः** (प्रमीतेः जायते) मृत्यु व रोगों से बचानेवाले हैं, और **देवान्**=देववृत्ति वाले लोगों को **जुहुराणः** स्नेह पूर्वक अपने समीप पुकारनेवाले हैं (स्निग्धमाह्वयमानः सा०)। जब हम देव बनते हैं, तो हमें उस पिता का स्नेह प्राप्त होता ही है। (४) परन्तु जब तक हम उस योग्यता को नहीं भी प्राप्त कर पाते तब तक **न**-(संप्रति) वर्तमान काल में **याताम्**-गतिशील हम लोगों का **श्लोकः** यश और **वाजः अपि**-बल भी **अस्ति** होता ही है। अर्थात् जब तक हम पूर्णरूप से देव नहीं बन जाते तब तक प्रभु कृपा से हमें गतिशीलता के द्वारा यशस्वी बल तो प्राप्त हुआ-हुआ ही रहे। इस यशस्वी बल को प्राप्त करके हम देव बनने के लिये अग्रेसर होंगे।

भावार्थ—हम देव बनकर प्रभु स्नेह के पात्र हों। गतिशील बनकर यशस्वी बल वाले हों।

ऋषिः—हविर्धान आङ्गिः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

नाम-स्मरण की दुष्करता

दुर्मन्त्वत्रामृतस्य नाम सलक्ष्मा यद्विषुरूपा भवाति।
यमस्य यो मनवते सुमन्त्वग्ने तमृष्व पाह्यप्रयुच्छन्॥ ६ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार हम यशस्वी बल वाले होकर अविच्छिन्न प्रयत्न से देव बनेंगे और प्रभु के प्रिय होंगे। परन्तु हमारा यह प्रयत्न, प्रभु को भूल ही गये तो अवश्य विच्छिन्न हो जाएगा। सो हमें चाहिए कि प्रभु का स्मरण अवश्य रखें। यह बात ठीक है कि **अत्र**=यहाँ इस संसार में **अमृतस्य नाम**=उस अविनाशी प्रभु का नाम **दुर्मन्तु**=स्मरण करना कठिन है। (२) कठिन इसलिए है **यत्**=क्योंकि **सलक्ष्मा**=यह उत्तम लक्षणों वाली (लक्ष्मभिः सहिता) प्रकृति **विषुरूपा भवाति**=विविध सुन्दर रूपों वाली होती है। यह हिरण्मयी प्रकृति हमारे ध्यान को आकृष्ट करती है और हमें प्रभु से दूर ले जाती है। इसकी चमक हमें प्रभु नाम को विस्मृत करा देती है। वर्तमान में इस देह को धारण करके हम भी देही व साकार बने हुए हैं, प्रकृति है ही साकार। सो यह प्रकृति वर्तमान में हमारी 'सलक्ष्मा' है। हमारा झुकाव इस प्रकृति की ओर ही होता है और परिणामतः हमारे लिये प्रभु नाम-स्मरण बड़ा दुष्कर हो जाता है। (३) यदि आश्चर्यवत् **यः**=जो कोई मनुष्य **यमस्य**=उस नियन्ता प्रभु के **सुमन्तु**=उत्तम मनन योग्य नाम का **मनवते**=(अवबुध्यते) मनन करता है। **अग्ने**=हे अग्रेणी **ऋष्व**=दर्शनीय व जाने योग्य प्रभो! **तम्**=उस नाम-स्मरण करनेवाले को **अप्रयुच्छन्**=प्रमाद रहित होते हुए आप **पाहि**=रक्षित करते हो। यह स्तोता आप की रक्षा का पात्र होता है। (४) वस्तुतः यह कितने सौभाग्य का दिन होगा जब कि हम प्रभु नाम-स्मरण में लीन होंगे और प्रभु हमारी रक्षा कर रहे होंगे। यह प्रभु का स्तोता गतमन्त्र के 'याताम्' शब्द के अनुसार खूब क्रियाशील होता है। उस-उस क्रिया को करता हुआ प्रभु को भूलता नहीं, अपने को प्रभु का निमित्त जानता हुआ उन कर्मों का गर्व भी नहीं करता। यही व्यक्ति है जो कि प्रभु की रक्षा का पात्र होता है।

भावार्थ—प्रकृति की चमक के कारण यहाँ प्रभु नाम-स्मरण कठिन अवश्य है, परन्तु जब हम उस नाम का स्मरण कर पाते हैं तो प्रभु के द्वारा रक्षणीय होते हैं।

ऋषिः—हविर्धान आङ्गिः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः ॥

क्रियाशीलता व ज्ञान की उपासना

यस्मिन्देवा विदथे मादयन्ते विवस्वतः सदने धारयन्ते।
सूर्ये ज्योतिरदधुर्मास्य१क्तून्परि द्योतनिं चरतो अजस्रा॥ ७ ॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार प्रभु के रक्षण में चलनेवाले **देवाः**=देववृत्ति के लोग **यस्मिन्**=जिस समय प्रभु की गोद में रहते हुए, **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में **मादयन्ते**=हर्ष का अनुभव करते हैं, अर्थात् सदा ज्ञान-प्रधान जीवन बिताते हैं। (२) **विवस्वतः**=सूर्य के **सदने**=निवास-स्थान द्युलोक में **धारयन्ते**=अपना धारण करते हैं। 'द्युलोक' शरीर में मस्तिष्क है, सो जो लोग अपने को मस्तिष्क में धारित करते हैं, अर्थात् हृदय-प्रधान व भावुक वृत्ति के नहीं होते, समझदार=(sensible) तो होते हैं परन्तु बहुत महसूस कर जानेवाले=(sensitive) नहीं हो जाते। (३) **सूर्ये**='सूर्यः चक्षुर्भूत्वा०' अपनी आँखों में **ज्योतिः अदधुः**=प्रकाश को धारण करते हैं अर्थात् इनकी आँखों में सदा वह चमक होती है जो कि इनके मानस प्रसाद व उत्साह का संकेत करती है। (४) **मासि**=(चन्द्रमा

मनो भूत्वा०, मास्-(the moon) अपने मनों में **अक्तून्**-प्रकाश की किरणों को धारण करते हैं, अर्थात् हृदयस्थ प्रभु के प्रकाश को देखते हैं। (५) तो इस लोक समाज में **अजस्त्रा**=(अ+जस्=छोड़ना) कर्मों को सदा करनेवाले पति पत्नी **द्योतनिम्**-ज्ञान की ज्योति का **परिचरतः**-सदा उपासन करते हैं। अर्थात् आदर्श लोकों के घरों में 'क्रियाशीलता व ज्ञान की उपासना' निरन्तर चलती है।

भावार्थ—हम ज्ञानयज्ञों में आनन्द लें, सदा समझदारी से चलें, हमारी आँखों में ज्योति हो, मन में आह्लाद। क्रियाशील हों व ज्ञान के उपासक।

ऋषिः-**हविर्धान आङ्गिः**॥ देवता-**अग्निः**॥ छन्दः-**पादनिचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

निष्पापता व प्रभु-दर्शन

यस्मिन्देवा मन्मनि संचरन्त्यपीच्येः न वयमस्य विद्म।
मित्रो नो अत्रादितिरनागान्त्सविता देवो वरुणाय वोचत्॥ ८॥

(१) **यस्मिन्**=जिस परमात्मा की उपासना के होने पर **देवाः** देववृत्ति के लोग **मन्मनि**=ज्ञानस्वरूप में **संचरन्ति**-विचरण करते हैं, जो ज्ञानस्वरूप प्रभु **अपीच्ये** अन्तर्हित हैं, हृदय रूप गुहा में स्थित होते हुए भी हमारे ज्ञान का विषय नहीं बनते। **अस्य**-इस परमात्मा के स्वरूप को **वयम्**-हम **न विद्म**-नहीं जानते हैं। (२) परमात्मा हमारे हृदयों में ही हैं। ऐसा होते हुए भी वे हमारे ज्ञान का विषय नहीं बनते। हम प्रातः सायं वर्षों प्रभु का उपासन करते हैं और उसको पूरा पूरा जानते नहीं इसी से प्रभु को यहाँ 'अपीच्य' शब्द से स्मरण किया है। ये प्रभु **नः मित्रः**=हमारे मित्र हैं। **अदितिः** (अविद्यमाना दितिर्यस्मात्) अपने उपासक के स्वास्थ्य को न नष्ट होने देनेवाले हैं। 'मित्रः' रूप में उपासक को पापों से बचाते हैं, 'अदिति' रूप में रोगों से नष्ट नहीं होने देते। एवं प्रभु हमें आधि-व्याधियों से सुरक्षित करनेवाले हैं। (३) ये **सविता**-सब उत्तम प्रेरणाओं को देनेवाले **देवः**-ज्ञान प्रकाश के पुञ्ज प्रभु **अनागान्**=निरपराध जीवन वाले हम लोगों को **वरुणाय**=द्वेष-निवारण के लिये **वोचत्**-उपदेश दें। हमारा जीवन द्वेष शून्य होगा तभी हम प्रभु का साक्षात्कार कर पायेंगे।

भावार्थ—प्रभु हमारे मित्र हैं! निर्द्वेषता से ही हम प्रभु का साक्षात्कार कर पायेंगे।

ऋषिः-**हविर्धान आङ्गिः**॥ देवता-**अग्निः**॥ छन्दः-**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

मधु-सन्दृशता

श्रुधी नो अग्ने सदने सधस्थे युक्ष्वा रथममृतस्य द्रवित्नुम्।
आ नो वह रोदसी देवपुत्रे माकिर्देवानामप भूरिह स्याः॥ ९॥

(१) ११.९ पर इस मन्त्र की व्याख्या हो चुकी है। इसका सामान्य अर्थ इस प्रकार है—'प्रभु हमें प्रेरणा दें' इस बात को सुनकर प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू इस **सदने**-शरीररूप गृह में **सधस्थे**=मिलकर बैठने के स्थान हृदय में **नः श्रुधी**=हमारी बात को सुन। (२) **रथं युक्ष्व**=तू इस शरीर रूप रथ को जोत। तेरा यह रथ गतिशून्य न हो। (३) इस अपने रथ को **अमृतस्य द्रवित्नुम्**-अमृत का द्रावक बना। अर्थात् तेरे सब कार्य माधुर्य को लिये हुए हों। (४) **देवपुत्रे**=दिव्यगुणों व ज्ञान के प्रकाश से अपने को पवित्र व सुरक्षित करनेवाले **नः रोदसी**=हमारे मस्तिष्क व शरीर को **आवह**-धारण कर। (५) **इह** इस जीवन में तू **देवानाम्**=पवित्र जीवन वाले विद्वानों का **अपभूः**=निरादर करनेवाला **माकिः**=मत **स्याः**=हो।

सदा सत्संग को करनेवाला बन।

भावार्थ—हम क्रियाशील बनें। हमारा व्यवहार मधुर हो। सदा हमें देवों का संग प्राप्त हो।

सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से हुआ है कि हम ऋत व सत्य के पालन शरीर व मस्तिष्क को सुन्दर बनाएँ, (१) हम सर्वाग्रणी व समझदार बनने का प्रयत्न करें, (२) गोदुग्ध व वनस्पति का ही सेवन हों, (३) हम मधुर बनें, (४) यशस्वी बल वाले हों, (५) प्रभु नाम-स्मरण दुष्कर है, परन्तु उसे करना तो है ही, (६) हम क्रियाशील हों व ज्ञान के उपासक हों, (७) निष्पापता से प्रभु-दर्शन करनेवाले हों, (८) सदा सत्संग में चलें, (९) नमन के द्वारा प्रभु से ज्ञान को प्राप्त करें।

[१३] त्रयोदशं सूक्तम्

ऋषिः—**विवस्वानादित्यः**॥ देवता—**हविर्धाने**॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

ज्ञान का सम्पर्क

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्वि श्लोक एतु पथ्येव सूरेः।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः॥ १॥

(१) **वाम्**-आप दोनों के साथ **पूर्व्यम्**=सृष्टि के प्रारम्भ में होनेवाले **ब्रह्म**=ज्ञान को **नमोभिः**-नमन के द्वारा **युजे**-संगत करता हूँ। घर के अन्दर मुख्य पात्र 'पति-पत्नी' ही हैं। जब ये प्रातः-सायं उस प्रभु का आराधन करते हैं तो इन्हें वह 'पूर्व्य ब्रह्म' प्राप्त होता है। अथर्व० में कहा है कि 'येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः'=इनके घरों में उस ज्ञान का प्रकाश होता है जिससे देव विरुद्ध दिशाओं में नहीं जाते, जिस ज्ञान से वे परस्पर द्वेष नहीं करते और जो ज्ञान पुरुषों में ऐकमत्य को पैदा करनेवाला है। (२) आप लोगों को **सूरेः**=उस हृदयस्थ प्रेरक (षू प्रेरणे) प्रभु का **श्लोकः**=यशोगान व स्तवन **विएतु**-विशेषरूप से उसी प्रकार प्राप्त हो **इव**-जैसे **पथ्या**-हमें पथ्य भोजन प्राप्त होते हैं। ये पथ्य भोजन जैसे शरीर को स्वस्थ करनेवाले होते हैं उसी प्रकार प्रभु का यशोगान मानस स्वास्थ्य को देनेवाला होता है। प्रभु-स्तवन से हृदयों में वासनाओं का प्रादुर्भाव नहीं होता। (३) उस 'सूरि'=प्रेरक प्रभु की वाणी को **विश्वे**=सब **शृण्वन्तु**=सुनें। सुननेवाले ही तो उस **अमृतस्य**=अमृत प्रभु के **पुत्राः**=पुत्र होते हैं। ये उस अमृत प्रभु की प्रेरणा को सुनते हुए 'आत्मानं पुनन्ति जायन्ते च' अपने को पवित्र करते हैं और अपना रक्षण करते हैं। ये वे होते हैं **ये**=जो कि **दिव्यानि धामानि**=उस प्रभु दिव्य प्रभु के तेजों को **आतस्थुः**-अपने में स्थित करते हैं, उन तेजों के अधिष्ठाता बनते हैं। इनका अन्नमय कोश 'तेजस्विता' वाला, प्राणमयकोश 'वीर्य' वाला, मनोमयकोश 'ओज व बल' वाला, विज्ञानमयकोश 'मन्यु' वाला तथा आनन्दमयकोश 'सहस्' वाला होता है और इस प्रकार ये सब ओर दिव्य धामों से देदीप्यमान दिखते हैं। प्रभु के इन तेजों से देदीप्यमान ये पुरुष 'विवस्वान्'=प्रकाश की किरणों वाले 'आदित्यः' सूर्य ही हो जाते हैं। 'विवस्वान् आदित्य' ही इन मन्त्रों के ऋषि हैं।

भावार्थ—हम प्रभु-नमन के द्वारा वेदज्ञान को प्राप्त करें, प्रभु का यशोगान ही हमारा पथ्य हो, हम प्रभु की वाणी को सुनें, और प्रभु के सच्चे पुत्र बनकर दिव्य तेजों को प्राप्त करें।

ऋषिः—**विवस्वानादित्यः**॥ देवता—**हविर्धाने**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

विदाने-स्वासस्थे

यमेइव यतमाने यदैतं प्र वां भरन्मानुषा देवयन्तः।
आ सीदतं स्वमु लोकं विदाने स्वासस्थे भवतमिन्दवे नः॥ २॥

(१) गत मन्त्र के पति पत्नी से ही कहते हैं कि **यमे इव** एक जोड़ी की तरह सदा साथ रहनेवाले **यतमाने**-गृह को स्वर्ग बनाने के लिये प्रयत्न करते हुए **यदा एतम्** जब आप गतिशील होते हो। अर्थात् जब पति-पत्नी में कुछ भी विरोध नहीं होता। पूर्ण अविरोध वाले से जब ये गृह की उन्नति के लिये प्रयत्न में लगते हैं। (२) **वाम्**-आप दोनों को **मानुषा** मनुष्यों का हित करनेवाले अथवा विचारपूर्वक कर्म करनेवाले **देवयन्तः**-उस देव को अथवा दिव्यगुणों को अपनाने की कामना वाले **प्रभरन्** जब सदा उत्तम भावनाओं से भरते हैं, (३) तो आप **उ**-निश्चय से **स्वं लोकम्** अपने लोक में **आसीदतम्** आसीन होवो। अर्थात् घर को ही आप अपना स्थान समझो। सच्ची बात तो यह है कि प्रतिक्षण मन्दिर में ही रहनेवाले भी न बन जाओ। घर पर रहते हुए घर को अच्छा बनाने का प्रयत्न करो। समाज के ध्यान में कहीं बच्चों की तरफ से बेध्यानी न हो जाए। (४) **विदाने** नैतिक स्वाध्याय व सत्संग से ज्ञानी बनते हुए **स्वासस्थे** स्वस्थ शरीर रूप शोभन निवास स्थान वाले आप दोनों **नः** हमारे **इन्दवे** ऐश्वर्य को प्राप्त करने के लिये **भवतम्**-समर्थ होवो। अर्थात् आपका शरीर स्वस्थ हो, मस्तिष्क ज्ञानपूर्ण हो, आप दोनों प्रभु के तेज के अंश से देदीप्यमान बनो।

भावार्थ—घर में पति-पत्नी एक होकर चलें, उन्हें देव पुरुषों से प्रेरणा प्राप्त होती रहे। घर में रहते हुए वे ज्ञानी व स्वस्थ बनें। प्रभु के तेजस्व को प्राप्त करें।

ऋषिः—**विवस्वानादित्यः**॥ देवता—**हविर्धाने**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

पञ्च पदारोहण व चतुष्पद्यनुगमन

पञ्च पदानि रूपो अन्वरोहं चतुष्पदीमन्वेमि व्रतेन।
अक्षरेण प्रति मिम एतामृतस्य नाभावधि सं पुनामि॥ ३॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार प्रभु के ऐश्वर्य में अपने को **रूपः** आरोपित करनेवाला मैं **पञ्च पदानि**-पाँचों गन्तव्य यज्ञों का **अन्वरोहम्** आरोहण करता हूँ। अर्थात् गृहस्थ के लिये करने योग्य पाँचों यज्ञों को मैं नित्य प्रति करनेवाला बनता हूँ। मैं इस बात को नहीं भूलता कि 'अपंचयज्ञो मलिम्लुचः' पाँचों यज्ञों को न करनेवाला गृहस्थ चोर ही है। (२) मैं **चतुष्पदीम्**-'ऋग्, यजु, साम, अथर्व' रूप चार कदमों वाली इस वेदवाणी को **व्रतेन**-ब्रह्मचर्य व्रत के द्वारा **अन्वेमि**=क्रमशः प्राप्त करने का प्रयत्न करता हूँ। बिना व्रत के तो ज्ञान प्राप्ति का सम्भव ही नहीं है। मैं व्रत को अपनाता हूँ, और व्रत के द्वारा इस चतुष्पदी वेदवाणी का ग्रहण करता हूँ। (३) **एताम्** इस वेदवाणी को **अक्षरेण** उस अविनाशी प्रभु के द्वारा **प्रतिमिमे**-अपने अन्दर पूर्णरूप से निर्माण करता हूँ। वस्तुतः वेदार्थ का पूर्ण ज्ञान तो प्रभु ध्यान से ही होता है। प्रभु का ध्यान हमें मन्त्रार्थद्रष्टा ऋषि बनाता है। (४) **ऋतस्य नाभौ** ऋत के, यज्ञ के अथवा नियमितता-(regularity) के बन्धन में (णह बन्धने) **अधिसंपुनामि** मैं अपने को खूब ही पवित्र करता हूँ। यज्ञशीलता से तथा सब क्रियाओं को ठीक समय व ठीक स्थान पर करने से मैं अपने जीवन को पवित्र करता हूँ।

भावार्थ—हम पाँचों यज्ञों को करें। स्वाध्याय का व्रत लेकर वेदज्ञान को प्राप्त करें। प्रभु-ध्यान से इस वेदवाणी का साक्षात्कार करें। यज्ञों व नियम परायणता से जीवन को पवित्र करें।

ऋषिः—**विवस्वानादित्यः**॥ देवता—**हविर्धाने**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

उत्थान व पतन

देवेभ्यः कमवृणीत मृत्युं प्रजायै कममृतं नावृणीत।
बृहस्पतिं यज्ञमकृण्वत ऋषिं प्रियां यमस्तन्वं१ प्रारिरेचीत्॥ ४॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार ऋत के बन्धन में अपने को बाँधनेवाले पुरुष अपने जीवन को पवित्र करते हैं। ये पवित्र जीवन वाले व्यक्ति ही देव कहाते हैं। देव बन जाने के बाद हमें कहीं उस देवत्व का गर्व न हो जाए। हम देव बनकर कहीं पतित न हो जाएँ। यह पतन प्रभु की ओर से नहीं होता, हमारी ही स्वाभाविक अल्पता इस पतन का कारण हुआ करती है। मन्त्र में कहते हैं कि **देवेभ्यः**-इन देव लोकों के लिये **कं मृत्युम्**-किस मृत्यु का **अवृणीत**=प्रभु वरण करते हैं? वस्तुतः मनुष्य की स्वाभाविक न्यूनता ही उसे देव बन जाने के बाद भी मृत्यु की ओर ले जा सकती है। सो देवत्व प्राप्त करने के समय अधिक सावधानी की आवश्यकता है। (२) इसी प्रकार **प्रजायै**-सामान्य लोगों के लिये **कम्**-किस **अमृतम्**-अमृतत्व को न **अवृणीत**-उस प्रभु ने वरण नहीं किया? प्रभु ने तो वस्तुतः प्रत्येक व्यक्ति को अमृतत्व प्राप्ति के लिये आवश्यक सभी साधनों को प्राप्त कराया ही है। व्यक्ति ही उनका सदुपयोग नहीं करता और परिणामतः अमृतत्व प्राप्ति से वञ्चित रह जाता है। (३) परन्तु जो व्यक्ति इन अमृतत्व प्राप्ति के ठीक साधनों का प्रयोग करता हुआ उन्नतिपथ पर आगे बढ़ता है और उन्नत होता हुआ ऊर्ध्व दिशा का अधिपति 'बृहस्पति' बनता है, उस **बृहस्पतिं ऋषिम्**-वेदज्ञान के पति तत्त्वद्रष्टा को वे प्रभु यज्ञं **अकृण्वत**-(यज संगतिकरणे) अपने साथ मेल वाला करते हैं। उस समय यह बृहस्पति 'शरीर' होता है और प्रभु उसके 'अन्तरात्मा'। (४) **यमः**-ये अन्तःस्थित सर्वनियन्ता प्रभु **प्रियां तन्वम्**=अपने प्रिय शरीरभूत इस बृहस्पति को **प्रारिरेचीत्**-सब दोषों से रिक्त कर देते हैं। अर्थात् इसके जीवन को पवित्र व निर्दोष बना देते हैं।

भावार्थ—प्रभु ने हमें सब उन्नति के साधन प्राप्त कराये हैं। हम ज्ञानी व तत्त्वद्रष्टा बनकर प्रभु के प्रिय बनें। प्रभु हमें निर्दोष बनाएँगे।

ऋषिः—**विवस्वानादित्यः**॥ देवता—**हविर्धाने**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

'शिशु' व 'मरुत्वान्'

सप्त क्षरन्ति शिशवे मरुत्वते पित्रे पुत्रासो अप्यवीवतन्नृतम्।
उभे इदस्योभयस्य राजत उभे यतेते उभयस्य पुष्यतः॥ ५॥

(१) पिछले मन्त्र के 'प्रारिरेचीत्' की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि **सप्त**='कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'=दो कान, दो नासिका छिद्र, दो आँखें व मुख ये सातों **क्षरन्ति**=मल का क्षरण करके निर्मल हो जाते हैं। परन्तु ये मल का क्षरण करनेवाले किसके लिये होते हैं? (क) **शिशवे**=(शो तनूकरणे) बुद्धि को सूक्ष्म बनानेवाले के लिये। जो स्वाध्याय के द्वारा बुद्धि को निरन्तर सूक्ष्म बनाने का प्रयत्न करता है, उसकी इन्द्रियाँ निर्मल बनती है। (ख) **मरुत्वते**-प्राणों की साधना करनेवाले के लिये। प्राण साधना से इन्द्रियों के दोष दूर होते ही हैं। जो भी व्यक्ति बुद्धि को सूक्ष्म करने का प्रयत्न करता है तथा प्राणों की साधना करता है उसकी इन्द्रियाँ निर्मल बनती ही हैं। (२) **पुत्रासः**-प्रभु के पुत्र **पित्रे**=अपने पिता परमात्मा के लिये **ऋतं अपि अवीवृतन्**=ऋतकामी वरण करते हैं। प्रभु प्राप्ति के लिये ऋत का पालन आवश्यक है। 'ठीक समय पर कार्य करना तथा सत्य व्यवहार करना' ही ऋत है। इस ऋत के पालन करनेवाले को ही प्रभु प्राप्त होते हैं। (३) इस प्रकार ऋत का पालन करनेवाले **उभे इत्**-पति पत्नी दोनों ही **अस्य**-इस प्रभु के होते हैं। **उभयस्य**-शरीर व मस्तिष्क दोनों के ही **राजतः**=शासन करनेवाले होते हैं। **उभे यतेते**=ये दोनों गृह को स्वर्ग बनाने के लिये यत्न करते हैं। **उभयस्य पुष्यतः**-'अभ्युदय व निःश्रेयस' दोनों का ही पोषण करनेवाले होते हैं। प्रकृति विद्या व आत्मविद्या दोनों को ही पढ़ते

हैं। अपने जीवन में ये 'व्यक्तिवाद व समाजवाद' दोनों का ही पोषण करते हैं। ये प्रेय व श्रेय दोनों का ही ये पोषण करते हैं।

भावार्थ—शिशु व मरुत्वान् की इन्द्रियाँ निर्मल होती हैं। ऋत का पालक प्रभु का प्रिय होता है। ऐसे पति-पत्नी अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों को सिद्ध करनेवाले होते हैं।

सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से होता है कि प्रभु नमन से हमारे साथ ज्ञान का सम्पर्क होता है। (१) हम ज्ञानी व स्वस्थ बनते हैं, (२) हम यज्ञशील व स्वाध्याय के व्रती हों, (३) हम प्रभु के प्रिय शरीर बनें, (४) अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों का ही पोषण करें, (५) इसके लिये शासक नियामक प्रभु का पूजन करें।

[१४] चतुर्दशं सूक्तम्

ऋषिः—**यमः**॥ देवता—**यमः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

राजा यम का उपासन

प॒रे॒यि॒वांसं॑ प्र॒वतो॑ म॒हीरनु॑ ब॒हुभ्यः॒ पन्था॑मनुपस्पशा॒नम्।
वै॒व॒स्व॒तं सं॒गम॑नं॒ जना॑नां य॒मं राजा॑नं ह॒विषा॑ दुवस्य॥ १॥

(१) **प्रवतः**-(प्रकृष्ट कर्मवतः) उत्कृष्ट कर्मों वाले, **महीः**-(मह् पूजायाम्+इ) पूजा व उपासना करने वालों को **अनु** अनुकूलता से **परेयिवांसम्**-सुदूर स्थानों से भी प्राप्त होनेवाले प्रभु को **हविषा**-हवि के द्वारा पूजित करनेवाले होवो। प्रभु अज्ञानियों के लिये दूर से दूर होते हैं। वे ही प्रभु 'पश्यत्विस्वहैव निहितं गुहायाम्' ज्ञानियों के लिये यहाँ शरीर में ही हृदय-गुहा के भीतर निहित होते हैं। अज्ञानियों के लिये दूर हैं, ज्ञानियों के लिये वे यहीं हृदय-गुहा में निहित, समीपतम हो जाते हैं। इस प्रकार हृदयगुहा में प्रभुदर्शन के लिये आवश्यक है कि हम उत्कृष्ट कर्मों में लगे रहें (प्रवत्) तथा प्रातः-सायं उस 'एकतत्व' अद्वितीय सत् प्रभु का उपासन करनेवाले हों (महि) (२) वे प्रभु ही इन **बहुभ्यः**-अनेकों उपासकों के लिये **पन्थाम्**-जीवनमार्ग को **अनुपस्पशानम्**-अनुकूलता से दिखलानेवाले होते हैं। 'सोम्यानां भृमिरसि'-वे प्रभु इन शान्त सोम्य स्वभाव वाले उपासकों को अज्ञानवश विरुद्ध दिशा में जा रहे हों तो, मुख मोड़कर ठीक दिशा में चलानेवाले होते हैं। (३) वे प्रभु **वैवस्वतम्**-ज्ञान की किरणों वाले हैं। अपने उपासकों के हृदयों को इन ज्ञान किरणों से उज्ज्वल करनेवाले हैं। इस ज्ञान के प्रकाश में ही ये उपासक पथभ्रष्ट नहीं होते। (४) **जनानां संगमन**=ये प्रभु लोगों के एकत्रित होने के स्थान है। इस प्रभु में अधिष्ठित होने पर सब मनुष्य परस्पर एकत्व का अनुभव करते हैं। 'एक ही प्रभु के हम सब पुत्र हैं' यह भावना उन्हें परस्पर बाँधनेवाली होती है। (५) वे प्रभु **यमम्**-हृदय में स्थित होकर सब का नियमन करनेवाले हैं तथा **राजानम्**=सूर्य, चन्द्र व तारे आदि सभी लोक-लोकान्तरों की गति को व्यवस्थित (regulated), करनेवाले हैं। (६) इस प्रभु का उपासन हवि के द्वारा होता है। दानपूर्वक अदन ही उस प्रभु की सच्ची उपासना है। यज्ञशेष का सेवन करता हुआ पुरुष 'त्यक्तेन भुञ्जीथाः' इस प्रभु निर्देश का पालन करता है और प्रभु का प्रिय होता है।

भावार्थ—उत्कृष्ट कर्मों वाले उपासकों को प्रभु प्राप्त होते हैं। इन विनीत उपासकों को ही प्रभु मार्गदर्शन करते हैं। वे प्रभु ज्ञान की किरणों वाले हैं। हमें परस्पर एकत्व का अनुभव करानेवाले हैं। नियामक व शासक प्रभु का पूजन यही है कि हम यज्ञशेष का सेवन करें।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**यमः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

मार्ग का आक्रमण

यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ।
यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुरेना जज्ञानाः पथ्या३ अनु स्वाः ॥ २ ॥

(१) **प्रथमः यमः**=(प्रथविस्तारे) सम्पूर्ण जगत् में विस्तृत अर्थात् उस सर्वव्यापक व सर्वनियामक प्रभु ने **नः**=हमें **गातुम्**=मार्ग का **विवेद**=ज्ञान दिया है। **उ**=निश्चय से **एषा गव्यूतिः**=यह मार्ग **अपभर्तवा**=अपहरण के लिये **न**=नहीं होता। अर्थात् उस सर्वव्यापक (प्रथमः) सर्वनियामक (यमः) प्रभु से उपदिष्ट मार्ग पर चलने से हम इस संसार में विषयों से आकृष्ट नहीं हो जाते। (२) यह वह मार्ग है **यत्रा**=जिस पर **नः**=हमारे **पूर्वे**=अपना पूरण करनेवाले **पितरः**=रक्षणात्मक कार्यों में लगे हुए लोग **परेयुः**=चले हैं। वस्तुतः इस प्रभु से उपदिष्ट मार्ग पर चलने से ही वे अपना पूरण कर पाये हैं। इस मार्ग ने उनके जीवनों में न्यूनताओं को नहीं आने दिया। (३) **एना**=इस मार्ग से चलने के द्वारा **जज्ञानाः**=(जनी प्रादुर्भावे) अपनी शक्तियों का प्रादुर्भाव व विकास करनेवाले लोग ही **पथ्याः**=(पथि साधवः) उत्तम मार्ग पर चलनेवाले होते हैं और **अनुस्वाः**=उस प्रभु के अनुकूल व प्रिय होते हैं।

भावार्थ—प्रभु से उपदिष्ट मार्ग पर ही चलना चाहिए। यही मार्ग हमारे पूरण व विकास के लिये होता है।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**यमः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिटुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'मातली-यम-बृहस्पति'

मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः।
याँश्च देवा वावृधुर्ये च देवान्त्स्वाहान्ये स्वधयान्ये मदन्ति ॥ ३ ॥

(१) यह **मातली**=समझदार-बुद्धिमान्-पुरुष **कव्यैः**=पितरों को, वृद्ध माता-पिता को दिये जानेवाले अन्नों से **वावृधानः**=धर्म मार्ग पर खूब बढ़नेवाला होता है। एक समझदार व्यक्ति सदा माता-पिता को श्रद्धा व आदर से भोजन कराने के बाद ही स्वयं भोजन करता है। इस माता-पिता के श्राद्ध को ही वह प्रत्यक्ष-धर्म मानता है। माता-पिता की श्रद्धापूर्वक की गई सेवा से ही वह 'आयु, विद्या, यश व बल' में वावृधान होता है। (२) **यमः**=संयमी पुरुष **अंगिरोभिः**=(ये अंगाराः आसन् ते अंगिरसोऽभवन्) अंग-प्रत्यंग में रसों के द्वारा **वावृधानः**=बढ़ता है। इसके अंग सूखे काठ की तरह मृत से नहीं हो जाते। संयम इसकी शक्तियों की वृद्धि व स्थिरता का कारण बनता है। (३) **बृहस्पतिः**=उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त करनेवाला 'ब्रह्मणस्पति' **ऋक्वभिः**=विज्ञानों के द्वारा बढ़नेवाला होता है। अर्थात् यह सतत स्वाध्याय से अपने ज्ञान का वर्धन करता हुआ उन्नतिपथ पर अग्रेसर होता है और सर्वोच्च दिशा का अधिपति बनता है। (उर्ध्वा दिग् बृहस्पति-रधिपतिः) यह विज्ञान उसे उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचानेवाला होता है। (४) ये वे व्यक्ति हैं **ये च**=और जो **देवान् वावृधु**=देवताओं को बढ़ाते हैं, **यान् च**=और जिनको **देवा वावृधुः**=देव बढ़ाते हैं। अर्थात् यज्ञादि के द्वारा ये लोग देवों को तृप्त करते हैं और वृष्टि के द्वारा देव इनका सम्भावन करते हैं। (५) इनमें **अन्ये**=कई **स्वाहा**=(स्व+हा) स्वार्थ त्याग के द्वारा, अपनी सम्पत्तियों का यज्ञों में विनियोग करते हुए **मदन्ति**=आनन्द व हर्ष का अनुभव करते हैं। तथा **अन्ये**=दूसरे संसार के विषयों से विरत हुए-हुए **स्व-धया**=आत्मतत्त्व के धारण से मदन्ति=आनन्द का अनुभव करते हैं।

योगमार्ग पर चलते हुए समाधि की स्थिति में पहुँचकर अपने अन्दर ही अवर्णनीय आनन्द को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—हम समझदार बनकर माता पिता को श्रद्धा से भोजनादि प्राप्त कराएँ, संयमी बनकर अंग प्रत्यंग में रस वाले हों, बृहस्पति बनकर विज्ञानों का अध्ययन करें। यज्ञशील हों, आत्मचिन्तक। देवों को देकर सदा यज्ञशेष का ही सेवन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**यमः**॥ देवता—**यमः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

यम का प्रस्तर

इ॒मं य॑म प्रस्त॒रमा हि सीदाङ्गि॑रोभिः पि॒तृभि॑ः संविदा॒नः।

आ त्वा॒ मन्त्रा॑ः कविश॒स्ता व॑हन्त्वे॒ना रा॑जन्ह॒विषा॑ मादयस्व॥ ४॥

(१) हे **यम**-संयमी पुरुष! **हि**-निश्चय से **इमं प्रस्तरम्**-इस पत्थर के समान दृढ़ शरीर में **आसीद** बैठ, निवास करनेवाला बन। शरीर को दृढ़ बनाना मनुष्य का मौलिक कर्तव्य है। जिस प्रकार बाग की चारदिवारी का मजबूत होना अत्यावश्यक है, उसी प्रकार शरीर का दृढ़ होना आवश्यक है। इस शरीर की दृढ़ता के लिये साधन 'यम' शब्द से संकेतित हो रहा है, मनुष्य संयमी बनेगा तभी शरीर को दृढ़ बना पायेगा। संयम द्वारा शरीर के दृढ़ होने पर ही मनुष्य मन व बुद्धि की उन्नति कर सकता है। (२) इस मानस व बौद्धिक उन्नति के लिये **अंगिरोभिः**-(अगि गतौ) गतिशील **पितृभिः** पालनात्मक कर्मों में लगे हुए व्यक्तियों से **संविदानः** मिलकर तू ज्ञानचर्चा करनेवाला बन। आलसियों के साथ तेरा उठना-बैठना न हो, और ना ही तोड़ फोड़ के कामों में रुचि वालों के साथ तू मिल जुल। क्योंकि जैसों के साथ तेरा संग होगा वैसा ही तो तू बनेगा। इसी दृष्टिकोण से यह प्रार्थना है कि 'यथा नः सर्व इज्जनः संगत्या सुमना असत्' सत्संग से हमारे सब लोग उत्तम मन वाले हों। (३) सत्संग से सुमन बने हुए **त्वा**-तुझ को **कविशस्ताः**-उस महान् कवि-आनन्ददर्शी प्रभु से उपदिष्ट **मन्त्राः**-ज्ञान की वाणियाँ **आवहन्तु**-जीवन के मार्ग में ले चलनेवाली हों। अर्थात् तेरा जीवन का कार्यक्रम श्रुति के अनुकूल हो। 'मंत्रश्रुत्यं चरन्नसि'-मन्त्रों में जैसा हम सुनते हैं, उसके अनुसार हम जीवन को चलानेवाले हों। (४) हे **राजन्** इन वेदवाणियों के अनुसार व्यवस्थित जीवन (regulated)। वाले पुरुष! तू **एना**-इस **हविषा**-हवि के द्वारा **मादयस्व** आनन्द का अनुभव कर। अर्थात् तुझे देकर के बचे हुए को खाने में आनन्द का अनुभव हो। तू सदा हवि का सेवन करनेवाला बन। इस हवि के सेवन से ही तो वस्तुतः तू प्रभु का उपासक बनता है।

भावार्थ—संयम से हम शरीर को पत्थर के समान दृढ़ बनावें, गतिशील व रक्षणात्मक कार्यों में लगे हुए पुरुषों के साथ हमारा संग हो। वेदज्ञान के अनुसार हम जीवन को बनायें। हवि के सेवन में आनन्द का अनुभव करें।

ऋषिः—**यमः**॥ देवता—**यमः**॥ छन्दः—**पानिचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

सत्संग व यज्ञ में स्थिति

अङ्गि॑रोभि॒रा ग॑हि य॒ज्ञिये॑भि॒र्यम॑ वैरू॒पैरि॒ह मा॑दयस्व।

विव॑स्वन्तं हुवे॒ यः पि॒ता ते॒ऽस्मिन्य॒ज्ञे ब॒र्हिष्या नि॒षद्य॑॥ ५॥

(१) हे **यम** संयमी जीवन वाले पुरुष तू **इह**-इस जीवन में **अंगिरोभिः**-सदा क्रियाशील जीवन वाले और अतएव अंग प्रत्यंग में रस वाले, **यज्ञियेभिः**-यज्ञशील व संगतिकरण योग्य,

वैरूपैः-विशिष्ट तेजस्वी रूप वाले पुरुषों के साथ **आगहि**=आनेवाला हो, ऐसे पुरुषों के साथ ही तेरा उठना-बैठना हो। उन्हीं के साथ **मादयस्व**=तू आनन्द का अनुभव कर। (२) इन 'अंगरिस्-यज्ञिय-वैरूप' पुरुषों के संग से तेरा जीवन भी यज्ञमय व वासनाओं से ऊपर उठा हुआ हो। तू **अस्मिन् यज्ञे**=इस यज्ञमय जीवन में तथा **बर्हिषि**=वासना शून्य हृदय में (उद् बृह्-उखाड़ना) उस हृदय में, जिसमें से कि वासनाओं को उखाड़ दिया गया है, **आनिषद्य**=स्थित होकर **विवस्वन्तम्**-ज्ञान की किरणों वाले प्रभु को **हुवे**=प्रकारनेवाला हो, **यः ते पिता**=जो तेरे पिता हैं। वस्तुतः हमें यही चाहिए कि हम अपने जीवन को यज्ञमय बनाएँ, हृदय को वासनाशून्य करें। इन्हीं में स्थित होकर प्रभु का उपासन करें।

भावार्थ—हमारा संग सदा उत्तम हो, जीवन यज्ञमय हो, और हम प्रभु का उपासन करने (पुकारने) वाले हों।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**लिङ्गोक्ताः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सुमति व सौमनस

अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम॥ ६॥

(१) **नः**=हमारे **पितरः**=पालन करनेवाले (=Guardians) **अंगिरसः**=(अगि गतौ) गतिशील हैं और अतएव अंग-अंग में रस वाले हैं। वे **नवग्वाः**=स्तुत्य गति वाले हों (नु स्तुतौ) और इसी कारण नवदशक पर्यन्त जानेवाले अर्थात् नब्बे वर्ष की दीर्घ आयु तक पहुँचनेवाले हैं। **अथर्वाणः**=वे अपनी इस जीवन यात्रा में (न+थर्व) न डाँवाडोल होनेवाले हैं तथा सदा (अथ अर्वाङ्) आत्मनिरीक्षण करते हुए अपने दोषों को दूर करनेवाले हैं। **भृगवः**=(भ्रस्ज पाके) ज्ञान से अपने को परिपक्क करनेवाले हैं। और अतएव **सोम्यासः**=अत्यन्त सोम्य व विनीत हैं। ज्ञान का परिणाम विनीतता के रूप में होना ही चाहिए। (२) ऐसे पितरों के ही सम्पर्क में हमें रहना चाहिए। ये 'यज्ञिय'=संगतिकरण योग्य हैं। इनके सम्पर्क में आकर इन जैसे ही हम बनेंगे। **तेषां यज्ञियानाम्**=उन संगतिकरण योग्य पितरों की **वयम्**=हम **सुमतौ**=कल्याणी मति में तथा **भद्रे सौमनसे**=कल्याणकर उत्तम मन में **स्याम**=हों। हम भी उन पितरों की तरह 'सुमति व सौमनस' वाले हों। वस्तुतः इन पितरों ने ही निर्माण करना होता है। जैसे पितर होंगे, वैसे ही तो 'पुत्र' भी बनेंगे। (३) पितरों की विशेषताएँ 'अंगिरस्-नवग्व-अथर्वा-भृगु व सोम्य' इन शब्दों से सूचित हुई हैं। अन्नमयकोश के दृष्टिकोण से ये अंगिरस्=अंग-अंग में रस व शक्ति वाले हैं। प्राणमयकोश में प्रत्येक इन्द्रिय की प्रशंसनीय गति वाले=नवग्व हैं। मनोमयकोश में अथर्व=न ढाँवाडोल होनेवाले मन वाले 'स्थिरधी' हैं। विज्ञानमयकोश में 'भृगु'=परिपक्क ज्ञान वाले हैं और अन्ततः आनन्दमयकोश में अत्यन्त 'सोम्य' हैं, उस 'सोम'=शान्त प्रभु के साथ निवास करनेवाले हैं।

भावार्थ—इन पितरों के सम्पर्क में आकर इनकी 'सुमति व सौमनस' को प्राप्त करके हम भी ऐसे ही बनने के लिये यत्नशील हों।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**लिङ्गोक्ताः पितरो वा** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

यम और वरुण=संयम व निर्द्वेषता

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः।
उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवम्॥ ७॥

(१) **यत्रा**-जिस मार्ग पर **नः** हमारे **पूर्वे** अपना पूरण करनेवाले **पितरः** रक्षक लोक **परेयुः**-उत्कृष्टता से चलते हैं उन्हीं **पूर्व्येभिः** पूरण करने में उत्तम अर्थात् सब न्यूनताओं को दूर करनेवाले **पथिभिः**=मार्गों से **प्रेहि**-चल और इन्हीं मार्गों से ही **प्रेहि**=चल। हमें चाहिए यही कि हम अपने पितरों के उत्तम मार्ग पर ही चलने का प्रयत्न करें। (२) प्रभु जीव से कहते हैं कि तू अपने मार्गदर्शन के लिये **यमं** यम को **च**-और **वरुणं देवं**-वरुण देव को **पश्यासि** देख। यम के जीवन की विशेषता 'जीवन का नियन्त्रण' है और 'वरुण' द्वेष का निवारण करनेवाला, द्वेषशून्य सब के प्रति प्रेमपूर्ण है। इनको देखने का अभिप्राय यह है कि हम भी नियन्त्रित जीवन वाले व द्वेषशून्य बनें। (३) **उभा** ये दोनों नियन्त्रित जीवन वाले तथा द्वेषशून्य व्यक्ति **राजाना** चमकनेवाले होते हैं (राज् दीप्तौ)। इनका जीवन दीप्त होता है, और **स्वधया मदन्ता** (स्व+धा) आत्मतत्त्व के धारण से हर्ष का अनुभव करते हैं। 'यम' बनकर ये पूर्ण स्वस्थ होते हैं और स्वास्थ्य की दीप्ति से चमकते हैं तथा 'वरुण' व निर्द्वेष होने के कारण ये अपने हृदय में आत्मप्रकाश को देखते हैं और इस प्रकार आत्मतत्त्व के धारण से आनन्द का अनुभव करते हैं।

भावार्थ—हमारा मार्ग वही हो जो यम व वरुण का है। संयम हमें स्वास्थ्य की दीप्ति दे, और निर्द्वेषता हमें प्रभु का प्रकाश देखने के योग्य बनाकर आनन्दित करे। यम हमारे शरीरों को पवित्र करे और वरुण मनों को। संयमी बनकर हम व्याधियों से बचें। और वरुण बनकर आधियों से ऊपर उठें।

ऋषिः—**यमः**॥ देवता—**लिङ्गोक्ताः पितरो वा**॥ छन्दः—**आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

फिर घर की ओर

सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन्।
हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छस्व तन्वा सुवर्चाः॥ ८॥

(१) प्रभु जीव को निर्देश करते हैं कि **पितृभिः**=पालनात्मक कर्मों में लगे हुए पुरुषों के साथ **संगच्छस्व** तू संगति करनेवाला हो। इनके संग में आकर तू भी निर्माणात्मक कार्यों की प्रवृत्ति वाला ही होगा। (२) **यमेन सम्** (गच्छस्व) संयमी पुरुषों के साथ तेरा मेल हो। यह इसलिए आवश्यक है कि इनके सम्पर्क में तेरा जीवन भी संयमी बन पाएगा। (३) **परमे व्योमन्**=इस उत्कृष्ट हृदयान्तरिक्ष में तू **इष्टापूर्तेन** (संगच्छस्व)-इष्ट और आपूर्त की भावना से युक्त हो। तेरा वृत्ति यज्ञात्मक कर्मों की हो तथा तू वापी-कूप तड़ाग आदि लोकहित की चीजों के निर्माण की वृत्ति वाला हो। (४) **अवद्यं हित्वाय**-सब निन्दनीय अशुभ कर्मों को छोड़कर **पुनः**-फिर **अस्तम्** अपने घर, ब्रह्मलोक में **एहि**-आनेवाला बन। (५) इसी दृष्टिकोण से तू **सुवर्चाः**=उत्तम वर्चस् वाला बनकर **तन्वा**=विस्तृत शक्तियों का शरीर से **संगच्छस्व**-संगत हो। तेरा शरीर पूर्ण स्वस्थ हो और तू अपने शरीर की शक्तियों का विस्तार करनेवाला बन। बीमार व क्षीण शक्ति शरीर से हम जीवनयात्रा को क्या पूर्ण कर पायेंगे और किस प्रकार मोक्ष में पहुँच सकेंगे?

भावार्थ—हमारा सम्पर्क संयमी निर्माणात्मक कार्यों में लगे पुरुषों के साथ हो। हमारे हृदयों में भी यज्ञादि उत्तम कर्मों के करने का संकल्प हो। अशुभ से दूर होकर हम ब्रह्मलोक को प्राप्त करें। यात्रा की पूर्ति के लिये स्वस्थ शरीर वाले हों।

ऋषिः—**यमः**॥ देवता—**लिङ्गोक्ताः पितरो वा**॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

यात्रा का अवसान

अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोकमक्रन्।
अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्यवसानमस्मै॥ ९॥

(१) गत मन्त्र के 'हित्वायावद्यं' का ही व्याख्यान करते हुए कहते हैं कि **अपेत**=सब दुरितों से दूर होने के लिये यत्न करो **वीत (वि इत)**=विशिष्ट मार्ग पर चलो। **च**=और **वि-सर्पत**=विशेषरूप से गतिशील बनो। **अतः**=इसी दृष्टिकोण से **पितरः**=रक्षक लोग **अस्मै**-इसके लिये **लोकम् अक्रन्** प्रकाश को प्राप्त कराते हैं। पितरों से आलोक को प्राप्त करके ये अशुभ से दूर होते हुए शुभ मार्ग का ही आक्रमण करते हैं। (२) इस प्रकार **अहोभिः**=(अ+हन्) एक-एक क्षण के सदुपयोग के द्वारा, समय को नष्ट न करने के द्वारा, **अद्भिः**=(आपः=रेतः) रेतःकणों की रक्षा के द्वारा तथा **अक्तुभिः**=ज्ञान की रश्मियों के द्वारा **व्यक्तम्**=विशेषरूप से अलंकृत **अवसानम्**=जन्म-मरण चक्र के अन्त को **अस्मै**=इस साधक के लिये **यमः**=सर्वनियन्ता प्रभु **ददाति**=देते हैं, इसको जन्म-मरण चक्र से मुक्त कर देते हैं। एवं स्पष्ट है कि मोक्ष प्राप्ति का साधन यही है कि हम जीवन को बड़ा अलंकृत व सुशोभित बनाएँ। जीवन को अलंकृत करने के लिये—(क) समय को व्यर्थ न जाने दें, (ख) रेतःकणों का रक्षण करें, (ग) प्रकाश की किरणों को प्राप्त करें। सदा उत्तम कर्मों में लगे रहने से ही वीर्यरक्षण होता है और उससे ज्ञानाग्नि समिद्ध होकर हमारा जीवन प्रकाशमय होता है। इस प्रकाश से जीवन सुशोभित होगा तभी हम मोक्ष के अधिकारी होंगे।

भावार्थ—हम पितरों से प्रकाश को प्राप्त करके सदा उत्तम कर्मों में लगे रहने से शक्ति के रक्षण के द्वारा ज्ञानाग्नि को समिद्ध करें। यही हमारे मोक्ष का मार्ग है।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**श्वानौ**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

दो श्वा

अति॑ द्रव सार॒मे॒यौ श्वानौ॑ चतु॒र॒क्षौ श॒बलौ॑ सा॒धुना॑ प॒था।
अथा॑ पि॒तॄन्त्सु॑वि॒दत्राँ॒ उपे॑हि य॒मेन॒ ये स॑ध॒माद॒ं मद॑न्ति ॥ १० ॥

(१) जीवन के अन्दर काम-क्रोध उन दो श्वानों (=कुत्तों) के समान हैं जो कि **सारमेयौ**=सरमा के पुत्र हैं। सृगतौ से 'सरमा' शब्द बनता है। ये बड़े चञ्चल हैं, काम-क्रोध का स्थिरता से सम्बन्ध नहीं है। **श्वानौ**-(श्वि वृद्धौ) ये निरन्तर बढ़नेवाले हैं। काम-क्रोध बढ़ते ही जाते हैं। काम उपभोग से शान्त होने की बजाय इस प्रकार बढ़ता चलता है जैसे कि हवि के द्वारा अग्नि। **चतुरक्षौ**=ये चार आँखों वाले हैं, सदा सावधान हैं। इन्हें जरा-सा मौका मिला और इन्होंने हमारे पर आक्रमण किया। हम स्वयं भी सदा सावधान रहेंगे, और उत्तम कर्मों में लगे रहेंगे तभी इनसे बच सकेंगे। **शबलौ**=ये रंगबिरंगे हैं। नाना रूपों में ये प्रकट होते हैं। (२) प्रभु कहते हैं कि **साधुना पथा**=उत्तम मार्ग से इनको **अतिद्रव**=लाँघ जा। सदा उत्तम कर्मों में लगे रहना ही वह उपाय है जिससे कि हम काम-क्रोध को जीत पाते हैं। (३) **अथा**=और **सु-विद-त्रान्**=उत्तम ज्ञान के द्वारा त्राण करनेवाले **पितॄन्**=पितरों के **उपेहि**=समीप आनेवाला हो। इनका सत्संग तुझे ज्ञान की रुचि वाला तथा उत्तम कर्मों को करनेवाला बनाएगा। (४) तू उन पितरों के समीप उपस्थित हो **ये**=जो कि **यमेन**=उस सर्वनियन्ता प्रभु के **सधमादं मदन्ति**-साथ आनन्द का अनुभव करते हैं। इन प्रभु के उपासकों के सम्पर्क से तेरी भी वृत्ति प्रभु उपासना की होगी। 'सुविदत्रान्' शब्द ज्ञान का संकेत करता है, 'पितृन्'=रक्षणात्मक कर्मों का, और 'यमेन सधमादं' उपासना का। एवं हमारा सम्पर्क ऐसे ही लोगों के साथ हो जो कि ज्ञानी-कर्मतत्पर व उपासक हैं। ये ही आदर्श पितर हैं। इनके सम्पर्क से ही हम काम-क्रोध रूप यम के श्वानों को लाँघ जायेंगे।

भावार्थ—हम उत्तम पितरों के सम्पर्क से ज्ञानी बनकर, सुपथ से चलते हुए, काम-क्रोध को जीतनेवाले बनें।

ऋषिः—**यमः**॥ देवता—**श्वानौ**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

उपादेय 'काम-मन्यू' (स्वस्ति व अनमीव)

यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ।
ताभ्यामेनं परि देहि राजन्त्स्वस्ति चास्मा अनमीवं च धेहि॥ ११॥

(१) हे **यम**-सर्वनियन्ता प्रभो! **यौ** जो **ते** आपके **श्वानौ**=(श्वि गतिवृद्ध्योः) गति द्वारा वृद्धि के कारणभूत **रक्षितारौ**-हमारे जीवन की रक्षा करनेवाले, **चतुरक्षौ** सदा सावधान, **पथिरक्षी** मार्ग के रक्षक व **नृचक्षसौ** (Look after चक्ष्) मनुष्यों का पालन करनेवाले काम व क्रोध हैं, **ताभ्याम्** उन देवों के लिये **एनम्** इस पुरुष को **परिदेहि**-प्राप्त कराइये। **च** और हे **राजन्** संसार के शासक व व्यवस्थापक प्रभो! इन रक्षक काम व क्रोध के द्वारा **अस्मै**-इस पुरुष के लिये **स्वस्ति** उत्तम स्थिति को, कल्याण को **च**-तथा **अनमीवम्**-नीरोगता को **धेहि**-धारण करिये। (२) 'काम क्रोध' प्रबल हुए तो ये मनुष्य को समाप्त कर देनेवाले हैं। काम उसके शरीर को जीर्ण करता है तो क्रोध उसके मन को अशान्त बना देता है। ये ही 'काम क्रोध' सीमा के अन्दर वद्ध होने पर मनुष्य के रक्षक व पालक (रक्षितारौ नृचक्षसौ) हो जाते हैं। काम उसे वेदाधिगम (ज्ञान प्राप्ति) व वैदिक कर्मयोग उत्तम कर्मों में लगाकर (काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः मनु) **स्वस्ति** उत्तम स्थिति प्राप्त कराता है। और मर्यादित क्रोध ही मन्यु है (यह मन्यु उसे उपद्रवों से आक्रान्त नहीं होने देता) इस प्रकार ये काम व मन्यु उस 'यम राजा' के द्वारा हमारे कल्याण के लिये हमारे में स्थापित किये जाते हैं। चाहते हुए हम आगे बढ़ते हैं (काम्य) और जैसे फुंकार मारता हुआ साँप सब प्राणियों से किये जानेवाले उपद्रवों से जैसे बचा रहता है, उसी प्रकार हम भी उचित क्रोध को अपनाकर 'अनमीव' बने रहते हैं।

भावार्थ—सामान्यतः अतिमर्याद रूप में विनाशक काम-क्रोध हमारे लिये संयत रूप में होकर 'स्वस्ति व अनमीव' को सिद्ध करें।

ऋषिः—**यमः**॥ देवता—**श्वानौ**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

'भद्र असु'=उत्तम जीवन

उरूणसावसुतृपा उदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु।
तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुमद्येह भद्रम्॥ १२॥

(१) गत मन्त्रों में वर्णित काम क्रोध **उरूणसौ**-बड़ी नाक वाले हैं। सेवन से ये बढ़ते ही जाते हैं। **अ-सु-तृपौ**=ये कभी अच्छी तरह तृप्त हो जाएँ, सो बात नहीं है 'भूय एवाभिवर्धते'-ये तो उत्तरोत्तर बढ़ते ही चलते हैं। **उदुम्बलौ (उद् बलौ)** अत्यन्त प्रबल हैं। इनको जीतना सुगम नहीं है। और अपराजित हुए-हुए ये **यमस्य दूतौ**=यम के दूत हैं, हमें मृत्यु के समीप ले जाते हैं। ये दोनों दूत **जना अनु चरतः**-सदा मनुष्यों के पीछे चलते हैं। अर्थात् ये हमारे अन्दर स्वाभाविक रूप से रखे हुए हैं। (२) अब यदि ये प्रबल हो जाएँ तो ये हमें समाप्त कर देते हैं, और यदि हम प्रबल बनकर इनको अपने वश में रखें तो ये हमारे सेवक होते हैं और हमारा कल्याण करनेवाले बन जाते हैं। प्रबल जीवित रूप में ये हमें सोने की (gold) तरह समाप्त करनेवाले होते हैं। तथा भस्मीभूत हुए-हुए ये स्वर्णभस्म की तरह हमारे जीवन का कारण बनते हैं। सो हम इन्हें ज्ञानचक्षु से भस्मीभूत करनेवाले हों जिससे **तौ**=ये काम व क्रोध **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **पुनः**-फिर **अद्य** आज **इह**-यहाँ **भद्रं असुम्**-शुभ जीवन को **दाताम्**=प्राप्त कराएँ और हम **दृशये सूर्याय**=

दीर्घकाल तक सूर्य दर्शन करनेवाले व दीर्घजीवी हो सकें। गत मन्त्र के अनुसार स्वस्ति व अनमीव को प्राप्त करके पूर्ण शतवर्ष के जीवन वाले हों।

भावार्थ—काम-क्रोध अत्यन्त प्रबल हैं, परन्तु हमारे लिये तो ये वशीभूत हुए-हुए भद्र जीवन को दें जिससे हम दीर्घकाल तक सूर्य दर्शन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**यमः**॥ देवता—**यमः**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

यम की प्राप्ति

यमाय सोमं सुनुत यमाय जुहुता हविः। यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः॥ १३॥

(१) **यमाय**=उस सर्वनियन्ता प्रभु की प्राप्ति के लिये **सोमं सुनुत**-सोम का अपने में उत्पादन करो। प्रभु 'यम' हैं, मनुष्य भी 'यम'-संयमी बनकर ही उस प्रभु का सच्चा उपासक बन पाता है। यह संयमी पुरुष सोम का सम्पादन करनेवाला होता है। (२) **यमाय**-उस प्रभु की प्राप्ति के लिये **हविः जुहुता** हवि के देनेवाले बनो। 'कस्मै देवाय हविषा विधेम'=उस सुखस्वरूप देव का हवि के द्वारा ही तो हम पूजन करते हैं, यज्ञशेष का सेवन ही हवि का स्वीकार करना है। हम सदा पाँचों यज्ञों को करके यज्ञशेष को ग्रहण करें। (३) **यमम्**-उस सर्वनियन्ता प्रभु को **ह**=निश्चय से **यज्ञः**-'देवपूजा संगतिकरण व दान' इन धर्मों का पालन करनेवाला ही **गच्छति**=प्राप्त होता है। वह उस यम को प्राप्त होता है जो कि **अग्निदूतः**=उस अग्नि नामक प्रभु का दूत बनता है, संदेशवाहक बनता है। प्रभु से दिये गये ज्ञान को जो सर्वत्र प्रचारित करनेवाला होता है। और **अरंकृतः**=अपने जीवन को सद्गुणों से अलंकृत करता है, अपने जीवन को सद्गुणों से अलंकृत किये बिना वह औरों में ज्ञान का प्रचार कर भी तो नहीं सकता।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति के लिये आवश्यक है कि—(क) हम सोम का सम्पादन करें, (ख) ज्ञान का प्रसार करनेवाले बनें, (ग) अपने जीवन को सद्गुणों से मण्डित करें।

ऋषिः—**यमः**॥ देवता—**यमः**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

घृतवत् हवि

यमाय घृतवद्धविर्जुहोत प्र च तिष्ठत। स नो देवेष्वा यमद्दीर्घमायुः प्र जीवसे॥ १४॥

(१) **यमाय**=उस सर्वनियन्ता प्रभु की प्राप्ति के लिये **घृतवत्**-'मलों के क्षरण व ज्ञान की दीप्ति' वाली **हविः जुहोत**=हवि के देनेवाले बनो। अर्थात् प्रभु प्राप्ति के लिये मन में से राग-द्वेष आदि मलों को दूर करो, मस्तिष्क को, स्वाध्याय द्वारा ज्ञान से दीप्त करो तथा सदा यज्ञशेष का सेवन करनेवाले बनो। (२) इस प्रकार मन की निर्मलता, मस्तिष्क की दीप्ति, तथा यज्ञशेष के सेवन रूप त्याग से प्रभु की प्राप्ति तो होती है। **च**=साथ ही, इस संसार में **प्रतिष्ठत**=प्रतिष्ठा को भी पावो। ये कर्म, विशेषतः दान हमारी प्रतिष्ठा का भी कारण बनता है। (३) **स**=वे प्रभु **नः**=हमें **देवेषु**-देवताओं में होनेवाले **दीर्घम् आयुः**=दीर्घ जीवन को **आयमत्**-दें जिससे **प्रजीवसे**=हम जीवन को प्रकृष्ट व उत्तम बना पायें। साधना के लिये भी दीर्घ जीवन सहायक होता है। 'दीर्घ जीवन' देवताओं को प्राप्त होता है। वह दीर्घ जीवन हमें भी प्राप्त हो, और उस जीवन में हम देव बनने का प्रयत्न करें।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति के लिये आवश्यक है कि—(क) हम निर्द्वेष हों, (ख) दीप्त-ज्ञान वाले हों, (ग) त्याग की वृत्ति वाले हों। इस साधना के लिये हमें दीर्घ जीवन प्राप्त हो।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**यमः** ॥ छन्दः—**विराड्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

ऋषि–नमस्कार

यमाय मधुमत्तमं राज्ञे हव्यं जुहोतन। इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः ॥ १५ ॥

(१) **यमाय** सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का नियमन करनेवाले, **राज्ञे**=संसार को व्यवस्थित (regulated) करनेवाले उस प्रभु की प्राप्ति के लिये **मधुमत्तमं हव्यम्**-अत्यन्त माधुर्य से युक्त हव्य को **जुहोतन**=अपने में आहुत करो। अर्थात् हम मधुरतम वाणी का ही प्रयोग करें, और सदा त्यागपूर्वक उपभोग करें, यज्ञशेष का ही सेवन करनेवाले बनें। (२) इस प्रभु की प्राप्ति के लिये ही हम उन **ऋषिभ्यः**-प्रभु का साक्षात्कार करनेवाले ज्ञानियों के लिये **इदं नमः**=इस नमस्कार को करते हैं जो ज्ञानी **पूर्वजेभ्यः**-हमारे पूर्वज हैं, आयुष्य में भी हमारे से बड़े हैं, **पूर्वेभ्यः**-अपना पूरण करनेवाले हैं, और **पथिकृद्भ्यः**=हमारे लिये मार्ग को बनानेवाले हैं। इन ऋषियों का अनुसरण करते हुए हम पथभ्रष्ट नहीं होते।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति के लिये आवश्यक है कि हम (क) अत्यन्त मधुर बनें, (ख) हव्य का ही सेवन करें, (ग) मार्गदर्शक ज्ञानियों का सत्कार करें।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**यमः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

त्रि–कद्रुक

त्रिकद्रुकेभिः पतति षळुर्वीरेकमिद् बृहत्। त्रिष्टुब्गायत्री छन्दांसि सर्वा ता यम आहिता ॥ १६ ॥

(१) मन्त्र का ऋषि 'वैवस्वत यम' अर्थात् ज्ञान की किरणों वाला संयमी पुरुष **त्रिकद्रुकेभिः** (कदि आह्वाने) तीनों कालों में प्रभु के आह्वान के साथ **पतति**-चलता है, प्रातः, मध्याह्न व सायं तीनों समय प्रभु की प्रार्थना करता है। अथवा जीवन के प्रातःसवन में, प्रथम २४ वर्षों में, जीवन के माध्यान्दिन सवन में, मध्यम ४४ वर्षों में, और जीवन के सायन्तन सवन, अन्तिम ४८ वर्षों में यह प्रभु प्रार्थना से अपने को पृथक् नहीं करता। (२) 'ज्योतिः गौः आयुः' नामक तीन याग विशेष 'त्रिकद्रुक' कहलाते हैं। यह यम इन यागों को करता हुआ जीवन में चलता है। यह स्वाध्याय के द्वारा ज्ञान-ज्योति का सम्पादन करता है, प्राण-साधना द्वारा गौओं अर्थात् इन्द्रियों को बड़ा शुद्ध बनाता है और क्रियाशीलता के द्वारा दीर्घजीवन को प्राप्त करता है अथवा उत्तम आयुष्यवाला होता है। (३) इसके जीवन में **षड् ऊर्वीः**='द्यौश्च पृथिवी च आपश्च ओषधयश्च ऊर्क् च सूनृता च' द्युलोक अर्थात् ज्ञानदीप्त मस्तिष्क, पृथिवी अर्थात् विस्तृत शक्ति सम्पन्न शरीर, आपः=अर्थात् रेतस् (आपः रेतो भूत्वा), ओषधयः-अर्थात् दोषों का दहन करनेवाले सात्त्विक अन्न, ऊर्क्-बल और प्राणशक्ति और सूनृता-प्रिय सत्यभक्ति का वाणी, ये छः ऊर्वियाँ **आहिताः**=स्थापित होती हैं, (४) **एकम्**=शरीर में केन्द्र स्थान में स्थापित सब से महत्त्वपूर्ण साधन मन (हृदय) **इत्**=निश्चय से **बृहत्**=बड़ा व विशाल होता है, (५) और अन्त में **त्रिष्टुप्**=काम-क्रोध-लोभ तीनों को रोक देना, **गायत्री** (गयाः प्राणाः तान् तत्रे)-प्राणों का रक्षण, **छन्दांसि**-पापों का छादन अर्थात् बुरी वृत्तियों का दूरीकरण **ता सर्वा**=वे सब बातें **यमे**-इस संयमी पुरुष में **आहिता (वि)**-स्थापित होती हैं।

भावार्थ—हम सदा प्रभु स्मरण के साथ चलें। हमारे शरीर व मस्तिष्क दोनों ही ठीक हों, जल व ओषधियों का हम प्रयोग करें, प्राणशक्ति व सूनृत वाणी वाले हों। हमारा मन विशाल हो। काम-क्रोध-लोभ को रोकें। प्राणों का रक्षण करें। पापों से अपने को दूर रखें।

सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से होता है कि नियामक प्रभु का हम हवि के द्वारा उपासन करें,

(१) सदा प्रभु से उपदिष्ट मार्ग पर चलें, (२) हम स्वार्थ-त्याग वाले व आत्मतत्त्व का धारण करनेवाले बनें, (३) हमारा शरीर प्रस्तर तुल्य हो, (४) सत्संगों व यज्ञों में हमारी स्थिति हो, (५) सत्संग से सुमति व सौमनस की हमें प्राप्ति हो, (६) हम संयमी व द्वेषशून्य बनें, (७) बुराई को छोड़कर अपने घर ब्रह्मलोक की ओर चलें, (८) प्रभु कृपा से हमारी यात्रा पूर्ण हो, (९) उत्तम मार्ग से चलते हुए हम काम-क्रोध को लाँघ जाएँ, (१०) काम-क्रोध को वशीभूत करके हम कल्याण व नीरोगता को प्राप्त करें, (११) वशीभूत काम-क्रोध से हमें उत्तम जीवन प्राप्त हो, (१२) प्रभु प्राप्ति के लिये हम जीवनों को सद्गुणालंकृत करें, (१३) निर्मल मन वाले, ज्ञानदीप्त मस्तिष्क वाले तथा त्याग पूर्वक उपभोग वाले बनें, (१४) मार्ग-दर्शक ऋषियों के लिये नतमस्तक हों, (१५) सदा प्रभु स्मरण के साथ जीवन में चलें, (१६) हमें पितरों का रक्षण प्राप्त हो।

[१५] पञ्चदशं सूक्तम्

ऋषिः—**शङ्खो यामायनः**॥ देवता—**पितरः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अवर-पर-मध्यम पितर

उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः।
असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु॥ १॥

(१) इन मन्त्रों का ऋषि '**यामायनः**'=यम पुत्र अर्थात् अत्यन्त संयमी जीवनवाला '**शंखः**'=शान्त इन्द्रियों वाला है। यह प्रार्थना करता है कि हमारे जीवनों में **अवरे पितरः**=सब से प्रथम स्थान में प्राप्त होनेवाले माता-पिता रूप पितर **उदीरताम्**=उत्कृष्ट गति वाले हों। वे हमारे जीवनों में चरित्र व शिष्टाचार की स्थापना के लिये यत्नशील हों। (२) **उत्**=और **मध्यमाः**=मध्यम श्रेणी के पितर अर्थात् हमारे जीवनों के मध्यकाल में शिक्षा के द्वारा हमारा रक्षण करनेवाले आचार्य (उदीरताम्) ज्ञान प्रदान की क्रिया में सदा सचेष्ट हों। (३) **उत्**=और **परासः**=जीवन के परभाग में हमारे घरों में प्राप्त होनेवाले अतिथि रूप पर पितर सदा सत्प्रेरणा देते हुए (उदीरताम्) उत्कृष्ट गति वाले हों। (४) 'मातृ देवो भव-पितृ देवो भव-आचार्य देवो भव-अतिथि देवो भव' इन उपनिषद् के शब्दों में इन्हीं पितरों का उल्लेख है। ये सब के पितर **सोम्यासः**=अत्यन्त सोम्य स्वभाव के हों। स्वयं सोम्य होकर ही ये हमें सोम्य बना पाएँगे। (५) **ये**=जो पिता **असुं ईयुः**=प्राणशक्ति को प्राप्त हैं अर्थात् जीवित हैं, जीवनी शक्ति से परिपूर्ण हैं, और **अवृकाः**=लोभ से रहित हैं, **ऋतज्ञाः**=ऋत को जाननेवाले हैं, यज्ञशील हैं, **ते**-वे **पितरः**=पितर **हवेषु**-हमारी प्रार्थना व पुकार के होने पर **नः अवन्तु**=हमारा रक्षण करें। एवं पितरों के लक्षण ये हैं कि वे (क) प्राणशक्ति-सम्पन्न हैं, (ख) लोभरहित हैं, (ग) ऋतज्ञ हैं, यज्ञशील हैं, (घ) सोम्य हैं।

भावार्थ—सोम्य, प्राणशक्ति-सम्पन्न, निर्लोभ व यज्ञशील पितर हमारे जीवनों में हमारा रक्षण करनेवाले हों।

ऋषिः—**शङ्खो यामायनः**॥ देवता—**पितरः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

पितरों के लिये नमस्कार

इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य उपरास ईयुः।
ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु विक्षु॥ २॥

(१) **अद्य**=आज **पितृभ्यः इदं नमः अस्तु**=पितरों के लिये यह नमस्कार हो। **ये**=जो पितर **पूर्वासः**=अपना पूरण करनेवाले हैं **ये उ**=और जो **परासः**=उत्कृष्ट जीवन वाले हैं। अथवा जो

हमारे जीवनों में **ऊर्वासः** पहले **ईयुः**-आते हैं **ये उ परासः** और जो हमारे जीवनों के पिछले भागों में आते हैं। अर्थात् माता, पिता, आचार्य व अतिथि इन सबके लिये हम नमस्कार करते हैं। (२) उन पितरों के लिये हम नमस्कार करते हैं **ये** जो कि **पार्थिवे रजसि** इस पार्थिवलोक में **आनिषत्ताः** सर्वथा उपविष्ट हैं अर्थात् इस शरीर पर जिनका पूर्ण प्रभुत्व है। (३) **ये वा** और जो **नूनम्**-निश्चय से **सुवृजनासु**-उत्तमता से, पूर्णरूप से पाप का वर्जन करनेवाली प्रजाओं में हैं, जिनकी गिनती निष्पाप धार्मिक लोगों में होती है।

भावार्थ—शरीर पर पूर्ण प्रभुत्व वाले निष्पाप पितरों के लिये हमारा नमस्कार हो।

ऋषिः—**शङ्खो यामायनः**॥ देवता—**पितरः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

सुविदत्र व बर्हिषद् पितर

आहं पितॄन्त्सुविदत्राँ अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः।
बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः॥ ३॥

(१) **अहम्** मैं **सुविदत्रान्**-उत्तम ज्ञान के द्वारा रक्षण करनेवाले **पितॄन्** पितरों को **आ अवित्सि** सर्वथा प्राप्त होऊँ। माता, पिता, आचार्य व अतिथि ये सब ज्ञान के द्वारा हमारा रक्षण करनेवाले हों। **च** और परिणामतः मैं **न-पातम्** न गिरने को, अर्थात् धर्ममार्ग में स्थिरता को प्राप्त करूँ। **च**-तथा **विष्णोः विक्रमणम्** विष्णु के विक्रमण को भी मैं प्राप्त करूँ। 'स्वस्थ शरीर, निर्मल मन व दीप्त मस्तिष्क' होऊँ। शरीर का स्वास्थ्य ही पृथिवीलोक का विजय है, मन की निर्मलता अन्तरिक्षलोक का विजय है और मस्तिष्क की दीप्ति द्युलोक का। यह त्रिविध विजय ही विष्णु के तीन विक्रमण हैं। (२) मैं उन पितरों को प्राप्त करूँ **ये**-जो **बर्हिषदः** यज्ञों में आसीन होनेवाले हैं और जो **स्व-धया**-आत्मतत्त्व के धारण के हेतु से **पित्वः**-अन्न के **सुतस्य**-परिणाम भूत सोम के वीर्य को **भजन्त**-भागी बनते हैं। वीर्य के रक्षण के उद्देश्य से प्रभु का उपासन करते हैं। अथवा आत्मतत्त्व के धारण के लिये वीर्य का रक्षण करते हैं। वीर्यरक्षण से ज्ञानाग्नि व बुद्धि दीप्त होकर प्रभु के साक्षात्कार का कारण बनती है। **ते**-वे पितर **इह**-इस जीवन में **आगमिष्ठाः** हमें प्राप्त हों।

भावार्थ—हमें उन पितरों की प्राप्ति हो जो कि ज्ञान के द्वारा हमारा रक्षण करें, यज्ञशील हों, प्रभु प्राप्ति के उद्देश्य से वीर्य का रक्षण करनेवाले हों। इनके सम्पर्क से हम भी मार्गभ्रष्ट न होते हुए शरीर, मन व मस्तिष्क की उन्नति रूप तीन कदमों को रखनेवाले हों।

ऋषिः—**शङ्खो यामायनः**॥ देवता—**पितरः**॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

शान्ति-निर्भयता व निर्दोषता

बर्हिषदः पितर ऊत्य१र्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम्।
त आ गतावसा शन्तमेनाथा नः शं योररपो दधात॥ ४॥

(१) **बर्हिषदः** यज्ञों में आसीन होनेवाले **पिताः**-रक्षक लोगो! **ऊती** हमारे रक्षण के हेतु से **अर्वाक्**-आप हमें समीपता से प्राप्त होइये। **इमा हव्या**-इन हव्य पदार्थों को हम **वः चकृमा** आपके लिये संस्कृत करते हैं। **जुषध्वम्**-आप उन वस्तुओं का प्रीतिपूर्वक सेवन करिये। वस्तुतः 'माता पिता की सेवा करना, उनको खिलाकर ही खाना' यह पितृयज्ञ है और यही एक गृहस्थ का प्रत्यक्ष धर्म है। ये पितर अपने क्रियात्मक उदाहरण से हमारे जीवनों में यज्ञ को प्रेरित करते हैं। स्वयं यज्ञशील होते हुए वे हमें यज्ञशील बनाते हैं। (२) हे पितरो! **ते**-वे आप लोग

शन्तमेन-अत्यन्त शान्ति को देनेवाले **अवसा** रक्षण से **आगत** हमें प्राप्त होइये। **अथा**-और **नः**-हमारे लिये **शंयोः**-शान्ति को तथा भयों के यावन (पृथक् करण) को, और **अरपः**-निर्दोषता को **दधात**=धारण करिये।

भावार्थ—हमें पितरों का आदर करना चाहिए। ये यज्ञशील पितर हमारा रक्षण करते हुए हमें 'शान्ति-निर्भयता व निर्दोषता' प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः-**शङ्खो यामायनः**॥ देवता-**पितरः**॥ छन्दः-**आर्चीभुरिक्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

पितरों का आगमन

उप॑हूताः पि॒तर॑ः सो॒म्यासो॑ ब॒र्हि॒ष्ये॑षु नि॒धिषु॑ प्रि॒येषु॑।
त आ ग॑मन्तु॒ त इ॒ह श्रु॑व॒न्त्वधि॑ ब्रुवन्तु॒ ते॑ऽवन्त्व॒स्मान्॥ ५ ॥

(१) हमारे से **सोम्यासः**-अत्यन्त विनीत स्वभाव वाले निरभिमान **पितरः**-पितर **उपहूताः**-पुकारे गये हैं। हमने प्रभु से प्रार्थना की है कि हमें सोम्य पितर प्राप्त हों। इन्हें हमने **बर्हिषि**-यज्ञ के निमित्त पुकारा है। स्वयं यज्ञशील होते हुए ये हमें भी यज्ञमय जीवनवाला बनाते हैं। हम इन यज्ञों के निमित्त इन्हें पुकारते हैं जो **एषु प्रियेषु निधिषु** ये हमारे प्रिय निधि हैं। यज्ञ कोई घाटे का सौदा नहीं है, यह तो एक प्रिय धन का विनियोग है। 'देहि मे ददामि ते' हम अग्नि को देते हैं, अग्नि हमें देता है। 'अग्निहोत्रं स्वयं वर्षं' अग्निहोत्र तो स्वतः सिद्ध वर्षा है। अग्निहोत्र से वर्षा होकर खूब अन्न की उत्पत्ति होती है। अग्नि अन्नाद है तो आद्य अन्न को प्राप्त भी कराती है। एवं यज्ञ हमारे प्रिय निधि हैं। इन्हीं यज्ञों की प्रवृत्ति को उत्पन्न करने के लिये हम उन पितरों को चाहते हैं जो कि यज्ञशील होते हुए अत्यन्त सोम्य व विनीत हैं। (२) **ते**=वे पितर **इह**-यहाँ हमारे घरों में **आगमन्तु**-आयें। **ते**-वे **इह**-यहाँ **श्रुवन्तु**-हमारी समस्याओं को सुनें और **ते**-वे **अस्मान्**=हमें **अधिब्रुवन्तु**=आधिक्येन उपदेश दें। इस अर्थ में स्पष्ट है कि पितर घरों में आते हैं और वे हमें उपदेश व परामर्श देकर हमारी समस्याओं को सुलझाने के लिये यत्नशील होते हैं। वैदिक मर्यादा के अनुसार पुत्र के सन्तान को देखकर पिता, जो लगभग ५१ साल के हैं, वानप्रस्थ बन जाते हैं। इनके भी पिता, जो लगभग ७६ वर्ष के हैं, वे भी वन में हैं, और इनके भी पिता, जो लगभग १०० वर्ष के हैं, वे भी सम्भवतः वन में अभी जीवित ही हैं। एवं ये 'पिता, पितामह और प्रपितामह' वनों में रहनेवाले पितर हैं। जब कभी इनके सन्तान किन्हीं घर की समस्याओं को सुलझाने के लिये इन्हें आमन्त्रित करते हैं तो ये आते हैं, सन्तानों की बात को सुनते हैं और उनकी समस्याओं को सुलझाने के लिये उन्हें उचित उपदेश व आदेश देते हैं। यही 'पितरों का आना व सन्तानों द्वारा उनके उचित आदर का होना' वैदिक श्राद्ध है। यह जीवित पितरों के साथ ही सम्बद्ध है। इसीलिये प्रपितामह से ऊपर जो पितर हैं, जो समान्यतः १२६ वर्ष के होने चाहिएँ, उनका वेद में उल्लेख ही नहीं, उनके जीवित होने का सम्भव कम ही है।

भावार्थ—हम वनस्थ पिता, पितामह, प्रपितामह आदि को आमन्त्रित करें। वे आकर हमें उपदेश व परामर्श दें।

ऋषिः-**शङ्खो यामायनः**॥ देवता-**पितरः**॥ छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

यज्ञ का उपदेश

आच्या॒ जानु॑ दक्षिण॒तो नि॒षद्ये॒मं य॒ज्ञम॒भि गृ॑णीत॒ विश्वे॑।
मा हिं॑सिष्ट पितर॒ः केन॑ चिन्नो॒ यद्व॒ आग॑ः पुरु॒षता॒ करा॑म॥ ६ ॥

(१) पिछले मन्त्र के अनुसार पितर घरों पर आयें और **जानु आच्य**-घुटनों को संगत रूप में पृथ्वी पर स्थापित करके अर्थात् घुटने मिलाकर भूमि पर स्थित होकर, **दक्षिणतः निषद्य** दक्षिण की ओर बैठकर अर्थात् हमारे दाहिने बैठकर, **विश्वे**-सब पितर **इमं यज्ञं अभिगृणीत** इस यज्ञ का हमें उपदेश करें। घुटने मिलाकर भूमि पर बैठने से वात पीड़ायें सामान्यतः नहीं होती। ये होती प्रायः बड़ी ही उमर में हैं। सो पितरों के लिये यह आसन उपयुक्ततम है। आदर देने के लिये हम इन पितरों को दक्षिणपार्श्व में बिठाते हैं। ये पितर हमें यज्ञों का उपदेश करें। (२) घर पर आये हुए पितरों के विषय में कुछ हम गलती भी कर बैठें तो हम चाहते हैं कि वो पितर हमारे से अप्रसन्न न हो जाएँ। हे **पितरः**-मान्य पितरो! **पुरुषता**-एक अल्पज्ञ पुरुष के नाते **यत्** जो भी **वः**-आपके विषय में **आगः**-अपराध **कराम**-कर बैठें उस **केनचित्**-किसी भी अपराध से **नः**-हमें **माहिंसिष्ट**-हिंसित मत करिये। आप हमारे से रुष्ट न हों, आप की कृपा हमारे पर बनी ही रहे।

भावार्थ—पितर आयें संगतजानुक होकर वे हमारे दाहिने बैठें और हमें कर्तव्य कर्मों का उपदेश दें।

ऋषिः—**शङ्खो यामायनः**॥ देवता—**पितरः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

पुत्रों को सत्परामर्श

आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय।
पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्र यच्छत त इहोर्जं दधात॥ ७॥

(१) गत मन्त्र में वनस्थ 'पिता, पितामह व प्रपितामह' आदि पितरों के घर पर आने का संकेत था। ये पितर सन्तानों के आमन्त्रण पर उनकी समस्याओं को सुलझाने के उद्देश्य से घरों पर आते हैं। ये पितर **अरुणीनाम्**=(अरुणो गाव उपसाम्) उषाकालों की अरुण किरणों के प्रकाश के होने पर **उपस्थे आसीनासः**=उपासना में आसीन होते हैं। इस प्रकार प्रातः प्रभु उपासन में आसीन होनेवाले पितरो! **दाशुषे मर्त्याय**-अपना समर्पण करनेवाले मनुष्य के लिये **रयिं धत्त** ऐश्वर्य को धारण करिये। यदि घर में भाई परस्पर संघर्ष में आ जायें और न्यायालय में एक दूसरे को अभियुक्त करने पर तुल जायें, तो घर की सम्पत्ति की इति श्री ही हो जाए। सन्तानों के पुकारने पर पितर आते हैं। पुत्र उनके प्रति अपना अर्पण कर देते हैं कि 'जो कुछ पिताजी निर्णय करेंगे वह ठीक है'। इस प्रकार प्रतिज्ञा-पत्र लिख देनेवाले सन्तान ही 'दाश्वान् मर्त्य' हैं। इन्होंने पिताजी पर सब कुछ छोड़ दिया है। (२) ऐसा होने पर हे **पितरः**-पितरो! आप **पुत्रेभ्यः**-सन्तानों के लिये **तस्य**-उस **वस्वः**-धन का **प्रयच्छत**-दान करो जो कि न्यायालयों में ही समाप्त हो जाना था। यदि ये पितर निर्णय न कर देते घर का सारा धन अभियोग में ही व्ययित हो जाता। (३) इस प्रकार पितरों के निर्देश से धन का अपव्यय होने से तो बचाव हुआ ही, साथ ही भाइयों के मेल बने रहने से घर की शक्ति भी बढ़ गई। सो कहते हैं कि **ते**-वे आप **इह**-इस घर में **ऊर्जम्**-बल व प्राण शक्ति को **दधात**=धारण करिये। एक और एक मिलकर ये भाई ग्यारह हो गये हैं। एवं पितरों ने घर को श्री व शक्ति सम्पन्न बना दिया है।

भावार्थ—पितर प्रातः ही प्रभु उपासन में बैठते हैं। ये सन्तानों के कलहों को समाप्त करके घर में 'वसु व ऊर्ज' की स्थापना करते हैं।

ऋषिः—शङ्खो यामायनः॥ देवता—पितरः॥ छन्दः—पादनिचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

रमण व प्रतिकाम अदन

ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः।
तेभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु॥ ८॥

(१) **ये**=जो **नः**=हमारे **पूर्वे**=अपना पूरण करनेवाले, गृहस्थ में रागादि के रूप में उत्पन्न हो गई कमियों को दूर करके संन्यास की तैयारी करनेवाले **पितरः**=हमारे पितर **सोम्यासः**=अत्यन्त सोम्य स्वभाव के हैं, **सोमपीथं अनूहिरे**=सोम के पान का धारण करनेवाले हैं। अर्थात् शरीर में सोम का रक्षण करनेवाले हैं। **वसिष्ठाः**=काम-क्रोध को वशीभूत करके अत्यन्त उत्तम निवास वाले बने हैं। (२) **तेभि**=इन पितरों के साथ **यमः**=नियन्त्रण में रहनेवाला विद्यार्थी से **रराणः**=क्रीड़ा करता हुआ, क्रीड़ा-क्रीड़ा में ही सब कुछ सीखता हुआ, **हवींषि उशन्**=हवियों को चाहता हुआ, **उशद्भिः**=हित को चाहनेवाले आचार्यों के साथ **प्रतिकामम्**=जब-जब शरीर को इच्छा से, अर्थात् आवश्यकता का अनुभव हो, तब-तब **अत्तु**=भोजन को खाये। (३) यहाँ दो बातें स्पष्ट है—पहली तो यह कि पढ़ाने का प्रकार इतना रुचिकर हो कि विद्यार्थियों को पढ़ाई खेल-सी प्रतीत हो। दूसरी बात यह कि हम भोजन तभी करें जब कि शरीर को आवश्यकता हो। और वह भी त्यागपूर्वक। यज्ञ करके यज्ञशेष को खाने से 'त्यक्तेन भुञ्जीथाः' इस शास्त्र का प्रमाण हो जाता है। और साथ ही शरीर नीरोग बना रहता है।

भावार्थ—हमें पितर रोचकता से ज्ञान के देनेवाले हों। हम हवि की कामना करें। आवश्यकता के अनुसार ही हम खानेवाले बनें।

ऋषिः—शङ्खो यामायनः॥ देवता—पितरः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

पितरों के लक्षण

ये तातृषुर्देवत्रा जेहमाना होत्राविदः स्तोमतष्टासो अर्कैः।
आग्ने याहि सुविदत्रेभिरर्वाङ्सत्यैः कव्यैः पितृभिर्घर्मसद्भिः॥ ९॥

(१) पितर वे हैं **ये**=जो कि **तातृषुः**=भ्रमणमात्र के हित के लिये अत्यन्त पिपासित होते हैं, **देवत्रः जेहमानाः**=देवों में क्रमशः जानेवाले होते हैं, अर्थात् निरन्तर दैवी सम्पत्ति के अर्जन में लगे हैं। **होत्राविदः**=अग्निहोत्र को खूब समझनेवाले हैं। **अर्कैः**=मन्त्रों के द्वारा **स्तोमतष्टांसः**=प्रभु स्तोत्रों को करनेवाले हैं। (२) प्रभु कहते हैं कि हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तुम इन **सुविदत्रेभिः**=उत्तम ज्ञान के द्वारा त्राण करनेवाले, **सत्यैः**=सदा सत्य को अपनानेवाले, **कव्यैः**=(कवेर्यद स्वार्थे) क्रान्तदर्शी तत्त्वज्ञानी, **घर्मसद्भिः**=यज्ञों में आसीन होनेवाले **पितृभिः**=पितरों के द्वारा **अर्वाङ्**=हमारे सम्मुख **आयाहि**=प्राप्त हो। अर्थात् इन पितरों के सम्पर्क में आकर ही आगे और आगे बढ़ता हुआ जीव प्रभु को प्राप्त करनेवाला होता है।

भावार्थ—पितर वे ही हैं जो लोकहित के लिये प्रबल कामना वाले, यज्ञशील, प्रभुस्तवन, परायण, ज्ञानी, सत्यवादी, तत्त्वदर्शी हैं। इनके सम्पर्क में आनेवाला ही, पुरुष ज्ञानी बनकर प्रभु को प्राप्त करता है।

ऋषिः—शङ्खो यामायनः॥ देवता—पितरः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥ स्वरः—धैवतः॥

देववन् घर्मसत् पितर

ये सत्यासो हविरदो हविष्पा इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः।
आग्ने याहि सहस्रं देववन्दैः परैः पूर्वैः पितृभिर्घर्मसद्भिः॥ १०॥

(१) पितर वे हैं **ये**-जो **सत्यासः** सदा सत्य को बोलनेवाले हैं। **हविरदः**-हवि को ही खानेवाले हैं, **हविष्पाः**-हवि का ही पान करनेवाले हैं। इनका खाना-पीना सदा हविरूप होता है। पवित्र भोजन वाले तो ये होते ही हैं, उस भोजन को भी ये यज्ञशेष के रूप में ही सेवन करते हैं। (२) ये पितर **इन्द्रेण**-उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के साथ और **देवैः**=दिव्यगुणों के साथ **सरथं दधानाः** समान ही रथ को धारण करते हैं। अर्थात् ये अपने इस शरीर रूप रथ में प्रभु को स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं और दिव्य गुणों के धारण करनेवाले बनते हैं। (३) हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **देववन्दैः** देव का वन्दन करनेवाले अर्थात् प्रभु की उपासना करनेवाले, **परैः** उत्कृष्ट जीवन वाले, **पूर्वैः** अपना पूरण करनेवाले, न्यूनताओं को दूर करने के लिये यत्नशील, **घर्मसद्भिः**-यज्ञों में आसीन होनेवाले **पितृभिः**-पितरों के सम्पर्क में रहता हुआ, उनके द्वारा **सहस्त्रम्**-(स-हस्) प्रसन्नतापूर्वक **आयाहि**=हमारे समीप प्राप्त हो।

भावार्थ—प्रभु के उपासक-यज्ञशील पितरों के सम्पर्क में उन्नति करते हुए हम मनःप्रसाद को प्राप्त करें और प्रभु को पायें।

ऋषिः-**शङ्खो यामायनः**॥ देवता-**पितरः**॥ छन्दः-**निचृज्जगती**॥ स्वरः-**निषादः**॥

अग्निष्वात्त पितर

अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदःसदः सदत सुप्रणीतयः।
अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिं सर्ववीरं दधातन॥ ११॥

(१) **अग्निषु आत्ताः**-अग्नियों के विषय में जिन्होंने खूब ज्ञान प्राप्त किया है, अग्नि आदि देवों का वैज्ञानिक अध्ययन किया है, ऐसे **पितरः**=पितरो! **इह**-हमें इस जीवन में **आगच्छत**-प्राप्त होइये! (२) **सदःसदः**-प्रत्येक सभा में **सदत**-आप आकर बैठिये। **सुप्रणीतयः**-उत्तम प्रकृष्ट मार्ग से आप हमें ले चलनेवाले हैं। आपके ही प्रणयन में हम मार्ग पर आगे बढ़ते हुए लक्ष्य स्थान पर पहुँचनेवाले होंगे। (३) आप **बर्हिषि** इन यज्ञों में **प्रयतानि**-पवित्र **हवींषि**-हवियों को **अत्त** खानेवाले बनिये। आपका भोजन पवित्र हो और यज्ञशेष के रूप में हो। (४) **अथा**=और आप **रयिम्**=धनों को, जो कि धन **सर्ववीरम्**=सम्पूर्ण वीरता से युक्त है, **दधातन**=धारण करिये। धन के साथ सब अंगों का सबल होना भी आवश्यक है। पितर अपने सन्तानों को सत्परामर्श के द्वारा सब प्रकार के झगड़ों से बचाकर सशक्त व सधन बनाते हैं। इन पितरों के अभाव में पारस्परिक कलह से धन भी नष्ट होता है और शक्ति भी। सो पितरों का यह कर्तव्य होता है कि वे अपने सन्तानों को परस्पर मेल से चलने का पाठ पढ़ायें।

भावार्थ—अग्निष्वात्त पितरों से हमें अग्नि आदि देवों का ज्ञान प्राप्त हो। सभाओं में इनके सदुपदेशों से हमारा मार्ग सुन्दर हो। हम भी इनकी तरह यज्ञों में तत्पर होकर पवित्र हवियों का रक्षण करनेवाले बनें। धन के साथ शक्ति का धारण करनेवाले हों।

ऋषिः-**शङ्खो यामायनः**॥ देवता-**पितरः**॥ छन्दः-**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

'अग्नि' की दिनचर्या

त्वमग्न ईळितो जातवेदोऽवाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी।
प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि॥ १२॥

(१) हे **अग्ने**-प्रगतिशील जीव! **त्वम्**-तू **ईडितः** (ईडा संजाता अस्य इति, ईडा+इतच्)=उपासना वाला बनता है प्रातःकाल उठकर सबसे प्रथम तू प्रभु का उपासन करता है। वस्तुतः हमें जीवन

के प्रत्येक दिन को प्रभु के उपासन से ही प्रारम्भ करना चाहिये तथा दिन की समाप्ति व रात्रि का प्रारम्भ भी प्रभु उपासन से ही होना चाहिए। (२) उपासन के बाद तू नैत्यिक स्वाध्याय के द्वारा **जातवेदः**=(जातः वेदो यस्य) विकसित ज्ञानवाला बनता है। उपासना की तरह स्वाध्याय में भी हमें किसी प्रकार से भी प्रमाद नहीं करना चाहिए। (३) स्वाध्याय के बाद तू **सुरभीणिः**=सुगन्धित **हव्यानि**=हव्य पदार्थों को **कृत्वी**=सम्यक् बनाकर के **अवाट्**=अग्नि के लिये प्राप्त कराता है। अर्थात् शुद्ध सुगन्धित गोघृत व उत्तम सामग्री से तू नैत्यिक अग्निहोत्र को करता है। (४) अब अग्निहोत्र कर चुकने पर तू **पितृभ्यः प्रादाः**=अपने वृद्ध माता-पिता के लिये भोजन को देता है। और **ते**-वे पितर **स्वधया**-आत्म-धारण के हेतु से अर्थात् शरीर के धारण के लिये आवश्यक मात्रा में **अक्षन्**=उस भोजन को खाते हैं। (५) इस प्रकार पितृयज्ञ को करके हे **देव**=दिव्य गुणों से सम्पन्न अग्रे! **त्वम्**-तू भी **प्रयता**-पवित्र **हवींषि**=देवयज्ञ व पितृयज्ञ से अवशिष्ट हव्य पदार्थों को **अद्धि**=सेवन करनेवाला बन। यह यज्ञशेष तेरे लिये अमृत हो, अमृत का सेवन करता हुआ तू सचमुच 'देव' बन।

भावार्थ—एक आर्यपुरुष की दिनचर्या का क्रम 'उपासना, स्वाध्याय, अग्निहोत्र, पितृयज्ञ व स्वयं भी यज्ञशेष का सेवन' है। इस क्रम का अनुष्ठान करता हुआ वह देव बनता है।

ऋषिः-**शङ्खो यामायनः** ॥ देवता-**पितरः** ॥ छन्दः-**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः-**धैवतः** ॥

पितृ-यज्ञ

ये चेह पितरो ये च नेह याँश्च विद्म याँ उं च न प्रविद्म।
त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञं सुकृतं जुषस्व ॥ १३ ॥

(१) **ये**=जो **च**=और **पितरः**=पितर **इह**=यहाँ घर पर ही हैं, **ये च**=और जो वनस्थ हो जाने के कारण **इह न**=यहाँ घर पर नहीं हैं। **यान् च**=और जिनको **विद्म**=हम अच्छी प्रकार जानते हैं, क्योंकि उनसे हमने अध्ययन किया है सो वे आचार्य तो हमारे परिचित हैं ही। **यान् उ च**=और जिनको निश्चय से **न प्रविद्म**=हम नहीं जानते, अर्थात् जो 'यत्र सायं गृहमुनि' घूमते-घामते आज हमारे घर पर आ उपस्थित हुए हैं, जिनसे हमारा पूर्व परिचय नहीं है, सब अतिथियों का परिचय सम्भव भी तो नहीं। (२) परन्तु परिचित हों व अपरिचित, इस समय तो, हे **जातवेदः**=नैत्यिक स्वाध्याय के द्वारा विचारशील पुरुष **त्वं वेत्थ**-आप जानते ही हो कि **ते यति**-वे जितने हैं। उनकी संख्या को आप सम्यक् जानते ही हो। आप **स्वधाभिः**=अन्नों के द्वारा **सुकृतम्**=बड़ी सुन्दरता से समादित **यज्ञम्**=पितृयज्ञ का **जुषस्व**=सेवन करें। अर्थात् उन सब पितरों को बड़े आदर से आप भोजन कराएँ। यह पितृयज्ञ भी पंच महायज्ञों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इसके होने पर घरों में सदाचार की प्रेरणा सदा प्राप्त होती रहती है और किसी प्रकार के पतन की आशंका नहीं रहती। (३) जो पितर वनस्थ भी होते हैं वे समय-समय पर सन्तानों से आमन्त्रित होने पर घरों पर आते हैं, और उन सन्तानों की समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करते हैं। आचार्यों को भी ये कभी-कभी आमन्त्रित करते ही हैं और संन्यासी तो घूमते-फिरते अतिथिरूपेण आ ही जाते हैं। इन सब पितरों को स्वधा के द्वारा तृप्त करना ही पितृयज्ञ है।

भावार्थ—घर में आये हुए पितरों का अन्न द्वारा सत्कार करना 'पितृयज्ञ' है। प्रत्येक गृहस्थ का यह आवश्यक कर्तव्य है।

ऋषिः–**शङ्खो यामायनः** ॥ देवता–**पितरः** ॥ छन्दः–**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

'असुनीति' का अध्ययन

ये अ॒ग्नि॒द॒ग्धा ये अन॑ग्निदग्धा॒ मध्ये॑ दि॒वः स्व॒धया॑ मा॒दय॑न्ते।
तेभि॑: स्व॒राळसु॑नीतिमे॒तां य॑थाव॒शं त॒न्वं॑ कल्पयस्व॥ १४॥

(१) **ये** जो पितर **अग्निदग्धा**=अग्निदग्ध हैं, अर्थात् अग्निविद्या में परिपक्व ज्ञान वाले व निपुण हैं, जिन्होंने अग्नि आदि देवों का ज्ञान प्राप्त किया है। **ये**-अथवा जो **अनग्निदग्धाः** अग्निविद्या में निपुण नहीं भी हैं, अर्थात् जिन्होंने इन अग्नि आदि देवों का ज्ञान प्राप्त नहीं किया, आत्मचिन्तन में व समाज-स्वभाव के अध्ययन में लगे रहकर जो विज्ञान की शिक्षा को बहुत महत्त्व नहीं दे पाये। ये सब पितर जो कि **दिवः मध्ये**-ज्ञान के प्रकाश में **स्वधया**-(स्व+धा) आत्मतत्त्व के धारण से **मादयन्ते** अत्यन्त हर्ष का अनुभव करते हैं। **तेभिः**-उन पितरों से **स्वराट्**-आत्मशासन करनेवाला तू **एतां असुनीतिम्** इस प्राण विद्या को **कल्पयस्व** सिद्ध कर। प्राणविद्या को सिद्ध करके **यथावशम्** इच्छा के अनुसार अर्थात् जैसा चाहिए वैसा **तन्वम्**-शरीर को कल्पयस्व-शक्तिशाली बना। (२) पितरों को यहाँ दो भागों में बाँटा है—(क) एक तो वे हैं जिन्होंने प्रकृतिविद्या का खूब अध्ययन किया है। उन्हें ही यहाँ 'अग्निदग्ध' कहा गया है, (ख) दूसरे वे हैं जिन्होंने समाजशास्त्र व अध्यात्मशास्त्र (sociology व metaphysics) पर प्रयत्न किया है। वे यहाँ 'अनग्निदग्ध' कहलाये हैं। ये सब के सब ज्ञान के प्रकाश में विचरण करते हैं, ज्ञान में ही उन्हें आनन्द का अनुभव होता है। (३) इन पितरों से प्राणविद्या को, जीवन की नीति को सीखने का हमें प्रयत्न करना चाहिए। इस असुनीति को सीख कर हम स्वराट्=आत्मशासन करनेवाले बनेंगे तो अपने शरीरों को उचित प्रकार से शक्तिशाली बना सकेंगे।

भावार्थ—हम ज्ञानी पितरों से प्राणविद्या को सीखें, और अपने शरीरों को सुन्दर व शक्तिशाली बनायें।

सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से हुआ है कि पितर 'प्राणविद्या को प्राप्त, हत को जाननेवाले व निर्लोभ' हैं, (१) इन पितरों के लिये हमें नमस्कार करना चाहिए, (२) हमें ये 'ज्ञान के द्वारा रक्षण करनेवाले, यज्ञशील' पितर प्राप्त हों, (३) ये पितर हमें 'शान्ति निर्भयता व निर्दोषता' प्राप्त कराते हैं, (४) वे पितर हमारे आमन्त्रण को स्वीकार करते हुए अवश्य घरों पर आयें, (५) हमें यज्ञों का उपदेश दें, (६) अपने सत्परामर्श से ये हमारे में 'वसु व अर्क' का स्थापन करें, (७) पितरों के साथ आनन्द को अनुभव करते हुए हम आवश्यकतानुसार ही भोजन को करनेवाले बनें, (८) ये पितर लोकहित के लिये प्रबल कामना वाले होते हैं, (९) ये प्रभु के उपासक व यज्ञशील होते हैं, (१०) अग्नि आदि देवों का इन्होंने खूब ज्ञान प्राप्त किया है, (११) इनके सम्पर्क में हम भी 'उपासना, स्वाध्याय व अग्निहोत्र' को अपनानेवाले बनते हैं, (१२) जो भी पितर हमारे घरों पर आयें, हम उनका सत्कार करें, (१३) उनसे प्राणविद्या को सीखकर अपने शरीरों को सुन्दर बनायें, (१४) आचार्य उचित तप व दण्ड के द्वारा हमें ज्ञान परिपक्व करें—

[१६] षोडशं सूक्तम्

ऋषिः–**दमनो यामायनः** ॥ देवता–**अग्निः** ॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः–**धैवतः** ॥

तप-दण्ड व समावर्तन

मैन॑मग्ने॒ वि द॑हो॒ माभि शो॑चो॒ मास्य॒ त्वचं॑ चिक्षिपो॒ मा शरी॑रम्।
य॒दा शृ॒तं कृ॒णवो॑ जातवे॒दोऽथे॑मेन॒ं प्र हि॑णुतात्पि॒तृभ्य॑ः॥ १॥

(१) गत सूक्त की समाप्ति पर 'असुनीति' के अध्ययन का उल्लेख था। ज्ञान के देनेवाले आचार्य भी पितर हैं। इन्हें 'अग्नि' भी कहते हैं, क्योंकि ये विद्यार्थी को ज्ञान के मार्ग पर आगे ले चलते हैं। माता-पिता बालक को आचार्य के समीप पहुँचा देते हैं, आचार्य के प्रति उसका अर्पण ही कर देते हैं। वह आचार्य विद्यार्थी को तपस्वी जीवनवाला बनाता है। बिना तप के विद्या के अध्ययन का सम्भव भी तो नहीं। परन्तु यह भी आवश्यक है कि आचार्य विद्यार्थी को इतने-अतिमात्र तप में न ले चले कि उसका शरीर अत्यन्त क्षीण व समाप्त ही हो जाए। सो मन्त्र में कहते हैं कि **अग्ने**=हे अग्रेणी आचार्य! **एनम्**=इस आपके प्रति अर्पित शिष्य को **मा विदहः**=तपस्या की अग्नि में भस्म ही न कर दीजिये, तप वही तो ठीक है जो कि शरीर को पीड़ित न कर दे। इस अतिमात्र तप से तंग आकर इस विद्यार्थी का जीवन दुःखी न हो जाए। **मा अभिशोचः**=इसे शोकयुक्त न कर दीजिये। यह घर की ही न याद करता रहे। (२) तप के अतिरिक्त शिक्षा में दण्ड भी अनिवार्य हो जाता है। आदर्श तो यही है कि दण्ड का स्थान हो ही न। परन्तु मानव स्वभाव की कमी दण्ड को भी आवश्यक ही कर देती है। परन्तु आचार्य कहीं क्रोध में दण्ड की भी अधिकता न कर दें, सो मन्त्र में कहते हैं कि **अस्य त्वचं मा चिक्षिपः**=इस की त्वचा को ही क्षिप्त न कर देना, चमड़ी ही न उधेड़ देना। इस बात का पूरा ध्यान करना कि **मा शरीरम्**=इस का शरीर विक्षिप्त न हो जाए, अर्थात् इसका कोई अंग-भंग न हो जाए। संक्षेप में, न तप ही अतिमात्र हो और ना दण्ड। शरीर को अबाधित करनेवाला तप हो और अमृतमय हाथों से ही दण्ड दिया जाये। (३) इस प्रकार तप व दण्ड की उचित व्यवस्था से **यदा**=जब, हे **जातवेदः**=ज्ञानी आचार्य! आप **शृतं कृणवः**=इस विद्यार्थी को ज्ञान में परिपक्व कर चुकें, **अथा**=तो **ईम्**=अब **एनम्**=इस विद्यार्थी को **पितृभ्यः**=इसके जन्मदाता माता-पिता के लिये **प्रहिणुतात्**=आप भेजनेवाले हों। ज्ञान देने के बाद आचार्य विद्यार्थी को वापिस पितृगृह में भेजता है। यही बालक का समावर्तन होता है।

भावार्थ—आचार्य उचित तप व दण्ड व्यवस्था को रखते हुए विद्यार्थी को ज्ञान परिपक्व करते हैं, और इस अध्ययन की समाप्ति पर उसे वापिस पितृगृह में भेजते हैं।

ऋषिः—**दमनो यामायनः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

देवानां वशनीः

शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं परि दत्तात्पितृभ्यः।
यदा गच्छात्यसुनीतिमेतामथा देवानां वशनीर्भवाति॥ २॥

(१) हे **जातवेदः**=विकसित ज्ञान वाले आचार्य! आप **यदा**=जब इस विद्यार्थी को **शृतं करसि**=ज्ञान परिपक्व कर देते हैं, **अथ**=तो **ईम्**=अब **एनम्**=इसको **पितृभ्यः**=अपने माता-पिता के लिये **परिदत्तात्**=वापिस देते हैं। जब तक यह विद्यार्थी ज्ञान परिपक्व नहीं होता तब तक आचार्यकुल में ही निवास करता है। ज्ञान को प्राप्त करके घर में लौटता है। (२) आचार्यकुल में रहता हुआ **यदा**=जब **एतां असुनीतिम्**=इस प्राणविद्या को, जीवन-नीति को **गच्छाति**=अच्छी प्रकार प्राप्त कर लेता है, **अथा**=तब यह ज्ञान को प्राप्त पुरुष **देवानाम्**=सब देवों का, इन्द्रियों को **वशनीः**=वश में प्राप्त करानेवाला **भवाति**=होता है। 'असुनीति' का अध्ययन करके यह सूर्यादि देवों का इस प्रकार उचित सम्पर्क बनाता है कि ये सब देव उसके अनुकूल ही अनुकूल होते हैं, मानो ये सब देव उसके वश में हों। इन देवों के साथ इसका किसी प्रकार का संघर्ष नहीं होता। ये देव ही शरीर में चक्षुसादि के रूप से रह रहे हैं। इन शरीरस्थ देवांशों का बाह्य देवों से किसी प्रकार के युद्ध का न होना ही 'स्वास्थ्य' कहलाता है। इसी का वर्णन अगले मन्त्र में कुछ विस्तार

से दिया है—

भावार्थ—आचार्यकुल में असुनीति का अध्ययन करके हम सूर्यादि देवों को वश में प्राप्त करानेवाले हों। इनसे हमारी प्रतिकूलता न हो और हम पूर्ण स्वस्थ हों।

ऋषिः—**दमनो यामायनः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

देवों के साथ लाड़ाई का न होना

सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः॥ ३॥

(१) कभी-कभी पिता पुत्र में भी संघर्ष हो जाता है, पुत्र अलग घर बना लेता है और उसका पितृगृह में आना जाना नहीं रहता। यहाँ 'सूर्य' पिता है तो शरीर में अक्षि में निवास करनेवाली चक्षु उसका पुत्र है। 'वात' पिता है, शरीरस्थ प्राण उसका पुत्र है। 'द्युलोक' पिता है, 'मस्तिष्क' पुत्र। 'पृथिवी' पिता है, 'शरीर' पुत्र। 'अन्तरिक्ष' पिता है, 'हृदय' पुत्र। इन से पिता पुत्रों का संघर्ष हो जाए तो सारा स्वास्थ्य ही समाप्त हो जाए। सो कहते हैं कि **चक्षुः**=तेरी आँख **सूर्यं गच्छतु**=सूर्य को जाये। सूर्य के यहां उसका आना-जाना बना रहे। सूर्य के साथ चक्षु का संघर्ष होते ही चक्षु विकृत हो जाती है, वैदिक संस्कृति में सूर्याभिमुख होकर ध्यान करने का विधान इस दृष्टिकोण से कितना महत्त्वपूर्ण है? हम प्रभु का ध्यान करते हैं, और 'सूर्य' आँख को शक्ति देता है। (२) **आत्मा**-(प्राणः सा०) तेरा प्राण **वातम्**=वायु के प्रति जानेवाला हो। शुद्ध वायु में प्राणायाम के द्वारा कौन-सा दोष दूर नहीं किया जा सकता? (३) इसी प्रकार **द्यां च गच्छ**=तू मस्तिष्क के दृष्टिकोण से द्युलोक को जा। तेरे मस्तिष्क व द्युलोक में अनुकूलता हो। द्युलोक के सूर्य व नक्षत्रों की तरह तेरे मस्तिष्क में भी ज्ञान-विज्ञान के सूर्य व नक्षत्र चमकें। (४) **पृथिवीं च**-तू शरीर से पृथिवी को जानेवाला बन। 'अखाड़े में लोटना पोटना व शरीर पर भस्म रमाना' शारीरिक दोषों को दूर करता है। मट्टी की रोटी पेट पर रखने से ज्वर उतर जाता है। यही शरीर के विषों को खेंच लेती है। (५) **अपो वा गच्छ**-(आपः-अन्तरिक्ष) हृदय के दृष्टिकोण से तू अन्तरिक्ष को जानेवाला हो। जैसे 'अन्तरिक्ष' (अन्तरिक्ष) द्युलोक व पृथिवीलोक के मध्य में है, इसी प्रकार तेरा हृदय सदा मध्यमार्ग का सेवन करनेवाला हो, वहाँ 'अकामता' न हो और 'कामात्मता' भी न हो जाए। (६) इस प्रकार सदा बना रहे। **धर्मणा**=शरीर के धारण के हेतु से यह आवश्यक है। जब देवों के साथ सम्बन्ध नहीं रहता, तब शरीर का धारण न होकर शरीर भी गिर जाता है। सो **यदि**-यदि **तत्र**=वहां देवों में **ते हितम्**=तेरा स्थापन (धा+क्त) होना है **शरीरैः**=इन स्थूल व सूक्ष्म शरीरों से तू **ओषधीषु प्रतितिष्ठा**=ओषधियों में प्रतिष्ठित हो। अर्थात् तू शरीरों के धारण के लिये ओषधियों, वानस्पतिक भोजनों का ही प्रयोग कर।

भावार्थ—सूर्य आदि देवों के साथ हमारी अनुकूलता बनी रहे। हम इसके लिये वानस्पतिक भोजनों का ही प्रयोग करें। देव वनस्पति का ही सेवन करते हैं।

ऋषिः—**दमनो यामायनः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

देवों द्वारा प्रभु का धारण

अजो भागस्तपसा तं तपस्व ते तं शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः।
यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकम्॥ ४॥

(१) **अजः**-(अ+ज) कभी शरीर को न धारण करनेवाला, न पैदा होनेवाला, अथवा 'अज्

गतिक्षेपणयोः'=गति के द्वारा सब बुराइयों को दूर करनेवाला प्रभु ही **भागः**=तेरा उपास्य है (भज सेवायाम्) प्रभु का ही तूने उपासन करना है। **तं**=उस प्रभु को **तपसा**=तप के द्वारा **तपस्व**=तू दीप्त कर। सर्वव्यापकता के नाते अपने हृदयाकाश में वर्तमान उस प्रभु को तू तप से देखनेवाला हो। (२) **तम्**=उस प्रभु को **ते**=तेरी **शोचिः**=(शुच्) पवित्रता व ज्ञानदीप्ति **तपतु**=दीप्त करे, प्रकाशित करे। **तम्**=उस प्रभु को **ते**=तेरी **अर्चिः**=(अर्च पूजायाम्)=पूजा व उपासना दीप्त करे। प्रभु का दर्शन पवित्रता, ज्ञानदीप्ति व उपासना से ही सम्भव है। (३) हे **जातवेदः**=विकसित ज्ञान वाले 'दमन' **याः**=जो **ते**=तेरी **शिवाः तन्वः**=कल्याणमय व शुभ शरीर हैं **ताभिः**=उन से **एनम्**=इस प्रभु को **वह**=तू धारण करनेवाला बन, जो प्रभु **उ**=निश्चय से **सुकृताम्**=पुण्यशील लोगों के **लोकम्**=निवास-स्थान है। पुण्यशील लोग उस तृतीय धाम प्रभु में ही विचरण करते हैं। इस प्रभु को हम तभी धारण कर सकते हैं जब कि हम अपने शरीरों को निर्दोष बना पाते हैं। शरीरों की निर्दोषता के लिये 'तप, पवित्रता, ज्ञानदीप्ति व उपासना' साधन हैं। इन साधनों का ही उल्लेख मन्त्र के पूर्वार्ध में 'तपसा, शोचिः व अर्चिः' इन शब्दों से हुआ है।

भावार्थ—हम 'तप, पवित्रता, ज्ञानदीप्ति व उपासना' से शरीरों को निर्दोष बनाते हुए उस प्रभु को धारण करनेवाले बनें, जिन प्रभु में पुण्यशील लोग निवास करते हैं।

ऋषिः—**दमनो यामायनः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

पुनः पितरों के प्रति अपना अर्पणपरिव्रजित होने की तैयारी

अव सृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधाभिः।
आयुर्वसान उप वेतु शेषः सं गच्छतां तन्वा जातवेदः॥ ५॥

(१) इस सूक्त के प्रथम मन्त्र में माता-पिता ने सन्तानों को पितरों (=आचार्यों) के प्रति सौंपा था। आचार्यों ने उसे ज्ञान परिपक्व बनाकर घर वापिस भेजा था। यहाँ घरों में देवों के साथ अनुकूलता रखते हुए यह स्वस्थ शरीर बनाया और प्रभु की उपासना द्वारा हृदय में प्रभु का दर्शन करनेवाला बना। इस प्रकार गृहस्थ को सुन्दरता से समाप्त करके हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **पुनः**=फिर वनस्थ होने के समय **पितृभ्यः**=वनस्थ पितरों के लिये **अवसृज**=अपने को देनेवाला बन। उनके चरणों में अपना तू अर्पण कर। उनके समीप रहता हुआ ही तू फिर से साधना करके जीवन के अन्तिम प्रयाण के लिये तैयार हो सकेगा। (२) तू उस पितर के लिये अपने को अर्पित कर **यः**=जो **ते**=तेरे द्वारा **आहुतः**=आहुत हुआ-हुआ, अर्थात् जिसके प्रति तूने अपना अर्पण किया है, ऐसा वह **स्वधाभिः**=आत्मतत्त्व के धारण के हेतु से **चरति**=सब क्रियाएँ करता है। अर्थात् उन पितरों का प्रयत्न यह होता है कि तुझे आत्मदर्शन के मार्ग पर डाल दें। (३) अब आत्मदर्शन की योग्यता प्राप्त करके तू प्रव्रजित होता है और **आयुः**=उत्कृष्ट जीवन को, सशक्त व उत्तम जीवन को **वसानः**=धारण करता हुआ, **शेषः उपवेतु**=(शेषस्=अवशिष्ट) अवशिष्ट भोजन को ही तू प्राप्त करनेवाला हो। संन्यासी ने भिक्षा माँगनी है, परन्तु माँगनी तब है जब कि 'विद्धूमे सन्नमुसले'-रसोई में से धूआं निकलना बन्द हो चुका हो और मुसल व्यापार भी समाप्त हो चुका हो। इस समय तक सब घर के व्यक्ति खा-पी चुके होंगे और बची-खुची ही रोटी भिक्षा में प्राप्त होगी। यही 'शेषः' है। इसके लेने में किसी पर यह संन्यासी बोझ नहीं बनता। (४) इस प्रकार गृहस्थ्य पर कम से कम बोझ होता हुआ यह **जातवेदः**=विकसित ज्ञानवाला परिव्राजक **तन्वा**=विस्तृत शक्तियों वाले शरीर से **संगच्छताम्**=संगत हो। इसका शरीर क्षीणशक्ति न होकर बढ़ी हुई शक्तियों वाला हो। इसका जीवन परिपक्व फल की तरह अधिक सुन्दर प्रतीत हो।

भावार्थ—गृहस्थ के बाद वनस्थ होकर यह उन पितरों के सम्पर्क में आये जो कि इसे आत्मदर्शन के मार्ग पर ले चलें। संन्यास होकर यह बचे हुए अन्न का भिक्षा में प्राप्त करे, स्वस्थ सुन्दर शरीर वाला हो।

ऋषिः—**दमनो यामायनः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अग्नि व सोम द्वारा चिकित्सा (विष-प्रतीकार)

यत्ते॑ कृ॒ष्णः श॑कु॒न आ॑तु॒तोद॑ पिपी॒लः स॒र्प उ॒त वा॒ श्वाप॑दः।

अ॒ग्निष्टद्वि॒श्वाद॑ग॒दं कृ॑णोतु॒ सोम॑श्च॒ यो ब्रा॑ह्म॒णाँ आ॑वि॒वेश॑॥ ६॥

(१) यहाँ नगरों में रहते हुए हम अनुभव करते हैं कि कुत्ते के काटने से कितने ही व्यक्तियों की मृत्यु हो जाती है। इसी प्रकार वानप्रस्थ में, जहाँ कि मकानों व पलंगों का स्थान कुटिया व भूमि ही ले लेती है, कृमि कीट के दंश की अधिक आशंका हो सकती है। सो कहते हैं कि **यत्** जब **कृष्णः शकुनः** यह काला पक्षी कौआ अथवा द्रोणकाक (काकोल) **ते**-तुझे **आतुतोद**-पीड़ित करता है, **पिपीलः**-कीड़ा मकोड़ा तुझे काट खाता है, **सर्पः**-साँप डस लेता है, **उत वा**-अथवा **श्वापदः**-कोई हिंस्र-पशु तुझे घायल कर देता है, **तत्**-तो **विष्वात्** (विश्व+अद्) सब विष आदि को भस्म कर देनेवाली **अग्निः** आग **अगदं कृणोतु** तुझे नीरोग करनेवाली हो। सर्पादि के दंश के होने पर उस विषाक्त स्थल को अग्नि के प्रयोग से जलाकर विष प्रभाव को समाप्त करना अभीष्ट हो सकता है। विद्युत् चिकित्सा में कुछ इसी प्रकार का प्रभाव डाला जाता है। (२) यह अग्नि प्रयोग तभी सफल हो पाता है यदि शरीर में रोग से संघर्ष करनेवाली वर्च:शक्ति (vitality) ठीक रूप में हो। इस वर्चस् शक्ति के न होने पर बाह्य उपचार असफल ही रहते हैं। इसीलिए मन्त्र में कहते हैं कि **सोमः च**-यह सोम भी, वीर्यशक्ति भी तुझे नीरोग करे, **यः** जो सोमशक्ति **ब्राह्मणान्** ज्ञानी पुरुषों में **आविवेश**-प्रवेश करती है। ज्ञानी लोग सोम के महत्त्व को समझकर उसे सुरक्षित रखने के लिये पूर्ण प्रयत्न कहते हैं। नासमझी में ही इस सोम का अपव्यय हुआ करता है। शरीरस्थ यह सोम ही वस्तुतः सब विकारों के साथ संघर्ष करता है और उन्हें दूर करनेवाला होता है। औषधोपचारों का स्थान गौण है, वे इसके सहायक-मात्र होते हैं।

भावार्थ—पक्षी, कृमि, कीट, सर्प, हिंस्र पशुओं से उत्पन्न किये गये विकारों को अग्नि के प्रयोग से तथा शरीर में सोम के संरक्षण से हम दूर करनेवाले हों।

ऋषिः—**दमनो यामायनः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

आत्म-संरक्षण प्रभुरूप कवच व भरा हुआ शरीर

अ॒ग्नेर्वर्म॒ परि॒ गोभि॑र्व्ययस्व॒ सं प्रोर्णु॑ष्व॒ पीव॑सा॒ मेद॑सा च।

नेत्त्वा॑ धृ॒ष्णुर्हर॑सा॒ जर्हृ॑षाणो द॒धृग्वि॑ध॒क्ष्यन्प॑र्य॒ङ्खया॑ते॥ ७॥

(१) गतमन्त्र में बाह्य कृमियों से होनेवाले विकारों की चिकित्सा का निर्देश था। प्रस्तुत मन्त्र अध्यात्म रोगों की चिकित्सा का उल्लेख करता है। इसके लिये कहते हैं कि **गोभिः**-वेद-वाणियों के द्वारा ज्ञान की वाणियों को सदा अपनाने के द्वारा **अग्नेः वर्म**-उस प्रभु के कवच को **परिव्ययस्व**-चारों ओर से ओढ़नेवाला बन। अपने को प्रभुरूप कवच से आच्छादित करले। (२) इसके अतिरिक्त तेरा शरीर भी अस्थिपंजर-सा ही न हो। तू अपने शरीर को भी **पीवसा**-मज्जा के द्वारा **मेदसा च**-और मेदस् के द्वारा **सं प्रोर्णुस्व**-आच्छादित कर। तेरा शरीर, मज्जा व मेदस्

से भरा सा प्रतीत हो, क्षीण न हो। पतला-दुबला आदमी कुछ चिड़चिड़े स्वभाव का हो जाता है। शरीर भरा हुआ हो और मनुष्य प्रभु स्मरण में चलता हो तो वासनाओं का आक्रमण नहीं होता। पतला-दुबला व्यक्ति भी वासनाओं का शिकार हो जाता है। प्रभु से दूर होने पर तो वासनाएँ हमारे पर आधिपत्य जमा ही लेती हैं। (३) तू प्रभु को कवच बना, तथा शरीर भी तेरा भरा हुआ हो। जिससे **त्वा**=तुझे यह काम **न इत् पर्यङ्ख्याते**=चारों ओर से चिपट नहीं जाता, तुझे यह अपने वशीभूत नहीं कर लेता। वह 'काम' जो कि **धृष्णुः**-धर्षण करनेवाला है, हमें कुचल डालनेवाला है। **हरसा जर्हषाणः**=विषयों में हरण के द्वारा रोमाञ्चित करनेवाला है। **दधृक्**=पकड़ लेनेवाला है, अर्थात् इस काम के वशीभूत हो जाने पर इस से पीछा छूटना बड़ा कठिन है। **विधक्ष्यन्**=और अपने काबू करके यह काम हमें भस्म कर देनेवाला है।

भावार्थ—इस काम के आक्रमण से हम बच तभी सकते हैं यदि प्रभु स्मरण रूप कवच हमने धारण किया हुआ हो और हमारा शरीर अस्थिपंजर-सा न होकर भरा हुआ व सुदृढ़ हो।

ऋषिः—**दमनो यामायनः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

शरीर रूप चमस

इममग्ने चमसं मा वि जिह्वरः प्रियो देवानामुत सोम्यानाम्।
एष यश्चमसो देवपानस्तस्मिन्देवा अमृता मादयन्ते॥ ८॥

(१) प्रगतिशील जीव को 'अग्नि' कहते हैं। यह अग्नि अपने इस शरीर को चमस=सोमपात्र बनाता है। इस शरीररूप चमस में वह सोम=वीर्य को सुरक्षित रखता है। जैसे घृत पूर्ण चम्मच कुछ टेढ़ा हो जाए तो घृत के गिरने की आशंका हो जाती है, उसी प्रकार इस शरीररूप चमस के भी टेढ़े होने से, इसमें कुटिलता के आने से सोम का नाश हो जाता है। इसलिए मन्त्र में कहते हैं कि **अग्ने**=हे प्रगतिशील जीव! **इमं चमसम्**=इस सोमपात्रभूत शरीर-चमस को **मा विजिह्वरः**=तू कुटिल मत होने दे। यदि यहाँ कुटिल वृत्तियाँ पनप उठी तो सोम के रक्षण का सम्भव न रहेगा। (२) सोम के रक्षण से ही तो यह शरीर **देवानाम्**=देवताओं का बनता है **उत**=और यह शरीर **सोम्यानाम्**=सोम्य-शान्त-पुरुषों का होता है। अर्थात् सोम के सुरक्षित होने पर हम देववृत्ति वाले व सोम स्वभाव के होते हैं। दिव्यगुणों को विकसित करने का तथा सोम्यता के सम्पादन का उपाय यही है कि हम इस शरीर को चमस=सोमपात्र बनाएँ। यह देवों व सोम्यों का चमस **प्रियः**=अत्यन्त प्रिय होता है, बड़ा प्यारा लगता है, कान्ति-सम्पन्न होता है। (३) **एषः**=यह **यः**=जो **चमसः**=सोमपात्र बना हुआ शरीर है, जो कि **देवपानः**=देवों के सोमपान का स्थान बनता है (पिबन्ति अस्मिन् इति पानः) **तस्मिन्**=उस शरीर में **देवाः**=देव लोग **अमृताः**=रोगरूप मृत्युओं से आक्रान्त न होते हुए तथा विषय-वासनाओं के पीछे न मरते हुए **मादयन्ते**=हर्षित होते हैं। इस शरीर में देव नीरोगता व निर्मलता के आनन्द का अनुभव करते हैं।

भावार्थ—कुटिल वृत्तियों से ऊपर उठकर हम शरीर में सोमरक्षण के द्वारा इस शरीर को देवों व सोम्य पुरुषों का प्रिय शरीर बनायें। हम नीरोग व निर्मल वृत्ति के बनकर आनन्द का अनुभव करें।

ऋषिः—**दमनो यामायनः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

क्रव्याद अग्नि का निर्वासन

क्रव्यादमग्निं प्र हिणोमि दूरं यमराज्ञो गच्छतु रिप्रवाहः।
इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन्॥ ९॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार शरीर को प्रिय व अमृत बनाने के लिये आवश्यक है कि हम आग्नेय भोजनों को न करके सोम्य भोजनों के ही करनेवाले हों। तामस भोजन को अपने जीवन में स्थान न देकर वानस्पतिक भोजनों के ही करनेवाले बनें। इसी भाव को वेद की काव्यमय भाषा में इस प्रकार कहा गया है कि '**क्रव्यादम्**'=मांस को खानेवाली **अग्निम्**=अग्नि को **दूरं प्रहिणोमि**=मैं दूर भेजता हूँ। हमारी जाठराग्नि में कभी भी मांस की आहुति न दी जाए। मांस 'हव्य' पदार्थ नहीं है। (२) यह क्रव्याद अग्नि तो **यमराज्ञः**=यमराजा का है, अर्थात् इस क्रव्याद अग्नि का सम्बन्ध मृत्यु की देवता से है। यह मांस भोजन मृत्यु का, रोगों का कारण बनता है। **रिप्रवाहः**=दोषों का दहन करनेवाला यह क्रव्याद अग्नि **गच्छतु**=हमारे से सुदूर प्रदेशों में जाये। हमारे से मांस भोजन दूर ही रहे। (३) **इतरः**=मांस भोजन से भिन्न वानस्पतिक भोजनों वाला **अयम्**=यह **जातवेदाः**=उत्पन्न प्रज्ञानों वाला अग्नि **एव**=ही **इह**=यहाँ हमारे जीवनों में हो। हम सदा सात्त्विक वानस्पतिक भोजनों को ही करनेवाले हों। यह भोजन ही हमें आहार शुद्धि के द्वारा सत्त्व-शुद्धि वाला बनायेगा। हमारे शुद्ध अन्त:करणों में ज्ञान का प्रकाश होगा। (४) इसलिए **प्रजानन्**=एक समझदार पुरुष **देवेभ्यः**=दिव्यगुणों की उत्पत्ति के लिए **हव्यं वहतु**=हव्य पदार्थों को ही इस जाठराग्नि में प्राप्त करानेवाला हो। हम कभी भी मांस को भोजन न बनायें, यह अयज्ञिय है, हव्य नहीं है मांस भोजन से क्रूरता व स्वार्थ आदि की भावनाओं का ही विकास होता है नकि दिव्यभावों का। दिव्यभावनाओं की उत्पत्ति के लिये हव्य पदार्थ ही हितकर हैं।

भावार्थ—हम मांस को सर्वथा छोड़कर यज्ञिय पवित्र वानस्पतिक भोजनों के ही करनेवाले बनें। मांस भोजन दोषों को पैदा करता है, हव्य पदार्थों का भक्षण सत्त्व शुद्धि द्वारा ज्ञान व दिव्यगुणों की वृद्धि करनेवाला है।

ऋषिः—**दमनो यामायनः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

वानस्पतिक भोजन व यज्ञप्रवृत्ति

यो अग्निः क्रव्यात्प्रविवेश वो गृहमिमं पश्यन्नितरं जातवेदसम्।
तं हरामि पितृयज्ञाय देवं स घर्ममिन्वात्परमे सधस्थे॥ १०॥

(१) एक घर में जब तक शाक भोजन चलता है तब तक वह घर हव्याद् अग्नि वाला होता है। इन हव्य पदार्थों का प्रयोग करते हुए ये लोग अपनी बुद्धियों के विकास के द्वारा ज्ञान को प्राप्त करते हैं। इसलिए यह हव्याद् अग्नि को **पश्यन्**=देखती हुई **यः**=जो **क्रव्यात् अग्निः**=मांस भोजन वाली अग्नि **वः गृहम्**=तुम्हारे घर में **प्रविवेश**=प्रवेश कर जाती है। **तं हरामि**=उसे घर से दूर करता हूँ (गृहान्निष्क्रययामि सा०)। कई बार मनुष्य ठीक-ठीक सोचता ही नहीं, और ठीक न सोचने के कारण वह मांस भोजन में प्रवृत्त हो जाता है। वह मांस को भी अन्य भोजनों की तरह ही समझने लगता है। मछली को भी जलतोरी नाम देकर खाने लगता है। डाक्टर्स भी मांस को शरीर की पुष्टि के लिये आवश्यक बतलाते हैं और इस प्रकार क्रव्याद अग्नि घर में घुस जाती है। हमें चाहिए यह कि इस मांस भोजन को घर में न आने दें। (२) इस क्रव्याद अग्नि का घर में न आना इसलिए भी आवश्यक है कि 'पितृयज्ञाय'—पितरों का पूजन ठीक से चलता रहे। मांस भोजन के आते ही स्वभाव में क्रूरता बढ़ जाती है और मनुष्य कुछ स्वार्थी-सा हो जाता है। यह स्वभाव की अमधुरता व्यवहार में भी परिवर्तन ले आती है और एक युवक अपने बुजुर्गों का उचित आदर नहीं करता एवं इस क्रव्याद अग्नि वाले घर में से पितृयज्ञ उठ जाता है। (३) **स**=वह क्रव्याद अग्नि को घर से दूर करनेवाला व्यक्ति, **परमे सधस्थे**=उत्कृष्ट (सध=सह) आत्मा व परमात्मा के

मिलकर रहने के स्थान हृदय में **देवं**=उस प्रकाशमय प्रभु को **इन्वात्**-प्राप्त करे, उस प्रभु के दर्शन के लिये यत्नशील हो। तथा **परमे सधस्थे**-घर में सब के मिलकर बैठने के स्थान इस यज्ञवेदि में **घर्मम**-यज्ञ को **इन्वात्** प्राप्त करे। अर्थात् हृदय में जहाँ प्रभु का ध्यान करे वहां यज्ञगृह में बैठकर घर के सब सभ्य अग्निहोत्र करें।

भावार्थ—यदि एक घर में मांसाहार को स्थान नहीं मिलता तो वहाँ पितृयज्ञ ठीक से चलता है, ब्रह्मयज्ञ (प्रभु का उपासन) तथा अग्निहोत्र भी वहाँ निरन्तर होते ही हैं।

ऋषिः—**दमनो यामायनः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

देवत्व व पितृत्व तथा शाकाहार

यो अ॒ग्निः क्र॑व्य॒वाह॑नः पि॒तॄन्यक्ष॑दृता॒वृधः॑। प्रेदु॑ ह॒व्यानि॑ वोचति दे॒वेभ्य॑श्च पि॒तृभ्य॒ आ॥ ११॥

(१) **यः**=जो यह **क्रव्यवाहनः**=मांस का वहन करनेवाला **अग्निः**=क्रव्याद अग्नि अर्थात् मांस भोजन **ऋतावृधः**=ऋत का वर्धन करनेवाले, यज्ञ (=ऋत) को अपने जीवन में बढ़ानेवाले **पितॄन्**=पितरों के साथ भी **यक्षत्**=संगत हो जाता है अर्थात् यज्ञशील पितरों में भी कभी-कभी मांस-भोजन की ओर झुकाव हो जाता है। सो वे प्रभु **देवेभ्यः**=देवताओं के लिये **च**=और **पितृभ्यः**=पितरों के लिये भी **इद् उ**-निश्चय से **हव्यानि**=हव्य पदार्थों का **प्रवोचति**=प्रकृष्ट उपदेश देते हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार से, भिन्न-भिन्न शब्दों में प्रभु मांस भोजन की हीनता व त्याज्यता का प्रतिपादन करते हैं और शाक भोजन की उपादेयता को कहते हैं। अथर्व के ये शब्द प्रसिद्ध हैं कि 'व्रीहिमत्तं यवमत्तं माष भक्षो तिलम्'=जौ, चावल, उड़द व तिल आदि पदार्थों को ही तुमने भोजन के रूप में लेना है। (२) बारम्बार उपदेश की आवश्यकता को ही यहाँ यह कहकर व्यक्त किया गया है कि यह मांस भोजन बड़ों-बड़ों को भी लुब्ध कर लेता है। सो इससे बचने के लिये आवश्यक है कि हमें स्थान-स्थान पर प्रभु की ओर से हव्य पदार्थों के प्रयोग का उपदेश हो। यह उपदेश विशेषकर देववृत्ति व पितृवृत्ति वालों के लिये आवश्यक है, क्योंकि उनका अनुकरण ही सामान्य लोगों ने करना होता है।

भावार्थ—देव व पितर सदा हव्य पदार्थों को ही ग्रहण करनेवाले हों। वस्तुतः यह हव्य पदार्थों का स्वीकार ही उनके देवत्व व पितृत्व को कायम रखता है। मांस भोजन से वे देव व पितर नहीं रह जाते।

ऋषिः—**दमनो यामायनः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

उशन्=प्रभु प्राप्ति ही कामना वाला

उ॒शन्त॑स्त्वा॒ नि धी॑मह्यु॒शन्तः॒ समि॑धीमहि। उ॒श॒न्नु॑श॒त आ व॑ह पि॒तॄन्ह॒विषे॒ अत्त॑वे॥ १२॥

(१) हे हव्याद अग्ने! **उशन्तः**=उस प्रभु प्राप्ति की कामना करते हुए हम **त्वा**=तुझे **निधीमहि**=अपने में स्थापित करते हैं वस्तुतः यदि हम हव्य पदार्थों का सेवन करेंगे तभी शुद्ध अन्तःकरण वाले बनकर प्रभु के दर्शन को भी कर सकेंगे। (२) **उशन्तः**-उस प्रभु की कामना करते हुए हम **समिधीमहि**=तुझ हव्याद अग्नि को समिद्ध करते हैं। जाठराग्नि मन्द हो जाने पर भी सब शक्तियों का ह्रास हो जाता है और प्रभु दर्शन का प्रसंग नहीं रहता। निर्बल के लिये प्रभु दर्शन का सम्भव नहीं। सो यह स्पष्ट है कि हमें इस अन्तःस्थित वैश्वानर अग्नि में हव्य पदार्थों को ही डालना है, और उन्हें भी इस प्रकार मात्रा में ही प्रयुक्त करना है कि यह अग्नि बुझ ही न जाए। 'मात्रा बलम्' में तैत्तिरीय उपनिषद् के शब्द मात्रा के महत्त्व को उत्तमता से व्यक्त कर रहे हैं। (३) हे **उशन्**=हमारे हित की कामना करनेवाले अग्ने! **उशतः**=प्रभु प्राप्ति की कामना वाले

पितॄन् पितरों को **हविषे अत्तवे**-हव्य पदार्थों को खाने के लिये **आवह**-समन्तात् प्राप्त करा। ये पितर सदा हव्य पदार्थों को ही स्वीकार करें। इन के ग्रहण से इन में दिव्यता का वर्धन होगा। इस दिव्यता के वर्धन से ये 'महादेव' को प्राप्त करने के योग्य बनेंगे।

भावार्थ—हम अपनी वैश्वानर अग्नि में हव्य पदार्थों को ही मात्रा में डालें। इस प्रकार समिद्ध होकर यह अग्नि हमें सशक्त बनायेगी और हम प्रभु को प्राप्त करनेवाले होंगे।

ऋषिः **दमनो यामायनः**॥ देवता **अग्निः**॥ छन्दः **विराडनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

कियाम्बु तथा पाकदूर्वा

यं त्वम॑ग्ने स॒मद॑ह॒स्तमु॒ निर्वा॑पया॒ पुनः॑। कि॒याम्ब्वत्र॑ रोहतु पाकदू॒र्वा व्य॑ल्कशा॥ १३॥

(१) भोजन दो भागों में बटे हुए हैं—(क) सौम्य तथा (ख) आग्नेय। आग्नेय भोजन उत्तेजित करनेवाले हैं, वे जलन को पैदा करते हैं—Acidity (ऐसिडिटि) को बढ़ानेवाले हैं। अम्लता के वर्धक होकर ये आयुष्य को क्षीण करते हैं। इसके विपरीत सौम्य भोजन शान्त स्वभाव को जन्म देते हैं। इसीलिए यहाँ मन्त्र में कहा है कि हे **अग्ने**-आग्नेय भोजन! अग्नितत्त्व की प्रधानता वाले भोजन! **त्वम्**=तूने **यम्**-जिसको **समदहः**-जला-सा दिया है, **तं उ**=अब उसको निश्चय से **पुनः**-फिर **निर्वापया**=बुझानेवाला हो। उत्तेजना को समाप्त करके उसमें शान्ति को स्थापित करनेवाला हो। (२) इस शान्ति-स्थापना के उद्देश्य से **अत्र** यहाँ हमारे जीवन में **कियाम्बु** 'कियत् प्रयाणमुदकम् (अम्बु) अस्मिन्' अत्यधिक जल के प्रमाण वाले ये व्रीहि (-चावल) आदि पदार्थ तथा **व्यल्कशा**-(विविधशाखायुक्ता नि०) पृथिवी पर अनेक शाखाओं से फैल जानेवाली यह **पाकदूर्वा**=परिपक्व दूर्वा अर्थात् पत्रशाक **रोहतु**-वृद्धि को प्राप्त करें। चावल तथा दूर्वा-प्रकार के शाक (=मांस भोजन से विपरीत घास भोजन) सौम्य भोजन हैं। ये हमारे में उत्तेजना को न पैदा करके शान्ति को देनेवाले हों।

भावार्थ—हम सदा सौम्य भोजनों को ही प्रधानता दें।

ऋषिः—**दमनो यामायनः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

मण्डूकी

शीति॑के॒ शीति॑काव॒ति ह्लादि॑के॒ ह्लादि॑कावति। म॒ण्डू॒क्या॒३॑ सु सं ग॑म इ॒मं स्व१॑ग्निं ह॑र्षय॥ १४॥

(१) प्रस्तुत मन्त्र में **मण्डूकी**=मण्डूकपर्णी का उल्लेख है, यह कोश के अनुसार कई पौधों का नाम है (Name of sevaral plants)। ये सब पौधे शीतवीर्य व सुख प्रीति के बढ़ानेवाले हैं। शीतवीर्य होने से इन्हें मन्त्र में 'शीतिके' शब्द से सम्बोधित किया गया है तथा सुख-प्रीतिवर्धक होने से 'ह्लादिके' कहा गया है। हे **शीतिकावति**=शीतवीर्य वाली, शरीर में उत्तेजना को दूर करके शान्ति को जन्म देनेवाली **शीतिके**=शीतिका नाम वाली ओषधि, हे **ह्लादिकावति**=शरीर में उत्तम धातुओं को जन्म देकर आह्लाद को बढ़ानेवाली **ह्लादिके**-ह्लादिका नामवाली ओषधि; ऐ **ह्लादिकावति**-शरीर को उत्तम धातुओं से मण्डित करनेवाली है। तू **आ सु संगम**=सब प्रकार से उत्तमता से हमारे साथ संगत हो और **इमं**-इस **अग्निम्**=प्रगतिशील जीव की वैश्वानर अग्नि को **हर्षय**-हर्षित कर। इस की यह जाठराग्नि बुझ न जाए। यह दीप्त अग्नि इसके जीवन को भी दीप्त करनेवाली हो। दीप्त अग्नि ही शरीर में शान्ति व हर्ष के वर्धन का कारण बनती है।

भावार्थ—हमारे भोजन मण्डूकपर्णी ओषधि के समान शीतवीर्य व प्रीतिवर्धक हो।

सूक्त के प्रारम्भ में आचार्य विद्यार्थी को तप व दण्ड की उचित व्यवस्था से ज्ञान परिपक्व करते हैं। (१) आचार्यकुल में विद्यार्थी असुनीति=प्राणविद्या का अध्ययन करता है और स्वास्थ्य की कला

को सीखता है, (२) सूर्यादि देवों के साथ यह अपनी अनुकूलता बनाता है, (३) तप पवित्रता व ज्ञानदीप्ति से यह प्रभु को धारण करता है, (४) गृहस्थ की समाप्ति पर फिर से पितरों के समीप वन में आता है, (५) विषादि को अग्नि प्रयोग से दूर करता है, (६) प्रभु स्मरण रूप कवच को धारण करता है, (७) अपने जीवन से कुटिलता को दूर करता है, (८) मांस भोजन को सर्वथा छोड़ता है, (९) वानस्पतिक भोजन द्वारा यज्ञिय वृत्ति वाला बनता है, (१०) शाकाहार से ही देवत्व तथा पितृत्व की वृद्धि होती है, (११) हम प्रभु की प्राप्ति की कामना वाले बनते हैं, (१२) हम कियाम्बु व पाकदूर्वा का प्रयोग करें, (१३) मण्डूकपर्णी जाति की ओषधियों को अपनायें जो कि शीतवीर्य व हर्षवर्धक हैं, (१४) ऐसा होने पर त्वष्टा की दुहिता सरण्यू से हमारा परिणय होगा।

द्वितीयोऽनुवाकः

[१७] सप्तदशं सूक्तम्

ऋषिः—**देवश्रवा यामायनः**॥ देवता—**सरण्यूः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

त्वष्टा की दुहिता का परिणय

त्वष्टा॑ दु॒हि॒त्रे व॑ह॒तुं कृ॑णो॒ती॒ती॒दं विश्वं॒ भुव॑नं॒ समे॑ति।
य॒मस्य॑ मा॒ता प॑र्यु॒ह्यमा॑ना म॒हो जा॒या विव॑स्वतो ननाश॥ १॥

(१) 'त्वष्टा' परमात्मा का नाम है, वे प्रभु (त्वक्षतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः) सारे ब्रह्माण्ड को गति देनेवाले व संसार रूप फलक के बढ़ई हैं, तथा (त्विषेर्ण स्याद् दीप्तिकर्मणः) वे प्रभु दीप्तिमय हैं, ज्ञानदीप्ति से परिपूर्ण हैं। (२) इस त्वष्टा की 'दुहिता'=(दुह प्रपूरणे) 'वेद' है जो कि अपने पाठक के जीवन का पूरण करनेवाली है। इसे ही द्वितीय मन्त्र में 'सरण्यू' नाम दिया गया है। यह 'सर'=गति (सृ गतौ) तथा 'ण'-ज्ञान, इन दोनों को (यु=मिश्रण) हमारे साथ जोड़नेवाली है। (३) इसका अध्ययन करना ही इसके साथ परिणीत होना है। इसके साथ परिणीत होनेवाला 'विवस्वान्'=ज्ञान की किरणों वाला है। ज्ञान की किरणों वाला ज्ञानी पुरुष 'विवस्वान्' है, तो प्रभु 'महान् विवस्वान्' हैं। जैसे आत्मा परमात्मा ये शब्द जीव व ईश्वर के वाचक हैं, उसी प्रकार यहाँ विवस्वान् तथा महान् विवस्वान् शब्द हैं। यह वेद वाणी उस 'महान् विवस्वान्' प्रभु की जाया=प्रादुर्भाव करनेवाली है, 'सर्ववेदाः यत् पदम् आमनन्ति'। उस प्रभु के प्रकाश को करती हुई यह अज्ञानान्धकार को नष्ट कर देती है। (४) यह त्वष्टा की दुहिता (अश्विनौ) का भरण करती है, इसी से यह 'यम'=twins=युगल की माता कहलाती है यह युगल 'नासत्य व दस्र' हैं। वेदवाणी का परिणाम जीवन में यही होता है कि न+असत्य=असत्य का अंश नष्ट हो जाता है, 'दसु उपक्षये' और सारी बुराइयों व रोगों का विध्वंस हो जाता है। 'अश्विनौ' का अर्थ 'प्राणापान' भी है 'प्राण' असत्य को नष्ट करता है तो 'अपान' सब बुराइयों को दूर करता है। (५) त्वष्टा की इस दुहिता के विवाह के समय सम्पूर्ण भुवन उपस्थित होता है अर्थात् मनुष्य को सम्पूर्ण भुवन का ज्ञान देनेवाली यह वेदवाणी होती है, 'वेद' सब सत्य विद्याओं का ग्रन्थ तो है ही। (६) मन्त्र में यह सब इन शब्दों में कहा गया है कि—**त्वष्टा**=प्रभु **दुहित्रे**=दुहिता के लिये **वहतुं**=विवाह को **कृणोति**=रचते हैं। **इति**=इस कारण **इदं विश्वं भुवनं समेति**=यह सम्पूर्ण भुवन एकत्र उपस्थित होता है। **यमस्य माता**=यह यम को, युगल को जन्म देनेवाली **पर्युह्यमाना**=जब परिणीत होती है तो वह **महो विवस्वतः जाया**=उस महान् विवस्वान् प्रभु का प्रादुर्भाव करनेवाली होती है। इस प्रादुर्भाव के होने पर **ननाश**=सब अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—हम वेदज्ञान को प्राप्त करें जिससे प्रभु दर्शन के अधिकारी हों और अपने

अज्ञानान्धकार को नष्ट कर सकें।

ऋषिः—**देवश्रवा यामायनः**॥ देवता—**सरण्यूः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

सरण्यू के दो सन्तान

अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वी सवर्णामददुर्विवस्वते।
उताश्विनावभरद्यत्तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः॥ २॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार वेदज्ञान को प्राप्त करनेवाला सब देवों के ज्ञान को प्राप्त करने के कारण 'देवश्रवाः' कहलाता है 'देवेषु श्रवे यस्य'। यह संयत जीवनवाला बनने से 'यामायन'-यम का पुत्र कहा गया है। यह 'देवश्रवा यामायन' ही प्रस्तुत सूक्त का ऋषि है। यह कहता है कि इस **अमृताम्**=कभी नष्ट न होनेवाली अथवा मृत्यु से बचानेवाली इस वेदवाणी को **मर्त्येभ्यः**=वासनाओं से आक्रान्त होकर विषयों के पीछे मरनेवाले मनुष्यों से **अपागूहन्** दूर छिपाकर रखा जाता है। **अमताम्**-इसे प्राप्त नहीं कर सकता। निरुक्त के परिशिष्ट में हम पढ़ते हैं कि 'विद्या' ब्राह्मण के पास आई और कहा कि मुझे सुरक्षित करो, मैं तुम्हारा कोश हूँ। मुझे 'असूयक अनृजु व अयति' (असंयमी) पुरुष के लिये न देना जिससे मैं वीर्यवती होऊँ। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यह अमृत वेदवाणी असंयत जीवन वाले पुरुष को प्राप्त नहीं होती। (२) इस वेदवाणी को **सवर्णाम् कृत्वी**=प्रभु वर्णन युक्त करके **विवस्वते**=ज्ञानी पुरुष के लिये **अददुः**-देते हैं। 'सर्वे वेदाः यत् पदम् आमनन्ति' इन शब्दों के अनुसार यह वेदवाणी प्रभु के वर्णन से युक्त है। (३) **उत**-और यह वेदवाणी **अश्विनौ**=प्राणापान का **अभरत्**=पोषण करती है। 'असुनीति' प्राणविद्या का प्रतिपादन करनेवाली यह वेदवाणी प्राणापान का पोषण क्यों न करेगी? (४) **यत्**-जो **तत्**-वह प्राणापान का पोषण करनेवाली अमृता वेदवाणी **आसीत्**-थी, अर्थात् जब इसने हमारे प्राणापान की शक्तियों का वर्धन किया तो **सरण्यूः**-ज्ञान व कर्म से हमारा मेल करनेवाली इस वेदवाणी ने **द्वा मिथुना**=दो युगलभूत 'नासत्य व दस्र' को **उ**-निश्चय से **अजहात्**-जन्म दिया। ज्ञान ही नासत्य है, कर्म ही दस्र है। ज्ञान से सत्य का दर्शन होता है और कर्म से सब बुराइयों का संहार (दसु उपक्षये) होता है।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमारा इस 'सरण्यू' नाम वाली वेदवाणी से सम्बन्ध हो और हमारे जीवन में सत्य व पवित्रता का संचार हो।

ऋषिः—**देवश्रवा यामायनः**॥ देवता—**पूषाः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अनष्टपशुः

पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः।
स त्वैतेभ्यः परि ददत्पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः॥ ३॥

(१) गत मन्त्रों के अनुसार 'महान् विवस्वान्'-परमात्मा **विवस्वान्** आत्मा के लिये वेदवाणी को देते हैं और उसके द्वारा **पूषा**=हमारा सब प्रकार से पोषण करनेवाले प्रभु **त्वा**-तुझे **इतः**-इस संसार से **च्यावयतु**-मुक्त करें। वेदज्ञान के द्वारा मनुष्य विषयों में फँसने से बच जाता है। इधर से छूटता है और उधर (प्रभु से) इसका मेल होता है। (२) यह पूषा **'प्रविद्वान्'** प्रकृष्ट ज्ञानी हैं, ये हमें ठीक ही मार्गदर्शन कराते हैं। जैसे एक ग्वाला अपनी गौवों को नष्ट नहीं होने देता, उसी प्रकार ये प्रभु भी **अनष्टपशुः**-अपने पशुओं को नष्ट नहीं होने देते। प्रभु ग्वाले हैं, हम उनकी गौवें। इस प्रकार वे प्रभु **भुवनस्य गोपाः**=सारे ब्रह्माण्ड के रक्षक हैं। (३) वे प्रभु ही

इस संसार में पितरों के द्वारा हमारा पालन करते हैं। प्रभु पालक हैं, अपनी पालन क्रिया में पितरों को वे निमित्त बनाते हैं। **स अग्निः**=वे प्रभु **त्वा**=तुझे **एतेभ्यः पितृभ्यः**=इन पितरों के लिये, जो कि **देवेभ्यः**=देववृत्ति वाले हैं तथा **सुविदत्रियेभ्यः**=उत्तम ज्ञान के द्वारा रक्षण करनेवाले हैं, **परिददत्**=देते हैं। इन पितरों को निमित्त बनाकर वे हमारा रक्षण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु पूषा हैं। हमें उत्तम पितरों के द्वारा आगे ले चलते हैं और इस प्रकार वे प्रभु हमारा रक्षण करते हैं। संसार में आसक्त होने से प्रभु ही हमें बचाते हैं।

ऋषिः—**देवश्रवा यामायनः**॥ देवता—**पूषाः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

पुण्यात्म पुरुषों का मार्ग

आयुर्विश्वायुः परि पासति त्वा पूषा त्वा पातु प्रपथे पुरस्तात्।
यत्रासते सुकृतो यत्र ते ययुस्तत्र त्वा देवः सविता दधातु॥ ४॥

(१) **आयुः**=(एति) गतिशील, स्वाभाविक क्रिया वाला, **विश्वायुः**=सम्पूर्ण क्रिया वाला वह प्रभु **त्वा**=तेरी **परिपासति**=रक्षा करता है। (२) **पूषा**=यह पोषण करनेवाला परमात्मा **त्वा**=तुझे **प्रपथे**=प्रकृष्ट मार्ग में **पुरस्तात्**=आगे-आगे **पातु**=रक्षित करनेवाला हो। (३) **यत्र**=जहाँ **सुकृतः**=पुण्यशाली लोग **आसते**=विराजते हैं, **यत्र**=जिस मार्ग पर **ते**=वे पुण्यशाली लोग **ययुः**=चलते हैं, **तत्र**=उस मार्ग पर **त्वा**=तुझे **सविता देवः**=सब का प्रेरक दिव्यगुणों का पुंज प्रभु **दधातु**=स्थापित करे। (४) सम्पूर्ण क्रिया के स्रोत वे प्रभु ही हैं। उनकी यह क्रियाशीलता ही जीव का पोषण करती है इसी से ये प्रभु पूषा कहलाते हैं। ये पूषा प्रभु हमारा रक्षण करें, हमें जीवन मार्ग में आगे ले चलें। इस पूषन देव की कृपा से हमारा मार्ग वही हो जो कि पुण्यशील पुरुषों का मार्ग होता है।

भावार्थ—हम उसी मार्ग से चलें जिस मार्ग से कि पुण्यात्मा लोग चला करते हैं।

ऋषिः—**देवश्रवा यामायनः**॥ देवता—**पूषाः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अभयतम मार्ग

पूषेमा आशा अनु वेद सर्वाः सो अस्माँ अभयतमेन नेषत्।
स्वस्तिदा आघृणिः सर्ववीरोऽप्रयुच्छन्पुर एतु प्रजानन्॥ ५॥

(१) **पूषा**=पोषण करनेवाले प्रभु **इमाः सर्वाः आशाः**=इन सब दिशाओं को **अनुवेद**=ठीक-ठीक रूप में जानते हैं। प्रभु से कुछ अज्ञात नहीं है। **सः**=वे प्रभु **अस्मान्**=हमें **अभयतमेन**=अत्यन्त निर्भयता के मार्ग से **नेषत्**=ले चलें। हमारे लिये जो भी मार्ग कल्याणकर है, प्रभु पूर्ण प्रज्ञ होने के नाते, हमें उस मार्ग से ही ले चलें। (२) वे प्रभु **स्वस्तिदा**=कल्याण को देनेवाले हैं। मार्गस्थ को **अवसाद**=कष्ट नहीं प्राप्त होता। प्रभु हमें मार्ग से ले चलेंगे तो हमारा कल्याण तो होगा ही। **आघृणिः**=वे प्रभु सर्वतः ज्ञानरश्मियों से दीप्त हैं, **सर्ववीरः**=सम्पूर्ण शक्तियों वाले हैं। न तो प्रभु के ज्ञान में कमी है, ना ही उनकी शक्ति में। सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान् होने के नाते वे प्रभु **अप्रयुच्छन्**=किञ्चिन्मात्र भी प्रमाद न करते हुए **प्रजानन्**=हमारी स्थिति को पूर्ण रूप से समझते हुए **पुरः एतु**=हमारे आगे चलें, अर्थात् हमारे मार्गदर्शक हों। हमें प्रभु कृपा प्राप्त हो, हम प्रभु से उपेक्षित न हों।

भावार्थ—वे सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् प्रभु सब मार्गों को अच्छी प्रकार जानते हुए अभयतम मार्ग से हमें ले चलें।

ऋषिः—**देवश्रवा यामायनः**॥ देवता—**पूषा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्रियतम-सधस्थ

प्रप॑थे प॒थाम॑जनिष्ट पू॒षा प्रप॑थे दि॒वः प्रप॑थे पृथि॒व्याः।
उ॒भे अ॒भि प्रि॒यत॑मे स॒धस्थे॒ आ च॒ परा॑ च चरति प्रजा॒नन्॥ ६॥

(१) **पूषा**-वह सब का पोषक प्रभु **पथाम् प्रपथे**-मार्गों के प्रकृष्ट मार्ग में **अजनिष्ट** प्रादुर्भूत होता है। मार्गों में प्रकृष्ट मार्ग मध्य मार्ग है। वस्तुतः यह मध्य मार्ग ही गत मन्त्र का 'अभयतम मार्ग' है। इसी मार्ग को अन्तारिक्ष मार्ग भी कहते हैं, क्योंकि यहाँ 'अन्तराक्षि'-बीच में रहता है। अतिजागरणशील व अतिस्वप्नशील को प्रभु का दर्शन नहीं होता, युक्ताहार-विहार वाला ही प्रभुदर्शन का अधिकारी होता है। (२) वे प्रभु **दिवः**-प्रकाश के **प्रपथे**-प्रकृष्ट मार्ग में प्रकट होते हैं और **पृथिव्याः**-विस्तृत शक्तियों वाले शरीर के **प्रपथे**-प्रकृष्ट मार्ग में प्रकट होते हैं। प्रभु का दर्शन उसी व्यक्ति को होता है जो मस्तिष्क को ज्ञान-सम्पन्न व शरीर को शक्ति-सम्पन्न बनाता है। (३) **प्रजानन्**-एक समझदार पुरुष **उभे** दोनों **प्रियतमे**-अत्यन्त प्रिय **सधस्थे** (सह+स्थ) मिलकर बैठने के स्थानों का **अभि**-लक्ष्य करके **आचरति**-धर्मकार्यों का आचरण करता है **च**-और **पराचरति**-अधर्म के कार्यों को अपने से दूर करता है प्रत्येक सद्गृहस्थ को चाहिए कि अपने घर में प्रातः-सायं दोनों समय मिलकर सब के बैठने की व्यवस्था हो। यह यज्ञ-स्थान 'सधस्थ' है 'अस्मिन् सधस्थे अध्युत्तरास्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत'। यह घर के प्रत्येक सभ्य को प्रियतम हो। इसमें स्थित होकर सब उत्तम कर्मों को करने का संकल्प करें, और निश्चय करें कि सब दुरितों को वे अपने से दूर करेंगे।

भावार्थ—हम मध्य मार्ग पर चलेंगे, 'अति' से बचते हुए ज्ञान को बढ़ायेंगे, शरीर को दृढ़ करेंगे। प्रातः-सायं यज्ञवेदि में सब एकत्रित होकर उत्तम कर्मों को करने व दुरितों से बचने का निश्चय करेंगे।

ऋषिः—**देवश्रवा यामायनः**॥ देवता—**सरस्वती**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

सरस्वती का आराधन

सर॑स्वतीं देव॒यन्तो॑ हवन्ते॒ सर॑स्वतीमध्व॒रे ता॒यमा॑ने।
सर॑स्वतीं सु॒कृतो॑ अह्वयन्त॒ सर॑स्वती दा॒शुषे॒ वार्यं॑ दात्॥ ७॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार 'सधस्थ' अर्थात् यज्ञवेदि में एकत्रित होकर सब यज्ञ करते हैं, और उसके बाद स्वाध्याय के द्वारा **सरस्वती**-विद्या की सरस्वती देवी का आराधन प्रारम्भ होता है। **देवयन्तः**=दिव्यगुणों को अपनाने की कामना करते हुए और दिव्यगुणों के द्वारा दिव्यता के पुंज प्रभु को प्राप्त करने की कामना करते हुए लोग **सरस्वतीम्**=विद्या की अधिदेवता को **हवन्ते**-पुकारते हैं। स्वाध्याय के द्वारा ज्ञान की वृद्धि होती है, इस ज्ञान से जीवन में पवित्रता का संचार होता है। (२) **अध्वरे तायमाने**-यज्ञों का विस्तार होने पर सरस्वतीं-सरस्वती को पुकारते हैं। यह सरस्वती ही यज्ञों को 'अ-ध्वर' बनाये रखती है। ज्ञान के कारण ही यज्ञों में भी पवित्रता बनी रहती है। ज्ञान की कमी के साथ यज्ञों में रूढ़ियों का महत्त्व अधिक हो जाता है मध्यकाल में तो स्वाध्याय की कमी के कारण यज्ञ 'अ-ध्वर' ही न रहे। इन अ-ध्वरों में अधिकाधिक हिंसा का प्रारम्भ हो गया। (३) इसलिए **सुकृतः**-पुण्यशाली लोग **सरस्वतीम्**-सरस्वती को **अह्वयन्त**-पुकारते हैं। वस्तुतः यह सरस्वती ही उन्हें 'सुकृत्' बनाती है। 'नहि ज्ञानेन सदृशं

पवित्रमिह विद्यते'-ज्ञान की मनुष्य को पवित्र बनाता है। (४) **सरस्वती**=यह ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता **दाशुषे**-आत्मापर्ण करनेवाले के लिये **वार्यं दात्**-सब वरणीय वस्तुओं को प्राप्त कराती हैं। हमें चाहिए यह कि अपना सारा अवकाश स्वाध्याय के लिए अर्पित करें। यही सरस्वती के प्रति आत्मापर्ण होगा। यदि हम ऐसा करेंगे तो हमें सब आवश्यक वस्तुएँ अवश्य प्राप्त होगी हमें किसी प्रकार की कमी न रहेगी।

भावार्थ—सरस्वती हमें देव बनाती है। हमारे यज्ञों को हिंसाशून्य बनाकर सचमुच 'अध्वर' कहलाने योग्य करती है। हमें पुण्यात्मा बनाती है और वरणीय वस्तुओं को देती है।

ऋषिः-**देवश्रवा यामायनः**॥ देवता-**सरस्वती**॥ छन्दः-**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

सरस्वती के साथ समान रथ में

सरस्वति या सरथं ययाथ स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती।
आसद्यास्मिन्बर्हिषि मादयस्वानमीवा इष आ धेह्यस्मे॥ ८॥

(१) हे **सरस्वति**=विद्या की अधिष्ठात्रि देवि! **या**=जो तू **सरथम्**-हमारे साथ एक ही रथ में (समानं रथं) **ययाथ**-गति करती हो। अर्थात् हमारा यह शरीर रूप रथ हमारा वाहन तो है ही। जब हम इसे सरस्वती का भी वाहन बनाते हैं, अर्थात् स्वाध्याय आदि में प्रवृत्त होते हैं तो उस समय हम सरस्वती के साथ एक ही रथ में बैठे होते हैं। (२) हे **देवि**=प्रकाश की पुंज व हमारे जीवन को प्रकाशित करनेवाली सरस्वती तू **स्व-धाभिः**=आत्मतत्त्व के धारण की प्रक्रियाओं से अर्थात् प्रतिदिन के प्रातः-सायं ध्यान से तथा **पितृभिः**=ज्ञानप्रद आचार्यरूप पितरों के साथ **मदन्ती**=तू हर्ष का अनुभव करती हुई होती है। हमें स्वाध्याय के साथ आत्मतत्त्व का धारण=उपासना तथा आचार्यों का सत्संग अवश्य करना चाहिए। (३) हे सरस्वति! **अस्मिन् बर्हिषि**=हमारे इस वासनाशून्य हृदय में **आसद्य**=आसीन होकर **मादयस्व**-हमें आनन्दित कर। 'हम ज्ञान की रुचि वाले बनें' यही सरस्वती का हृदयों में आसीन होना है। जब कभी भी यह हो सका, हम एक विशिष्ट आनन्द का अनुभव करेंगे। (४) 'हम स्वाध्याय की रुचि वाले बनें' इसके लिये तू **अस्मे**-हमारे लिये **अनमीवा**=सब प्रकार के रोगों से रहित **इषः**=अन्नों को **आधेहि**=स्थापित कर। इन अन्नों का सेवन करते हुए हम सत्त्वशुद्धि के द्वारा, ज्ञान का वर्धन करनेवाले बनें।

भावार्थ—हमारा जीवन स्वाध्याय सम्पन्न हो। हम सात्त्विक अन्नों का प्रयोग करें।

ऋषिः-**देवश्रवा यामायनः**॥ देवता-**सरस्वती**॥ छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

आराधना का फल

सरस्वतीं यां पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः।
सहस्रार्घमिळो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानेषु धेहि॥ ९॥

(१) गतमन्त्र के अनुसार हम उस सरस्वती के साथ समान रथ में आरूढ़ हों **यां सरस्वतीम्**=जिस सरस्वती को **पितरः**=वे रक्षक लोग **हवन्ते**=पुकारते हैं जो **दक्षिणाः**=कर्मों में दक्ष व कुशल हैं, कुशलता के साथ कर्मों को करते हैं तथा **यज्ञम् अभिनक्षमाणाः**=सदा यज्ञों का व्यापन करते हैं। (२) कर्मों में कुशल व यज्ञशील पितर जिस सरस्वती की आराधना करते हैं वह सरस्वती **अत्र**-इस जीवन में **सहस्रार्घम्**=अनन्त मूल्य वाले अर्थात् जीवन के लिये अत्यन्त उपयोगी **इडः भागम्**-वेदवाणी के भाग को **धेहि**=स्थापित करे तथा **यजमानेषु**=सरस्वती का सदा उपासन करनेवाले यज्ञशील पुरुषों में **रायस्पोषम्**=धन के पोषण को स्थापित करे।

सरस्वती की आराधना से अमूल्य ज्ञाननिधि की प्राप्ति तो होती ही है, जीवन के लिये आवश्यक धनों का भी लाभ होता है। एवं सरस्वती की कृपा से श्रेय व प्रेय दोनों का साधन होता है, परलोक व इहलोक दोनों ही ठीक होते हैं।

भावार्थ—सरस्वती की आराधना से हमें अमूल्य ज्ञान तथा धन दोनों की प्राप्ति हो।

ऋषिः—**देवश्रवा यामायनः**॥ देवता—**आपः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

'सरस्वती' के जल में स्नान

आपो॑ अ॒स्मान्मा॒तरः॑ शुन्धयन्तु घृ॒तेन॑ नो घृत॒प्वः॑ पुनन्तु।
विश्वं॒ हि रि॒प्रं प्र॒वह॑न्ति दे॒वीरुदिदा॑भ्यः॒ शुचि॒रा पू॒त ए॑मि॥ १०॥

(१) गत मन्त्रों में सरस्वती का उल्लेख था। यह ज्ञान की धारा व ज्ञान नदी गुरु-शिष्य परम्परा से आगे और आगे प्रवाहित होती है। 'इस ज्ञाननदी के जल हमारे जीवनों को पवित्र करें' यह प्रार्थना प्रस्तुत मन्त्र में की गई है। **मातरः**-मातृवत् हित को करनेवाले अथवा हमारे जीवन के स्वास्थ्य का निर्माण करनेवाले **आपः**-इस सरस्वती नदी के जल **अस्मान्**=हमें **शुन्धयन्तु**-शुद्ध कर डालें। ज्ञान के समान पवित्र करनेवाली अन्य वस्तु नहीं है। (२) **घृतप्वः**-(घृ=क्षरण-दीप्त्योः) मलों के क्षरण व ज्ञान की दीप्ति से ये जल पवित्र करनेवाले हैं। ये **घृतेन**=मलों के दूरीकरण के द्वारा **नः पुनन्तु**=हमें पवित्र करें। इन ज्ञान जलों से हमारे सब अंग पवित्र हो जाएँ। बाहर की पवित्रता जलों से होती है तो अन्तः पवित्रता इन ज्ञान जलों के बिना नहीं हो सकती। (३) **देवीः**=दिव्य गुणों को जन्म देनेवाले अथवा जीवन को प्रकाशमय करनेवाले ये ज्ञानजल **हि**-निश्चय से **विश्वं रिप्रम्**-सब मलों व दोषों को **प्रवहन्ति**=बहा ले जाते हैं। इन ज्ञान जलों से पापों के मल धुल जाते हैं। (४) इन ज्ञान जलों में गोता लगाने के बाद **शुचिः**-पवित्र हुआ-हुआ **आपूतः**=अंग-प्रत्यंग में शुद्ध हुआ हुआ **आभ्यः**-इन से **उत् एमि**-ऊपर आता हूँ। वैदिक संस्कृति के अनुसार ब्रह्मचर्याश्रम में हम इन ज्ञान जलों में स्नान करके, शुद्ध होकर, गृहस्थ में आते हैं, और इसी कारण हमारा गृहस्थ मलिन नहीं हो पाता। पुनः वानप्रस्थ में 'स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात्'=नित्य स्वाध्याय में युक्त होकर ज्ञान जलों में स्नान चलता है और पवित्र होकर, सब मलासंगों से रहित होकर हम संन्यस्त होते हैं और प्राजापत्य यज्ञ में प्रवृत्त हो जाते हैं। यह यज्ञ ही अन्ततः हमें प्रजापति की गोद में विलीन करनेवाला होता है।

भावार्थ—सरस्वती नदी के जल हमारे जीवन की पूर्ण पवित्रता को सिद्ध करते हैं।

ऋषिः—**देवश्रवा यामायनः**॥ देवता—**आपः सोमो वा**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥
स्वरः—**धैवतः**॥

सप्तर्षियों से सम्पादित यज्ञ

द्र॒प्सश्च॑स्कन्द प्रथ॒माँ अनु॒ द्यूनि॒मं च॒ योनि॒मनु॒ यश्च॒ पूर्वः॑।
स॒मा॒नं योनि॒मनु॑ सं॒चर॑न्तं द्र॒प्सं जु॑हो॒म्यनु॑ स॒प्त होत्राः॑॥ ११॥

(१) प्रस्तुत तीन मन्त्रों का देवता 'सोम' है। 'सरस्वती के जल का पान' इस सोम के रक्षण से ही सम्भव है। इस सोम के कण ही ज्ञानाग्नि का ईंधन बनते हैं और तभी हम ज्ञानग्रहण की क्षमता वाले होते हैं। इन सोमकणों को 'द्रप्सः' (drops) कहा गया है, ये सोमकण (दृप्=दर्पति Light, inflame, candel) ज्ञानाग्नि को दीप्त करते हैं। जीवन को **प्रथमान् द्यून् अनु**-प्रथम दिनों का लक्ष्य करके अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम में यह **द्रप्सः**=सोम **चस्कन्द**-(स्कन्द्-to ascend, go,

move to become dry) शरीर में ऊर्ध्वगतिवाला होता है, और शरीर में गति करते हुए इसका शरीर में ही शोषण हो जाता है, अर्थात् शरीर में ही यह व्याप्त हो जाता है। (२) यह सोम **इमं च योनिम्** इस अपने उत्पत्ति स्थानभूत शरीर को और **यः च पूर्वः**=जो इस शरीर में सब से पूर्व स्थान है उस मस्तिष्क को **अनु**=लक्ष्य करके चस्कन्द=ऊर्ध्वगतिवाला व शरीर में ही व्याप्ति वाला होता है। यह सोम जहाँ शरीर को नीरोग बनाता है, वहाँ यह सोम मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि को प्रज्वलित करता है। (३) मैं इस सोम को, जो **समानं योनिम् अनु संचरन्तम्**=जहाँ यह उत्पन्न हुआ उस शरीर में ही अंग-प्रत्यंग में रुधिर के साथ संचरण करते रहा है, उस **द्रप्सम्**=ज्ञानाग्नि की दीप्ति के साधनभूत सोम को **सप्तहोत्राः अनु**=सात यज्ञों का लक्ष्य करके **जुहोमि**=आहुत करता हूँ। 'सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे' प्रत्येक शरीर में सात ऋषि रखे गये हैं। 'कर्णाविमौ नासिक्ते चक्षणी मुखम्'=दो कान, दो नासिका छिद्र, दो आँखें व मुख। इनसे शब्द, गन्ध, रूप व रसादि विषयों का ग्रहण होकर निरन्तर ज्ञानयज्ञ चल रहे हैं। इन ज्ञानयज्ञों के चलने का सम्भव इस सोम के रक्षण पर ही है। इसी ने इन सप्तर्षियों को सबल बनाना है। इसी से शक्ति सम्पन्न होकर ये ऋषि इन सात ज्ञान यज्ञों को चलाते रहते हैं।

भावार्थ—हम ब्रह्मचर्याश्रम में सोम का रक्षण करें। यह सोम शरीर को सबल बनाये व मस्तिष्क को दीप्त करे। शरीर में ही व्याप्त होता हुआ यह शरीर सप्तर्षियों से सम्पादित ज्ञानयज्ञ में आहुत हो।

ऋषिः—**देवश्रवा यामायनः**॥ देवता—**आपः सोमो वा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

सोमरक्षण के लाभ

यस्ते॑ द्र॒प्सः स्कन्द॑ति॒ यस्ते॑ अं॒शुर्बा॒हुच्यु॑तो धि॒षणा॑या उ॒पस्था॑त्।
अ॒ध्व॒र्योर्वा॒ परि॑ वा॒ यः प॒वित्रा॒त्तं ते॑ जुहोमि॒ मन॑सा॒ वष॑ट्कृतम्॥ १२॥

(१) **य**=जो **ते**=तेरा **द्रप्सः**=ज्ञानाग्नि की दीप्ति का हेतुभूत सोम **स्कन्दति**=शरीर में ही ऊर्ध्वगतिवाला होता है। **यः**=जो यह **ते**=तेरा सोम **अंशुः**=(Ray of light) प्रकाश की किरण ही है। **बाहुच्युतः**=जो यह सोम तेरी बाहुओं को सिक्त करनेवाला है (to wet thoroughly, to moisten) अर्थात् तेरी भुजाओं में व्याप्त होकर उन्हें शक्ति-सम्पन्न बनानेवाला है। (२) **धिषणायाः**=बुद्धि की **उपस्थात्**=उपासना के हेतु से **वा**=तथा **अध्वर्योः**=हिंसाशून्य जीवन वाले पुरुष के **परिपवित्रात्**=सर्वतः पवित्र हृदय के हेतु से **तं**=उस सोम को **ते जुहोमि**=तेरे अन्दर ही आहुत करता हूँ। सोम के शरीर में ही आहुत होने के दो लाभ हैं। प्रथम तो यह कि बुद्धि तीव्र होती है और दूसरा यह कि हृदय में हिंसा-द्वेष आदि की भावनाएँ स्थान नहीं पातीं। बुद्धि की उपासना व हृदय की पवित्रता के दृष्टिकोण से इस सोम का रक्षण नितान्त आवश्यक है। (३) 'इस सोम की आहुति शरीर में ही किस प्रकार दी जाती है'? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि **मनसा वषट् कृतम्**=यह सोम मन के द्वारा शरीर में आहुत होता है। मन के विचार पवित्र होंगे तो सोम का रक्षण होगा। यदि ये विचार पवित्र न हुए और वासनाओं की प्रबलता हुई तब यह सोम शरीर में आहुत न हो पाएगा। उस समय भोगाग्नि में आहुत होकर यह हमें रोगाक्रान्त कर देगा। 'मनसा' शब्द में मननशीलता की भावना है। मननशील मनुष्य सोम का रक्षण कर पाता है। यह सोम उसको अधिक मनन के योग्य बनाता है।

भावार्थ—सोम सुरक्षित होने पर भुजाओं को शक्तिशाली बनाता है, बुद्धि को तीव्र करता है और हृदय को पवित्र बनाता है। मन की पवित्रता के बिना इसके रक्षण का सम्भव भी नहीं।

ऋषिः—**देवश्रवा यामायनः** ॥ देवता—**आपः सोमो वा** ॥ छन्दः—**ककुम्मतीबृहती** ॥
स्वरः—**मध्यमः** ॥

अपरा व पराविद्या की प्राप्ति

यस्ते॑ द्र॒प्सः स्क॒न्नो यस्ते॑ अं॒शुर॒वश्च॒ यः प॒रः स्रु॒चा।
अ॒यं दे॒वो बृह॒स्पति॒ः सं तं सि॑ञ्चतु॒ राध॑से॥ १३॥

(१) **यः**=जो **ते** तेरा **द्रप्सः**=ज्ञानाग्नि की दीप्ति का साधनभूत सोम **स्कन्नः**-शरीर में ही ऊर्ध्वगतिवाला हुआ है। **यः**-जो सोम **ते** तेरा **अंशुः**-ज्ञान की किरण के रूप में है। यह सोम **अवः च** निचले क्षेत्र में, अपराविद्या के क्षेत्र में **परः च**-और परक्षेत्र में अर्थात् पराविद्या के क्षेत्र में **अंशुः**=ज्ञानार्थ किरण बनता है। इस सोम से ही ज्ञानाग्नि दीप्त होती है और मनुष्य प्रकृतिविद्या व आत्मविद्या को अपना पाता है। अपनाने का प्रकार है—**स्रुचा**=चम्मच के द्वारा। जैसे चम्मच से अग्नि में घृतादि की आहुति दी जाती है, इसी प्रकार आचार्य से वाणी रूप चम्मच के द्वारा (वाग्वै स्रुचः श० ६।३।१।८) शिष्य में ज्ञान की आहुति दी जाती है। (२) **अयं देवः बृहस्पतिः**-यह प्रकाश का पुंज-वेदवाणी का पति प्रभु **तम्**=उस सोम को **राधसे**-सब प्रकार की सफलताओं के लिये **सं सिञ्चतु**-तेरे में संसिक्त करे। प्रभु कृपा से हम सोम को शरीर में ही व्याप्त करनेवाले बनें और यह सोम हमें सभी क्षेत्रों में सफलता को प्राप्त करानेवाला हो।

भावार्थ—सोमरक्षण से हम प्रकृतिविद्या व आत्मविद्या के क्षेत्र में उन्नति करें। इस सोम के द्वारा हमें सर्वत्र सफलता मिले।

ऋषिः—**देवश्रवा यामायनः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

सात्त्विक भोजन व स्वाध्याय सादा खाना, पानी पीना

पय॑स्वती॒रोष॑धय॒ः पय॑स्वन्माम॒कं वचः॑। अ॒पां पय॑स्व॒दित्पय॒स्तेन॑ मा स॒ह शु॑न्धत॥ १४॥

(१) **ओषधयः**-सब ओषधियाँ **पयस्वतीः**-आप्यायन वाली हों। वस्तुतः यदि शरीर में सोम का रक्षण करना है तो उसके लिये सब से महत्त्वपूर्ण आवश्यक बात यही है कि हम वानस्पतिक भोजन को अपनाने का ध्यान करें। इनसे शरीर में सौम्य वीर्य की उत्पत्ति होकर उसके शरीर में रक्षण सम्भव होगा। उससे शारीरिक नीरोगता के साथ मानस स्वास्थ्य भी प्राप्त होगा और **मामकं वचः**-मेरा वचन **पयस्वत्**-आप्यायनवाला होगा। मेरी वाणी में भी वर्धन की शक्ति होगी। (२) **अपाम्**=इन सरस्वती के जलों का **पयः**=आप्यायन **इत्**-निश्चय से **पयस्वत्**-वर्धनवाला है, **तेन सह**-उस वर्धन के साथ **मा शुन्धत**-मुझे शुद्ध कर डालो। ज्ञान जल के पान के दो लाभ हैं—(क) सामान्यतः शारीरिक, वाचिक व मानस वर्धन होता है तथा (ख) जीवन की शुद्धि होती है।

भावार्थ—हम वानस्पतिक भोजन को अपनाएँ तथा सरस्वती विद्या के जलों के पान से, ज्ञानवर्धन से अपने जीवनों को उन्नत व शुद्ध करें।

सूचना—'ओषधयः और अपां' शब्द का प्रयोग 'सादे खाने व पानी पीने' का संकेत कर रहा है। जितना भोजन सादा होगा उतना ही जीवन का आप्यायन व शोधन सुगम होगा।

त्वष्टा की दुहिता के परिणय से सूक्त का प्रारम्भ होता है, (१) यह सरण्यू 'ज्ञान व कर्म' रूप दो सन्तानों को जन्म देती है, (२) प्रभु ग्वाले हैं और हम उनके पशु, (३) हम पुण्यात्माओं के मार्ग से चलें, (४) प्रभु, कृपया, हमें अभयतम मार्ग से ले चलें, (५) हम प्रातः-सायं यज्ञवेदि

में एकत्रित होकर उत्तम कर्मों के करने का निश्चय करें, (६) सरस्वती के आराधन बनें, (७-९) सरस्वती के जल में स्नान हमें शुद्ध व पवित्र करेगा, (१०) इस स्नान के लिये हम सोम (-वीर्य) का रक्षण करें, (११-१३) सोमरक्षण के उद्देश्य से हमारा खान-पान अत्यन्त सादा हो, (१४) ऐसा करने पर हम मृत्यु को अपने से दूर रख सकेंगे।

[१८] अष्टादशं सूक्तम्

ऋषिः—**सङ्कुसुको यामायनः**॥ देवता—**मृत्यु**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

मृत्यु का मार्ग

परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते स्व इतरो देवयानात्।
चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि नः प्रजां रीरिषो मोत वीरान्॥ १॥

(१) हे **मृत्यो**=मृत्यु-देवते! तू **परं पन्थाम्**=सुदूर मार्ग को **अनु**=लक्ष्य करके **परेहि**=हमारे से दूर चलीजा। उस मार्ग पर जा **यः**=जो कि **ते**=तेरा **स्वः**=अपना है। **देवयानात् इतरः**=जो देवयान से भिन्न मार्ग है। देवताओं का मार्ग 'देवो दानात्' देने का है, देव देकर खाते हैं। इनसे विपरीत असुर हैं, जो कि सारे का सारा अपने मुख में डाल लेते हैं (स्वेषु आस्येषु जुह्वतश्चेति सः) देवताओं का मार्ग 'देवो दीपनाद्वाद्योतनाद्वा' ज्ञान का मार्ग है, इस मार्ग में स्वाध्याय व प्रवचन को प्रमुखता प्राप्त है, असुरों के मार्ग में 'खाने-पीने व भोग' की प्रमुखता है। सो मृत्यु ने वहीं आना है जहाँ स्वार्थ है, जहाँ भोग का प्राधान्य है। (२) मृत्यु को सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि **चक्षुष्मते शृण्वते**=देखती व सुनती **ते**=तेरे लिये **ब्रवीमि**=मैं यह कहता हूँ कि तू **नः प्रजाम्**=हमारी प्रजा को **मा रीरिषः**=मत हिंसित कर, **उत**=और **वीरान् मा**=हमारी वीर सन्तानों का तू अन्त करनेवाली न हो। हमारी सन्तानें हमारे सामने जीवन को समाप्त कर न चली जायें। पीछे आने से उन्हें पहले जाने का अधिकार ही नहीं है। उनका पहले जाना तो अँधेर ही है।

भावार्थ—हम देवयान मार्ग से चलें। स्वार्थ व भोग से ऊपर उठें। स्वार्थ व भोग का मार्ग ही मृत्यु का मार्ग है।

ऋषिः—**सङ्कुसुको यामायनः**॥ देवता—**मृत्यु**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

मृत्यु-पद-योपन (शुद्ध-पूत-यज्ञिय)

मृत्योः पदं योपयन्तो यदैत द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः।
आप्यायमानाः प्रजया धनेन शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः॥ २॥

(१) गत मन्त्र में वर्णित **मृत्योः पदम्**=मृत्यु के 'स्वार्थ व भोगमय' मार्ग को **योपयन्तः**=परे धकेलते हुए व अपने से दूर करते हुए **यदा एत**=जब चलते हैं तो **द्राघीयः**=अत्यन्त दीर्घ व **प्रतरं**=उत्कृष्ट **आयुः**=जीवन को **दधानाः**=धारण करते हुए होते हैं। दीर्घ व उत्कृष्ट जीवन को प्राप्त करने का मार्ग यही है कि हम देवयान से चलें, 'दान व ज्ञान' के मार्ग को अपनाएँ। (२) उत्कृष्ट जीवन का ही चित्रण करते हुए कहते हैं कि **प्रजया**=उत्तम सन्तान से तथा **धनेन**=धन से **आप्यायमानाः**=सब दिशाओं में उन्नति करते हुए **शुद्धाः**=शुद्ध अन्तःकरण वाले **पूताः**=यज्ञ व रोगों से शून्य शरीर वाले और **यज्ञियासः**=उत्तम कर्मों में प्रवृत्त **भवतः**=हो जाइये। सांसारिक जीवन में प्रजा व धन का स्थान स्पष्ट है धन के बिना संसार में एक कदम भी उठाना कठिन है। निर्धनता तो महान् पाप है। सन्तान भी प्रतिकूल होकर हमें समाज में अप्रतिष्ठा कराती है तो यह मरणान्तक कष्ट है।

भावार्थ—संसार में रहते हुए हम श्रेष्ठ सन्तान व शुद्ध पवित्र धन प्राप्त कर मृत्यु को दूर भगाते रहें।

ऋषिः—**सङ्कुसुको यामायनः**॥ देवता—**मृत्यु**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

दीर्घ जीवन

इमे जीवा वि मृतैराववृत्रन्नभूद्भद्रा देवहूतिर्नो अद्य।
प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः॥ ३॥

इमे-ये **जीवाः**=जीवित मनुष्य **मृतैः**=मृत जनों से **वि आववृत्रन्**=घिरे हुये न रहें परन्तु **अद्य** आज **नः**=हमें **भद्रा**=कल्याण कारक **देवहूति**=विद्वानों का उपदेश **अभूत्**-चाहिये। जिससे हम **द्राघीय आयुः**=दीर्घ आयु को **प्रतरम्**=अच्छी प्रकार तर जाएँ, प्राप्त करें। दीर्घ जीवन **दधानाः** -धारण करते हुए **नृतये**-नृत्य के लिये **हसाय**=हँसने के लिए **प्राञ्चः**=आगे **अगाम**=पहुँचें।

भावार्थ—हम मृतकों की स्मृति में शोक में डूबे न रहें, अपितु नये उत्साह से अग्रिम कार्य को करने मन लगायें।

ऋषिः—**सङ्कुसुको यामायनः**॥ देवता—**मृत्यु**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

शतायु जीवन

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम्।
शतं जीवन्तु शरदः पुरूचीरन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन॥ ४॥

(१) मैं परमेश्वर **जीवेभ्यः**-जीवित मनुष्यों के लिये **इमम्**=इस **परिधिम्**-सीमा को **दधामि**-धारण करता हूँ (व्यवस्थित करता हूँ) (२) **एषाम्** इनमें से **अपर**-कोई भी **एतम्-अर्थम्**-इस मृत्यु मार्ग से **नु**-निश्चय से **मा गात्**=मत जावे। सभी जीवित मनुष्य **शतम्**=सौ **शरदः** वर्षों तक **पुरूचीः**-सौ से भी अधिक वर्षों तक **जीवन्तु**=जीवें। बीच में उनकी उम्र ही खण्डित न हो जाए। (३) ये जीव **मृत्युम्**-मृत्यु को **पर्वतेन**-पर्वत से **अन्तर्दधताम्**=अन्तर्हित करनेवाले हों। यह पर्वत क्या है? (क) कोश में पर्वत का अर्थ (A kind of vegetable) 'एक प्रकार की वनस्पति' दिया है। वनस्पति विशेष के प्रयोग से दीर्घजीवन सम्भव है ही। आचार्य दयानन्द ने यजु० ३३।५० में पर्वत का अर्थ (ख) (पर्वाणि उत्सवा विद्यन्ते येषां ते) 'उत्साहमय जीवन' किया है। दीर्घजीवन के लिये सदा प्रसन्न रहने का महत्त्व सुव्यक्त है। (ग) ३५।१५ में 'ज्ञानेन ब्रह्मचार्यादिना' इन शब्दों में आचार्य पर्वत का अर्थ 'ज्ञान और ब्रह्मचर्य' करते हैं। दीर्घायुष्य के ये मुख्यतम साधन हैं। ब्रह्मचर्य का दीर्घजीवन से अत्यधिक सम्बन्ध है। 'मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दु धारणात्' इन शब्दों में 'ब्रह्मचर्य ही जीवन है और उसका अभाव मृत्यु'। एवं ब्रह्मचर्य रूप पर्वत से मृत्यु को हमें अन्तर्हित करना है। (घ) यहाँ मेरुदण्ड (रीढ़ की हड्डी) भी शरीरस्थ मेरुपर्वत ही है। इसके सीधे रखने से भी दीर्घजीवन की प्राप्ति होती है। झुककर न बैठना, सीधे बैठने का अभ्यास आवश्यक है।

भावार्थ—हम सौ वर्ष तक बड़ा क्रियाशील जीवन बितायें। ब्रह्मचर्य रूप पर्वत से मृत्यु को अपने से दूर रखें।

ऋषिः—**सङ्कुसुको यामायनः**॥ देवता—**धाता**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अविच्छिन्न व पूर्ण जीवन

यथाहान्यनुपूर्वं भवन्ति यथ ऋतव ऋतुभिर्यन्ति साधु।
यथा न पूर्वमपरो जहात्येवा धातरायूंषि कल्पयैषाम्॥ ५॥

(१) **यथा**=जिस प्रकार **अहानि**=दिन **अनुपूर्वम्**-अनुक्रम से **भवन्ति**=परिवृत्त होते रहते हैं, अर्थात् जैसे एक दिन के बाद दूसरा दिन आ जाता है और उससे लगा हुआ तीसरा दिन। और इस प्रकार यह दिनों का क्रम चलता ही जाता है, **एवा**=इसी प्रकार **धातः**=हे हम सब का धारण करनेवाले प्रभो! **एषाम्**=इन मन्त्र के ऋषि 'संकुसुक यामायन' लोगों के (कुस् to embrace) आपका आलिंगन करनेवाले संयमी पुरुषों के **आयूंषि**=जीवनों को **कल्पय**=बनाइये। इनका जीवन भी समय से पूर्व विच्छिन्न न हो जाए। (२) **यथा**-जैसे **ऋतवः**-ऋतुएँ **ऋतुभिः**=ऋतुओं के साथ **साधु यन्ति**=उत्तमता से चलती हैं, 'वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त व शिशिर' का क्रम अविच्छिन्न रूप से चलता जाता है, इसी प्रकार हे विधातः! इन स्वभक्तों के जीवनों को भी आप मध्य में ही विच्छिन्न न होने दीजिये। ये अपने जीवन के प्रयाणों के चक्र को, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व संन्यास को पूरा कर ही पायें। (३) **यथा**=जैसे **पूर्वम्**=पूर्व काल में उत्पन्न हुए पिता को **अपरः**=अर्वाक् काल में होनेवाला सन्तान **न जहाति**=नहीं छोड़ता है, अर्थात् पिता से पूर्व ही जीवन को समाप्त करके चला नहीं जाता है, इस प्रकार हे प्रभो! इन स्वभक्तों के जीवनों को बनाइये। पहले आनेवाला पहले ही जाए। कोई भी व्यक्ति यौवन में ही समाप्त-जीवनवाला न हो जाए। प्रभु की कृपा से प्रभु-भक्तों के जीवन अविच्छिन्न रूप से अन्ततक चलनेवाले हों और वे जीवन के चक्र को पूर्ण करके ही आयुष्य को समाप्त करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमारी जीवन यात्रा मध्य में ही विच्छिन्न न हो जाए। पुत्र कभी पिता से पूर्व ही चला न जाए।

ऋषिः—**सङ्कुसुको यामायनः**॥ देवता—**त्वष्टा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

निरन्तर उद्योगशील

आ रोहतायुर्जरसं वृणाना अनुपूर्वं यतमाना यति ष्ठ।
इह त्वष्टा सुजनिमा सजोषा दीर्घमायुः करति जीवसे वः॥ ६॥

(१) एक घर में रहने वालों को सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि **यतिष्ठ**=आप जितने भी हो वे **अनुपूर्वं**=क्रमशः **यतमानाः**=गृह की स्थिति को उत्तम बनाने के लिये निरन्तर प्रयत्न करते हुए **आयुः आरोहत**=आयु में आगे और आगे बढ़नेवाले होवो। **जरसं वृणानाः**=आप जरावस्था का वरण करनेवाले बनो। यौवन में ही आपका जीवन समाप्त न हो जाए। पिता के बाद पुत्र आता है। पिता ने जैसे घर को अच्छा बनाने का यत्न किया था। पुत्र ने उस गृह-स्थिति में और उन्नति के लिये प्रयत्न करना है। पिता अपना कार्य करके चला जाता है, अब पुत्र ने भी अपने कार्य को यथाशक्ति सम्पन्न करते हुए जीवन में आगे बढ़ना है। घर में यह आना और जाना अनुपूर्व बना रहे। कभी पिता के सामने पुत्र की मृत्यु न हो। (२) **इह**=यहाँ संसार में **सुजनिमा**= उत्तम जन्मों को देनेवाला **सजोषाः**=सदा हमारे साथ हृदयों में प्रीतिपूर्वक निवास करनेवाला **त्वष्टा**=वह निर्माता देव! **जीवसे**=उत्तम जीवन के लिये **वः**=आप सब की **दीर्घम् आयुः**=दीर्घ आयु को **करति**=करते हैं। प्रभु कृपा से हमारा जीवन उत्तम बनता है, विशेषकर तब जब कि हम उस प्रभु को अपने

साथ संगत अनुभव करते हैं।

भावार्थ—हम अपने घरों में सदा उत्तम स्थिति के लिये प्रयत्न करते हुए, आगे बढ़ें। प्रभु से संगत हुए-हुए जीवन को उत्तम बनाएँ।

ऋषिः—**सङ्कुसुको यामायनः**॥ देवता—**पितृमेधः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

घर में स्त्री का सर्वप्रमुख स्थान

इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं विशन्तु।
अनश्रवोऽनमीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे॥ ७॥

(१) गत मन्त्र में गृहस्थिति को उत्तम बनाने के लिये उद्योग का संकेत था। गृह की उत्तमता में सर्वप्रथम स्थान स्त्री का है। सो उनका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि—**इमाः नारीः** ये गृह को आगे ले चलनेवाली नारियाँ (नृनये) **अविधवाः** अविधवा हों। दीर्घजीवी पतियों को प्राप्त करके ये सदा अपने सौभाग्य को स्थिर रखनेवाली हों। साथ ही **सुपत्नीः** (शोभनाः पत्यः यासाम्) ये उत्तम पतियों वाली हों। जहाँ ये स्वयं पातिव्रत्य धर्म का पालन करनेवाली हों, वहाँ इनके पति भी एक पत्नीव्रत के धर्म को सुन्दरता से निबाहनेवाले हों। (२) ये पत्नियाँ **आञ्जनेन**-शरीर को सर्वतः अलंकृत करनेवाले **सर्पिषा**-घृत के साथ **सं विशन्तु** घरों में सम्यक् प्रवेश करनेवाली हों। अर्थात् जिस गोघृत के सेवन से शरीर, मन व मस्तिष्क सभी दीप्त बने रहते हैं उस गोघृत की घर में इन्हें कमी न हो। घर में गौ होगी तो जीवन के लिये आवश्यक इन घृत आदि पदार्थों की कमी होगी ही क्यों कर? (३) इन्हें कभी दरिद्रता के कारण रोना न पड़े। **अनश्रवः** ये अश्रु वाली न हों। घर में लक्ष्मी के निवास के कारण सदा उल्लास व प्रसन्नता बनी रहे। पति ने श्रम के द्वारा घर को लक्ष्मी का निवास स्थान बना देना है। घर में नमक, तेल व ईंधन का ही रोना न होता रहे। (४) **अनमीवाः**-व्यवस्थित व संयत जीवन के कारण ये सदा नीरोग हों। नीरोग माताएँ ही नीरोग सन्तति को जन्म देती हैं। (५) **सुरत्नाः**-ये स्त्रियाँ उत्तम रमणीय पदार्थों वाली हों अथवा इन्हें उत्तम आभूषणों की कमी न हो। ये **जनयः** उत्तम सन्तानों को जन्म देनेवाली गृहिणियाँ **योनिम् अग्रे आरोहन्तु** घर में सर्वमुख्य स्थान में स्थित हों। इनका घर में उचित आदर हो। वस्तुतः घर का निर्माण इन्होंने ही करना है। जितना अधिक इनका उत्तरदायित्व है उतना ही अधिक इनका मान भी है। मनु के शब्दों में एक माता सौ पिताओं के बराबर है।

भावार्थ—घरों में स्त्रियों का स्थान प्रमुख हो। इन्हें घर के निर्माण के लिये सब आवश्यक वस्तुएँ सुलभ हों। इनका अपना शरीर पूर्ण स्वस्थ हो।

ऋषिः—**सङ्कुसुको यामायनः**॥ देवता—**पितृमेधः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

यदि पति चले जाएँ तो

उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ॥ ८॥

(१) समान्यतः पति को दीर्घजीवी होना चाहिए। पत्नी 'अविधवा' रहे ऐसा गत मन्त्र में कहा था। परन्तु यदि अचानक पति का देहावसान हो जाए तो पत्नी श्मशान में ही न पड़ी रह जाए, मृत पति का ही सदा शोक न करती रहे, अपितु उत्साहयुक्त होकर अपने कर्तव्य कर्मों में लगे। अपने पति की सन्तानों का ध्यान करते हुए वह शोक-मोह को छोड़कर तत्परता से कार्यों में लगी रहे। मन्त्र में कहते हैं कि हे **नारि**-गृह की उन्नति की कारणभूत पत्नि! तू **उदीर्ष्व**-ऊपर उठ और

घर के कार्यों में लग (ईर गतौ), **जीवलोकम् अभि**=इस जीवित संसार का तू ध्यान कर। जो गये, वे तो गये ही। अब तू **गतासुम्**=गत प्राण **एतम्**=इस पति के **उपशेष**=समीप पड़ी है। इस प्रकार शोक का क्या लाभ? **एहि**-उठ और घर की ओर चल। घर की सब क्रियाओं को ठीक से करनेवाली हो। (२) **हस्तग्राभस्य**-अपने हाथ ग्रहण करनेवाले, **दिधिषोः**-धारण करनेवाले अथवा गर्भ में सन्तान को स्थापित करनेवाले **तव पत्युः**=अपने पति की **इदं जनित्वम्**=इस उत्पादित सन्तान को **अभि**-लक्ष्य करके **संबभूथ**-सम्यक्तया होनेवाली हो। अर्थात् तू अपने स्वास्थ्य का पूरा ध्यान कर जिससे सन्तान के पालन व पोषण में किसी प्रकार से तू असमर्थ न हो जाए।

भावार्थ—यदि अकस्मात् पति गुजर जाएँ तो पत्नी, शोक न करती रहकर, पति के सन्तानों का ध्यान करती हुई, अपने स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिये यत्नशील हो।

ऋषिः—**सङ्कुसुको यामायनः**॥ देवता—**पितृमेधः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

सन्तानों का माता के प्रति कथन (पति के हाथ से धनुष को लेना)

धनुर्हस्तादाददानो मृतस्यास्मे क्षत्राय वर्चसे बलाय।
अत्रैव त्वमिह वयं सुवीरा विश्वाः स्पृधो अभिमातीर्जयेम॥ ९॥

(१) सन्तान माता से कहते हैं कि **मृतस्य हस्तात्**=मृत के हाथ से **धनुः आददाना उ**-निश्चय से धनुष को ग्रहण करती हुई, **अस्मे**=हमारे **क्षत्राय**=क्षतों से त्राण के लिये, **वर्चसे**=रोगों से संघर्ष करनेवाली व वीर्यशक्ति के लिये, **बलाय**=शत्रुओं से मुकाबिला कर सकनेवाली शारीरिक ताकत के लिये, **अत्र एव**-यहाँ इस लोक में ही, **इह**=इस घर में ही **त्वम्**=तू यत्नशील हो। वस्तुतः माता के अभाव में तो बालक निश्चित रूप से अनाथ हो ही जाएँगे। सो माता को चाहिए कि जिस जीवन-संग्राम को वह बच्चों के पिता के साथ मिलकर उत्तमता से चला रही थी, अब बच्चों के पिता श्री के चले जाने पर, उस संग्राम को वह स्वयं अकेली चलाने के लिये तैयारी करे। इसी भावना को यहाँ मन्त्र में 'उनके हाथ से धनुष को लेती हुई' इन शब्दों में कहा गया है। जीवन सचमुच एक संग्राम है। 'इसे उत्तमता से लड़ना, इसमें न घबराना' यह बच्चों की माता का अब मुख्य कर्तव्य हो जाता है। (२) माता ने अपना कर्तव्य ठीक निभाया तो सन्तानों की यह कामना अवश्य पूर्ण होगी कि **वयम्**-हम **सुवीराः**=उत्तम वीर बनकर **विश्वाः**=सब **स्पृधाः**=स्पर्धा करनेवाले **अभिमातीः**-शत्रुओं को **जयेम**=जीत लें। शत्रुओं के विजय करनेवाले सन्तान जहाँ संसार में वास्तविक उन्नति कर पाते हैं, वहाँ वे उन्नत सन्तान अपनी माता की प्रसन्नता का कारण बनते हैं और अपने पिता जी के नाम को उज्ज्वल करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—जीवन-संग्राम को लड़ने के लिये, पिता की मृत्यु पर, माता धनुष् को अपने हाथ में ले और अपने सन्तानों के जीवन को क्षत्र वर्चस् व बल से युक्त करके उन्हें शत्रुओं का विजेता बनाये।

ऋषिः—**सङ्कुसुको यामायनः**॥ देवता—**पितृमेधः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

ऊर्णम्रदा युवतिः

उप सर्प मातरं भूमिमेतामुरुव्यचसं पृथिवीं सुशेवाम्।
ऊर्णम्रदा युवतिर्दक्षिणावत एषा त्वा पातु निर्ऋतेरुपस्थात्॥ १०॥

(१) तू **एताम्**=इस **मातरम्**=माता की तरह सब का पोषण करनेवाली, **उरुव्यचसम्**=अत्यन्त

व्याप्ति वाली **पृथिवीम्**=विस्तृत **सुशेवाम्**-उत्तम कल्याण करनेवाली **भूमिं उपसर्प**=भूमि के समीप प्राप्त होनेवाली हो, इस भूमि पर गति करनेवाली हो। तू उदास होकर विषण्ण व गतिशून्य न हो जाए। (२) **दक्षिणावते**-अपने को तेरे प्रति दे डालनेवाली इस सन्तान के लिये तू **ऊर्णम्रदा**-(ऊर्णुञ् आच्छादने) आच्छादन करनेवाली, गोद में लेनेवाली व मृदुस्वभाव तथा **युवतिः**-दोषों को दूर व गुणों को समीप प्राप्त करानेवाली हो। (३) इतनी बात माता से कहकर कि तू (ख) इस पृथ्वी पर गतिशील हो और (ख) कोमलता से सन्तानों को सद्गुणी बना, अब सन्तान से कहते हैं कि **एषा** यह माता **त्वा**-तुझे **निर्ऋतेः**-दुर्गति की **उपस्थात्**-गोद से **पातु** बचाये। यह तेरी दुर्गति न होने दे। पिता के अभाव में, माता भी यदि शोकातुर हो सन्तानों का ध्यान न करे, तो उन सन्तानों की दुर्गति ही तो होगी।

भावार्थ—मृत पति का बच्चों की माता, उदासी को छोड़कर, क्रियाशील बने। बच्चों का रक्षण व कोमलता से पालन करे। उनको दुर्गति का शिकार न होने दे।

ऋषिः—**सङ्कुसुको यामायनः** ॥ देवता—**पितृमेधः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

सूपायना सूपवञ्चना

उच्छ्वञ्चस्व पृथिवी मा नि बाधथाः सूपायनास्मै भव सूपवञ्चना।
माता पुत्रं यथा सिचाभ्येनं भूम ऊर्णुहि ॥ ११ ॥

(१) हे **पृथिवि**-अपनी व सन्तानों की शक्तियों का विस्तार करनेवाली मातः! **उत् सु अञ्चस्व**-तू उदासी को छोड़कर उत्तमता से गति करनेवाली हो। **मा निबाधथाः**-व्यर्थ के शोक व उपवासादि से अपने को पीड़ित मत कर। **अस्मै**-उस सन्तान के लिये **सूपायना भव**=सुगमता से समीप प्राप्त होनेवाली हो, **सु उप वञ्चना**-उत्तम परिचर्या करनेवाली बन। बच्चों का ठीक प्रकार से पालन कर। (२) हे **भूमे**-भूमि मातः! तू भी **एनम्**=इस साथी के चले जाने से दुःखी जन को **अभि ऊर्णुहि**-अभितः आच्छादित करनेवाली हो, इसे न तो खान-पान की कमी हो, न इसके मानस उत्साह में कमी आये। इसको तू इस प्रकार सुरक्षित कर **यथा**-जैसे **माता**=माता **पुत्रम्**=पुत्र को **सिचा**-वस्त्रप्रान्त से ढककर सुरक्षित कर लेती है।

भावार्थ—माता शोक से अपने को पीड़ित न करती हुई बच्चों के पालन में आनन्द का अनुभव करे। वह बच्चों के लिये सूपायना व सूपवञ्चना हों।

ऋषिः—**सङ्कुसुको यामायनः** ॥ देवता—**पितृमेधः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

घृत की धाराओं वाले घर

उच्छ्वञ्चमाना पृथिवी सु तिष्ठतु सहस्रं मित उप हि श्रयन्ताम्।
ते गृहासो घृतश्चुतो भवन्तु विश्वाहास्मै शरणाः सन्त्वत्र ॥ १२ ॥

(१) यह **उत् सु अञ्चमाना**-उत्साहयुक्त हुई हुई उत्तमता से गति करती हुई **पृथिवी**=सब प्रकार से शक्तियों का विस्तार करनेवाली माता **सुतिष्ठतु**=उत्तमता से स्थित हो। यह उदास होकर खाट पकड़कर न बैठ जाए। (२) इस घर में **सहस्रं मितः**=सहस्र संख्याक धन **हि**=निश्चय से **उपश्रयन्ताम्**=आश्रय करें। (२) **ते**=तेरे **गृहासः**-गृह **घृतश्चुतः**-घृत का क्षरण करनेवाले हों। इन घरों में घृत की धाराएँ बहें। किसी प्रकार से घृत की कमी न हो। **विश्वाहा**=सदा **अत्र**-इस घर में **अस्मै**-इस अकले रह गये जन के लिये **शरणाः**=रक्षण **सन्तु**=हों। अर्थात् बच्चों के पिता चले भी गये हैं, तो भी अन्य मामा, चाचा, दादा आदि लोग सहायक बने रहें। वे अपनी जिम्मेदारी

को पहले से अधिक समझते हुए अपने कर्तव्य को उत्तमता से निभाये।

भावार्थ—माता के पुरुषार्थ से घर में धनों की कमी न हो, घर पूर्ववत् घृत के बाहुल्य वाले हों, और अन्य बान्धवजन अपना सहारा दिये रखें।

ऋषिः—**सङ्कुसुको यामायनः**॥ देवता—**पितृमेधः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

घर

उत्ते स्तभ्नामि पृथिवीं त्वत्परीमं लोगं निदधन्मो अहं रिषम्।
एतां स्थूणां पितरो धारयन्तु तेऽत्रा यमः सादना ते मिनोतु॥ १३॥

(१) प्रस्तुत मन्त्र में घर का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **ते पृथिवीम्**=तेरी भूमि को **उत् स्तभ्नामि**=ऊपर थामता हूँ, अर्थात् तेरे पाये को (Pedestal) कुछ ऊँचा रखता हूँ। वस्तुतः घर का पाया नीचा होने पर घर में कुछ सील का अंश बना रहता है जो स्वास्थ्य के लिये उतना हितकर नहीं होता। (२) और **त्वत् परि**=तेरे चारों ओर **इमम्**=इस **लोगम्**=पार्थिव ढेर को, मुंडेर को **निदधन्**=रखता हुआ **अहं**=मैं **मा उ रिषम्**=मत ही हिंसित होऊँ। घर के चारों ओर कुछ चारदिवारी सी हो जिससे कि अवाञ्छनीय पशु आदि का प्रवेश न होता रहे और आंगन ठीक से बना रहे। (३) **एतां स्थूणाम्**=घर के इस स्तम्भ को **ते पितरः**=तेरे पितर—मामा, चाचा, दादा आदि **धारयन्तु**=धारण करनेवाले हों। बच्चों की माता के इन बुजुर्ग बन्धुओं की यह नैतिक जिम्मेदारी हो जाती है कि वे बच्चों के पिता के चले जाने के बाद घर के बोझ को अपने कन्धों पर लें, घर का ध्यान करनेवाले बनें। (४) और सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि **अत्रा**=इस घर में अब **यमः**=वह सर्वनियन्ता प्रभु **ते सादना**=तेरे बैठने-उठने के स्थानभूत कमरों को **मिनोतु**=(observer, perceiver) देखनेवाला हो। अर्थात् प्रभु की कृपादृष्टि इस घर पर सदा बनी रहे। अनाथों के सच्चे नाथ तो वे प्रभु ही हैं। प्रभु कृपा से सब बात ठीक हो जाती है।

भावार्थ—घर का पाया ऊँचा हो, नीरोगता के लिये यह आवश्यक है। चारदिवारी ठीक हो जिससे आंगन ठीक रहे। रिश्तेदार घर के बोझ को अपने कन्धों पर लें और सब से बड़ी बात यह कि घर पर प्रभु की कृपादृष्टि बनी रहे।

ऋषिः—**सङ्कुसुको यामायनः**॥ देवता—**पितृमेधः प्रजापतिर्वा**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

विधवा का मौलिक कर्तव्य

प्रतीचीने मामहनीष्वाः पर्णमिवा दधुः। प्रतीचीं जग्रभा वाचमश्वं रशनया यथा॥ १४॥

(१) बच्चों की विधवा माता प्रभु से प्रार्थना करती है कि **माम्**=मुझे **प्रतीचीने**=(प्रति अञ्च्) एक-एक कार्य में लगे हुए **अहनि**=दिन में **इष्वाः पर्णम् इव**=बाण के पर्ण की तरह **आदधुः**=सब देव स्थापित करें। बाण में जो पर्ण लगाया जाता वह उसकी तीव्रगति का कारण होता है और लक्ष्य के वेधन में सहायक होता है। जैसे इषु में पर्ण के लगाने से पूर्व भी गति थी, इसी प्रकार यह माता पहले भी खूब क्रियामय जीवन वाली थी परन्तु पर्ण से गति में जैसे तीव्रता आ जाती है उसी प्रकार यह अब पहले से अधिक गति वाली हो गई है। अब यह अपने लक्ष्य की ओर पूर्वापेक्ष्या अधिक ध्यान से चल रही है। इसका दिन प्रतीचीने=प्रतिक्षण कार्य में लगा हुआ हो गया है। (२) इस विधवा के लिये सब से महत्त्वपूर्ण बात यह है कि **वाचम्**=वाणी को **प्रतीचीम्**=**जग्रभा**=वापिस गतिवाला करके ग्रहण करे, उसी प्रकार ग्रहण करे **यथा**=जैसे **अश्वम्**=घोड़े को **रशनया**=लगाम से रोक लेते हैं। अर्थात् वाणी पर इसका पूरा control

(शासन) हो। यह व्यर्थ की बातों में समय को नष्ट न करे। मौन को ही वैधव्य का सर्वोत्तम आभूषण समझे। कम बोलनेवाला कार्य को अधिक सुन्दरता से कर भी सकता है।

भावार्थ—विधवा स्त्री का एक एक क्षण कार्यमय हो। वह मौन को महत्त्व दे।

सूक्त के प्रथम चार मन्त्रों में दीर्घ-जीवन की प्रार्थना है इसके लिये हम स्वार्थ से ऊपर उठें, शुद्ध पवित्र जीवन वाले हों, हम रोगशून्य व उल्लासमय जीवन वाले हों, ब्रह्मचर्य रूप पर्वत से मृत्यु को अन्तर्हित करें। (१ ४) हमारा जीवन अविच्छिन्न व पूर्ण हो, (५) निरन्तर उद्योगशील होकर आगे बढ़ते रहें, (६) हमारे घरों में स्त्रियों का स्थान प्रमुख हो, (७) यदि अकस्मात् पति का देहान्त हो जाए तो पत्नी बच्चों का पूरा ध्यान करे, (८) पति के कर्तव्यभार को भी अपने कन्धे पर उठाये, (९) बच्चों का रक्षण व कोमलता के साथ पालन करे, (१०) वह बच्चों का ठीक उपचरण करे, (११) घर को घृत के बाहुल्यवाला बना के रखे, (१२) ऐसे घर पर ही प्रभु की कृपादृष्टि होती है, (१३) मौन रहती हुई कार्य में लगी रहे, (१४) घरों में गौवें हों, इन्द्रियाँ हमारे वश में हों, हमारे जीवन में अग्नि व सोम दोनों तत्त्व हों तथा धन की कमी न हो।

[१९] एकोनविंशं सूक्तम्

ऋषिः—**मथितो यामायनो भृगुर्वा वारुणिश्च्यवनो वा भार्गवः**॥ देवता—**आपो गावो वा; अग्नीषोमौ**॥
छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

अग्नि व सोम

नि वर्तध्वं मानु गाताऽस्मान्त्सिषक्त रेवतीः। अग्नीषोमा पुनर्वसू अस्मे धारयतं रयिम्॥ १॥

(१) गत सूक्त की समाप्ति पर ये शब्द थे कि जीभ को इस प्रकार वश में करो जिस प्रकार घोड़े को लगाम से वश में करते हैं। मनु ने इसी बात को इस प्रकार कहा है कि 'यच्छेद् वाङ् मनसिज प्राज्ञः' प्राज्ञ व्यक्ति वाणी को मन में रोके। यहाँ वाणी अन्य इन्द्रियों का भी प्रतीक है। हमें सब इन्द्रियों को रोकने का प्रयत्न करना है। प्रार्थना करते हैं कि हे इन्द्रियो! **निवर्तध्वम्**-तुम इन विषयों में विचरण से वापिस आओ। **मा अनुगात** इन विषयों के पीछे ही सदा मत भटकती फिरो। **रेवतीः**-ज्ञान धन से सम्पन्न हुई हुई तुम **अस्मान् सिषक्त**-हमारा सेवन करो। अर्थात् तुम्हारे द्वारा हमें ज्ञान का दुग्ध पीने को मिले। ज्ञानेन्द्रियाँ गौवें हैं, ज्ञान उनका दुग्ध है। (२) इस ज्ञान के अनुसार आचरण करने से **अग्नीषोमा**-अग्नितत्त्व व सोम तत्त्व हमारे लिये **पुनर्वसू**-पुनः पुनः अर्थात् प्रतिदिन उत्तम निवास को देनेवाले हों। अग्नितत्व 'शक्ति' का प्रतीक है तो सोमतत्त्व 'शान्ति' का। हम ज्ञानी बनकर अपने जीवनों में 'शक्ति व शान्ति' का समन्वय करनेवाले बनें। (३) ये 'शक्ति व शान्ति' के तत्त्व समन्वित होकर **अस्मे**-हमारे जीवनों में **रयिं धारयतम्**-रयि को धारण करनेवाले हों। हमारे जीवनों में शक्ति हो और शान्ति हो, इनके होने पर जीवन सचमुच विभूतिवाला 'श्रीमत् व ऊर्जित' प्रतीत होता है। ये सब उस प्रभु के तेजोंश के चिह्न होते हैं।

भावार्थ—हमारी इन्द्रियाँ विषयों के पीछे न चली जाएँ। जिससे हमारा जीवन ज्ञानधनवाला, शक्ति व शान्ति से सम्पन्न-ऐश्वर्यमय हो।

ऋषिः—**मथितो यामायनो भृगुर्वा वारुणिश्च्यवनो वा भार्गवः**॥ देवता—**आपो गावो वा**॥
छन्दः—**विराडनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

आत्मायत्तता

पुनरेना नि वर्तय पुनरेना न्या कुरु। इन्द्र एणा नि यच्छत्वग्निरेना उपाजतु॥ २॥

(१) इन्द्रियाँ क्योंकि उस-उस विषय का ग्रहण करने के स्वभाव वाली हैं, सो ये इन्द्रियाँ उन विषयों में जायेंगी तो सही परन्तु जीव से कहते हैं कि तू **पुनः**=फिर **एना**=इन को **निवर्तय**=लौटा। ये विषयों में जायें तो सही, फिर उनमें फँसकर वहीं न रह जाएँ। जैसे एक देश के युवक ज्ञान प्राप्ति के लिये विदेशों में जायें तो सही, परन्तु वे वहाँ की चमक (glase) से चुँधियाकर वहीं न रह जाएँ। (२) हे जीव! तू **पुनः**=फिर- **एना**=इन इन्द्रियों को **न्याकुरु**=निश्चय से आत्मायत्त (अपने अधीन) करनेवाला हो। (३) **इन्द्रः**-इन्द्र वही है जो कि **एना**-इनको **नियच्छतु**=निश्चय से अपने वश में करे। इन्द्रियों का अधिष्ठाता ही तो 'इन्द्र' कहलाता है। (४) **अग्निः**-(अग्रेणीः) अपने को अग्र-स्थान में प्राप्त करानेवाला वह है जो कि **एना**-इन इन्द्रियों को **उपाजतु**=प्रभु की उपासना के साथ गतिशील बनाता है (उप+अजतु)। प्रभु का स्मरण करता है और जीवन संग्राम को जारी रखता है। प्रभु स्मरण पूर्वक क्रिया में लगे रहने से सब मलों का दूरीकरण (=क्षेपण) हो जाता है। यही 'उपाजन' कहलाता है।

भावार्थ—विषयगामिनी इन्द्रियों को हम विषयों से लौटाएँ, उन्हें आत्मायत्त करें। इन्द्रियों को आत्मायत्त करके अपने 'इन्द्र' नाम को सार्थक करें। प्रभु की समीपता (उप) में रहते हुए क्रियाशील हों (अज=गति) जिससे मलों का विक्षेपण होकर हम अग्रेणी व अग्नि बनें।

ऋषिः-**मथितो यामायनो भृगुर्वा वारुणिश्च्यवनो वा भार्गवः**॥ देवता-**आपो गावो वा**॥
छन्दः-**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः-**गान्धारः**॥

ज्ञान धन का रक्षण

पुनरेता नि वर्तन्तामस्मिन्पुष्यन्तु गोपतौ। इहैवाग्ने नि धारयेह तिष्ठतु या रयिः॥ ३॥

(१) **एताः**=ये ज्ञानेन्द्रिय रूप गोवें अपने-अपने विषयों में विचरण करके **पुनः**=फिर **निवर्तन्ताम्**=लौट आयें। और **अस्मिन् गोपतौ**=इस इन्द्रियरूप गौवों के स्वामी में **पुष्यन्तु**=पोषण को प्राप्त हों। विषयों में जाने से ही तो इनकी शक्तियाँ क्षीण होती हैं। ये सदा विषयों को ही न चरती रह जाएँ। विषयों में आसक्त हो जाने पर इनके पोषण का प्रसंग नहीं रहता। (२) हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **इह एव**=यहाँ अपने में ही **निधारय**=निश्चय से इनका धारण कर। मनरूपी लगाम के द्वारा हम इनको अपने वश में रखें। अपने वश में हुई-हुई इन्द्रियों से जब हम विषयों में जायेंगे तो उन विषयों से बद्ध न होंगे। (३) ऐसा करने पर इन इन्द्रियों से प्राप्त होनेवाला **या रयिः**=जो ज्ञानधन है वह **इह तिष्ठतु**=हमारे में ही स्थित होता है। हमारा ज्ञान ठीक बना रहता है। यही इन्द्रियों की खूबी है कि वशीभूत हुई-हुई ये हमारे ज्ञानधन का वर्धन करती हैं, और उच्छृंखल हुई-हुई ये हमारे संचित ज्ञानधन को भी नष्ट करनेवाली हो जाती हैं।

भावार्थ—हम अपनी इन्द्रियों को उच्छृंखल न होने दें, अपितु स्व-वश में रखें।

ऋषिः-**मथितो यामायनो भृगुर्वा वारुणिश्च्यवनो वा भार्गवः**॥ देवता-**आपो गावो वा**॥
छन्दः-**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः-**गान्धारः**॥

आवर्तन-निवर्तन

यन्नियानं न्ययनं संज्ञानं यत्परायणम्। आवर्तनं निवर्तनं यो गोपा अपि तं हुवे॥ ४॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार **यः गोपाः**=जो मैं इन्द्रियों का रक्षक बनता हूँ, इन्द्रियरूपी गौवों का पोषण करनेवाला 'गोपति' होता हूँ, वह मैं **तं अपिहुवे**=उस-उस चीज को समुचित रूप में प्रार्थित करता हूँ, इन सब चीजों को चाहता हूँ। किनको? (क) **यत् नियानं**=जो इन्द्रियरूप गौवों का नियमेन जाने का स्थान है, जिसे सामान्य भाषा में 'गोष्ठ' कहते हैं। यहाँ इन्द्रियरूप गौवों का

'गोष्ठ' यह हमारा अपना शरीर ही है। प्राणमयकोश का (प्राणाः वाव इन्द्रियाणि) आधार यह अन्नमयकोश ही है। एवं यह अन्नमयकोश बिलकुल ठीक हो जिससे इसमें इन्द्रियों का निवास ठीक प्रकार से हो सके। (ख) **न्ययनम्**=मैं न्ययन की भी प्रार्थना करता हूँ। इन इन्द्रियरूप गौवों का ज्ञातव्य विषय रूप चारागाहों में निश्चय से जाना ही न्ययन है। (ग) वहाँ जाकर **संज्ञानं**=विषयों को उत्तमता से, सम्यक्तया जानना ही संज्ञान है इस संज्ञान की भी मैं प्रार्थना करता हूँ। (घ) संज्ञान के बाद **यत्**=जो **परायणम्**=फिर वापिस आना है इसकी भी मैं प्रार्थना करता हूँ। (२) इस प्रकार संक्षेप में यह जो इन्द्रियों का **आवर्तनम्**=ज्ञान प्राप्ति के लिये विषयों में (turning round and round) सब ओर विचरना है, नाना तथ्यों का संग्रहण है, इसकी मैं प्रार्थना करता हूँ। और **निवर्तनम्**='विषयों में आसक्त न होकर, लौट आना है' उसकी मैं प्रार्थना करता हूँ। इन्द्रियाँ विषयों में जायें, उनका ज्ञान प्राप्त करें, परन्तु ये उनमें कभी उलझ न जायें।

भावार्थ—प्रभु कृपा से मैं गोपा बनकर आत्मवश्य इन इन्द्रियों से विषयों में विचरता हुआ उनका तत्त्वज्ञान प्राप्त करूँ। मेरी इन्द्रियाँ विषयों में न फँस जाएँ।

ऋषिः—**मथितो यामायनो भृगुर्वा वारुणिश्च्यवनो वा भार्गवः**॥ देवता—**आपो गावो वा**॥
छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

मूलगृह में फिर लौटना

य उदानड् व्ययनं य उदानट् परायणम्। आवर्तनं निवर्तनमपि गोपा नि वर्तताम्॥ ५॥

(१) **यः गोपाः**=जो इन्द्रिय रूप गौवों का रखवाला **व्ययनम्**=इन्द्रियों के विविध विषयों में जाने को **उदानट्**=व्याप्त करता है, अर्थात् जब इन्द्रियाँ विषयों में जाती हैं, तो जो उन इन्द्रियों का रक्षक बनकर उनके साथ जाता है और **यः**=जो उनके **परायणम्**=विषयों से फिर वापिस आने को **उदानट्**=व्याप्त करता है, अर्थात् विषयों का ज्ञान प्राप्त करने के बाद, जो उन इन्द्रियों को उन विषयों में न फँसे रहने देकर उनकी व्यावृत्ति का कारण बनता है। (२) और इस प्रकार जो **आवर्तनम्**=सर्वत्र विषयों में वर्तन को और **निवर्तनम्**=उन विषयों से निवृत्ति को व्याप्त करता है, वह **गोपा निवर्तताम्**=विषय व्यावृत्त हो, और पुनः अपने घर ब्रह्मलोक में लौटनेवाला बने।

भावार्थ—हम विषयों के तत्त्वज्ञान के लिये आत्मवश्य इन्द्रियों के द्वारा उनमें विचरें और उनमें ही न फँसे रहकर फिर से अपने मूलगृह ब्रह्मलोक में लौटनेवाले बनें।

ऋषिः—**मथितो यामायनो भृगुर्वा वारुणिश्च्यवनो वा भार्गवः**॥ देवता—**आपो गावो वा**॥
छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

जीवित इन्द्रियरूपी गौवें

आ निवर्त नि वर्तय पुनर्न इन्द्र गा देहि। जीवाभिर्भुनजामहै॥ ६॥

(१) हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **आनिवर्त**=आप हमारी ओर लौटिये। आपकी कृपादृष्टि हमारे पर हो। और आप **निवर्तय**=हमारी इन इन्द्रियों को विषयों से लौटानेवाले होइये। और इस प्रकार हे प्रभो! आप **नः**=हमें **पुनः**=फिर **गाः**=इन इन्द्रियरूप गौओं को **देहि**=प्राप्त कराइये। (२) आपकी कृपा से हम **जीवाभिः**=जीवन से युक्त इन इन्द्रियों से **भुनजामहै**=अपना पालन करनेवाले बनें। ये इन्द्रियाँ विषयों की ओर जाकर, उनका तत्त्वज्ञान प्राप्त करके उनका उचित उपयोग करती हुई सशक्त बनती है और इन जीवित इन्द्रियों से हम जीवनयात्रा में आगे बढ़ते हुए अपना रक्षण करते हैं। परन्तु ये ही इन्द्रियाँ यदि विषयों में जाकर फिर वहाँ से लौटें नहीं, और उन विषयों से बद्ध होकर उनका शिकार हो जायें तो इन मृत इन्द्रियों से हमने क्या उन्नति करनी?

(३) जैसे गौवों का चारागाह में जाना आवश्यक होता है, इस वायुसेवन के बिना उनके दूध में गुण उत्पन्न नहीं होता। इसी प्रकार इन इन्द्रियों का विषयों में जाना आवश्यक है, अन्यथा ये ज्ञान को कैसे प्राप्त करेंगी ? गौवों का जैसे चारागाह से लौटना आवश्यक होता है उसी प्रकार इन इन्द्रियों का भी लौटना आवश्यक है। गौवों का अधिष्ठता ग्वाला अप्रमत्त होकर इस आने-जाने में उनका रक्षण करता है, इसी प्रकार यहाँ इन इन्द्रियरूप गौवों का गोप यह आत्मा है। आत्मा के क्षणिक प्रमाद से ये इन्द्रियरूप गौवें विषय सिंह से आक्रान्त हो जाती हैं। यही उनका मरण हो जाता है। हम तो प्रभु कृपा से जीवित इन्द्रियों के द्वारा अपना रक्षण करनेवाले बनें।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमारी इन्द्रियाँ विषयों का ग्रहण करती हुईं, उनका शिकार न हो जाएँ। ये जीवित इन्द्रियाँ हमारी यात्रा पूर्ति का साधन बनें।

ऋषिः—**मथितो यामायनो भृगुर्वा वारुणिश्च्यवनो वा भार्गवः**॥ देवता—**आपो गावो वा**॥
छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

अन्न-घृत-दुग्ध

परि॑ वो वि॒श्वतो॑ दध ऊ॒र्जा घृ॒तेन॒ पय॑सा। ये दे॒वाः के च॑ य॒ज्ञिया॒स्ते र॒य्या सं सृ॑जन्तु नः॥ ७॥

(१) गत मन्त्र में वर्णित **वः**=तुम इन्द्रियों को **ऊर्जा**=बल व प्राणशक्ति के वर्धक अन्नरस के द्वारा, **घृतेन**—मलों के क्षरण व जाठराग्नि को दीप्त करनेवाले घृत के द्वारा, **पयसा**=अप्यायन के साधनभूत दुग्ध के द्वारा **विश्वतः**=सब प्रकार से **परिदधे**—चारों ओर से धारण करता हूँ। अर्थात् सात्त्विक अन्न व गोघृत व गोदुग्ध आदि के प्रयोग से मैं इन इन्द्रियों को ज्ञान प्राप्ति व क्रियाशक्ति के योग्य बनाता हूँ। (२) इस प्रकार इन्द्रियों को सशक्त बनानेवाले **नः**=हमें, **ये के च**=जो कोई भी **यज्ञियाः देवाः**=पूजा के योग्य, संगतिकरण योग्य, ज्ञान का दान करनेवाले देव पुरुष हैं, वे **रय्या**=ज्ञानधन से **संसृजन्तु**=संसृष्ट करें। हमें चाहिये कि हम सात्त्विक अन्न, घृत व दुग्ध के प्रयोग से अपने को ज्ञान ग्रहण के योग्य बनायें और ज्ञानी पुरुष हमें ज्ञानधन से युक्त करें। हमारी योग्यता के अभाव में उन देवों से दिये गये ज्ञान को हम ग्रहण ही न कर पायेंगे।

भावार्थ—हम ज्ञान प्राप्ति के योग्य बनें और देव हमें ज्ञान देनेवाले हों।

ऋषिः—**मथितो यामायनो भृगुर्वा वारुणिश्च्यवनो वा भार्गवः**॥ देवता—**आपो गावो वा**॥
छन्दः—**अनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

इन्द्रियों का निवर्तन

आ नि॑वर्तन व॒र्तय॒ नि नि॑वर्तन व॒र्तय। भूम्या॒श्चत॑स्त्रः प्र॒दिश॒स्ताभ्य॑ एना॒ नि व॑र्तय॥ ८॥

(१) प्रभु जीव को प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि हे **निवर्तन**=जीवनयात्रा को उत्तमता से करनेवाले जीव! **आवर्तय**-तू अपनी इन इन्द्रियों को इन भूतों व लोकों और दिशा प्रदिशाओं में प्रवृत्त करनेवाला हो 'परीत्य भूतानि, परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च'। ये इन्द्रियाँ इनके प्रति जाकर इनको बारीकी से देखें और इनके ज्ञान को प्राप्त करनेवाली हों। (२) हे **निवर्तन**=इस संसार में न उलझनेवाले जीव! तू **निवर्तय**=इन इन्द्रियों को संसार के इन विविध विषयों से तू निवृत्त करनेवाला हो। ये इन्द्रियाँ उन विषयों के अन्दर उलझ न जायें। (३) **भूम्याः**=इस भूमि को **चतस्त्रः प्रदिशः**=ये चार विस्तृत दिशायें हैं। **ताभ्यः**=उनसे **एना**=इनको **निवर्तय**=तू निवृत्त करनेवाला हो। विषयों से ये इन्द्रियाँ बद्ध न हो जाएँ, तभी हम जीवन यात्रा को पूर्ण करके अपने ब्रह्मलोकरूप घर में वापिस आ सकेंगे।

भावार्थ—इन्द्रियाँ विषयों के ज्ञान के लिये हैं, उनमें फँस जाने के लिये नहीं। इनको विषय

व्यावृत्त करना हमारा मौलिक कर्तव्य है।

सूक्त का प्रारम्भ इस प्रकार हुआ है कि हम इन्द्रियों को विषयासक्त न होने देकर 'शक्ति व शान्ति' के तत्त्वों का धारण करते हुए ज्ञानधन को धारण करें। (१) इन्द्रियों को आत्मवश्य करने का प्रयत्न करें, (२) इन्द्रियों को वश में करके हम गोपति बनें, (३) गोपा यही चाहता है कि इन्द्रियाँ विषयों में जायें परन्तु उनमें फँसे नहीं, (१४) यह गोपा ही ब्रह्मलोक में लौटता है, (५) हमारी ये इन्द्रियाँ भोगासक्त होकर मृत न हो जाएँ, (६) अन्न, घृत व दुग्ध के सेवन से ये पुष्ट हों, (७) इनको हम भूमि की सब दिशाओं से लौटायें, (८) ऐसा करने पर ही हमारा मन भद्र की ओर प्रेरित होगा।

[२०] विंशं सूक्तम्

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**आसुरी त्रिष्टुप्** ॥
स्वरः—**धैवतः** ॥

भद्राभिमुख मन

भद्रं नो अपि वातय मनः ॥ १ ॥

(१) गत सूक्त का ऋषि 'मथितो यामायनः'-मन्थन करनेवाला, विचारशील, संयमी पुरुष था। इन्द्रियों का संयम करके ही वह ज्ञान मन्थन कर पाया था। ज्ञान परिपक्व होने के कारण उसका नाम 'भृगु' हुआ, यह द्वेष का निवारण करने से 'ऋणि' कहलाया। यह ज्ञान परिपक्व-मार्ग व अज्ञानान्धकार व पाप को दूर करने के कारण 'च्यवन' कहलाया। इस अज्ञानान्धकार को दूर करके ही यह प्रभुदर्शन करनेवाला 'ऐन्द्र' नाम वाला हुआ है, मदशून्य होने से यह 'विमद' है। लोकहित में लगे होने से 'प्राजापत्य' है। अपने निवास को उत्तम बनाने के कारण 'वसुकृत्' है, 'आहार से रस, रस से रुधिर, रुधिर से मांस, मांस से मेदस् व मेदस् से अस्थि, अस्थि से मज्जा, मज्जा से वीर्य' इनका क्रमशः विनिमय करने से यह 'वासुक्र' कहलाया है। (२) यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि **नः** हमारे **मनः** मन को **भद्रं अपिवातय**-कल्याण की ओर प्रेरित करिये। हमारा मन प्रभु कृपा से सदा शुभ की ओर ही प्रवृत्त हो। अशुभ से यह दूर हो। मन की प्रवृत्ति पुण्य प्रवाह वाली बने न कि पापमय प्रवाह वाली। (३) यह मन विविध इन्द्रिय द्वारों से विषयों की ओर भागता है। हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि हम इसे उधर उधर से रोककर, आत्मा के वश में लाने का प्रयत्न करें। 'यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्। ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्'। मन हमारे वश में होगा, तभी हम इसे कल्याण के मार्ग में प्रवृत्त कर सकेंगे।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमारा मन भद्र की ओर प्रवृत्त हो।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥
स्वरः—**गान्धारः** ॥

यज्ञशेष का सेवन

अग्निमीळे भुजां यविष्ठं शासा मित्रं दुर्धरीतुम्। यस्य धर्मन्त्स्व१रेनीः सपर्यन्ति मातुरूधः ॥ २ ॥

(१) मैं **अग्निम्**=उस अग्रेणी परमात्मा का **ईडे**=उपासन करता हूँ जो कि **भुजाम्**=(भुज पालनाभ्यवहारयोः) केवल शरीर के रक्षण के लिये भोजन करने वालों को **यविष्ठम्**=बुराइयों से पृथक् व अच्छाइयों से संपृक्त करनेवाले हैं। वस्तुतः मनुष्य उतना ही भोजन करे जितना कि शरीररक्षण के लिये आवश्यक है तो इतना जिह्वा संयम होने से किसी प्रकार की बुराई के पैदा होने का सम्भव ही नहीं। (२) **शासा मित्रम्**=मैं उस प्रभु का उपासन करता हूँ जो कि अनुशासन

व उपदेश के द्वारा सब (प्रभीतेः त्रायते) पापों व मृत्युओं से बचानेवाले हैं। प्रभु ने सृष्टि के प्रारम्भ में वह वेदज्ञान दिया है जो कि हमें सब पापों से बचाता है। वेद के गायत्री छन्द का तो अर्थ ही यह है कि 'गायन्तं त्रायते यतः'=यह गान करनेवाले का त्राण करता है। (३) **दुर्धरीतुम्**=ये प्रभु शत्रुओं से दुर्धर्षणीय हैं। कामादि शत्रुओं का हमारे लिये तो धर्षण करना कठिन हो जाता है। परन्तु जब हम उस प्रभु के साथ मिलकर इन कामादि से संघर्ष करते हैं तो ये कामादि सब भस्म हो जाते हैं (त्वया स्विद् युजा वयं) (४) **यस्यधर्मन्**-उस परमात्मा का उपासन करता हूँ जिसके धारण करने पर मनुष्य **स्वः एनीः**=स्वर्ग के प्रति ले जानेवाली आहुतियों का **सपर्यन्ति**=सेवन करते हैं, उसी प्रकार सेवन करते हैं जैसे कि बछड़े **मातुः ऊधः**=अपनी माता के ऊधस् (udder) का सेवन करते हैं। माता के ऊधस् से दुग्ध को प्राप्त करके बच्चे पोषण को प्राप्त करते हैं, इसी प्रकार ये यज्ञ की आहुतियाँ हमारा इस लोक व पर लोक में कल्याण करती हैं।

भावार्थ—प्रभु के वेद में दिये गये आदेश के अनुसार यज्ञशेष का सेवन करनेवाले हम सब पापों से बचें।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**पादनिचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'कृप-नीड' प्रभु

यमासा कृपनीळं भासाकेतुं वर्धयन्ति। भ्राजते श्रेणिदन्॥ ३॥

(१) **यम्**=जिस प्रभु को भक्त लोक **आसा**=(आस्येन) मुख के द्वारा, स्तुतिवचनों के उच्चारण के द्वारा **वर्धयन्ति**=बढ़ाते हैं अर्थात् जिस प्रभु का गुणगान करते हैं वे प्रभु **कृपनीडम्**=(कृपू सामर्थ्ये) सम्पूर्ण सामर्थ्यों के आश्रयस्थल हैं, सर्वशक्तिमान् हैं और **भासाकेतुं**=ज्ञान के प्रकाश के द्वारा (कित निवासे रोगापनयने च) हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले तथा हमारे सब रोगों को दूर करनेवाले हैं। (२) वे प्रभु **श्रोणिदन्**=उपासकों के लिये अभीष्ट फलों की श्रेणियों के देनेवाले हैं—(अभीष्ट फलसमूह प्रदः सा०) अथवा सब जीवों को कर्मानुसार विविध श्रेणियों के प्राप्त करानेवाले हैं। वे प्रभु हमारे कर्मानुसार 'पशु मनुष्य व देव' आदि श्रेणियों में जन्म देते हैं। ऐसे वे प्रभु **भ्राजते**=कण-कण में देदीप्यमान हो रहे हैं। उस प्रभु की महिमा सर्वत्र द्योतित होती है।

भावार्थ—प्रभु सम्पूर्ण सामर्थ्यों के आधार हैं, ज्ञान के द्वारा मार्ग का प्रकाशन करते हैं। हम प्रभु का स्तवन करेंगे तो हम भी शक्ति व ज्ञान को प्राप्त करके अभीष्ट फल समूह को प्राप्त करनेवाले होंगे।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

अज्ञानान्धकार विमर्श

अर्यो विशां गातुरेति प्र यदानड् दिवो अन्तान्। कविरभ्रं दीद्यानः॥ ४॥

(१) वे प्रभु **अर्यः**=स्वामी हैं। वस्तुतः सब ब्रह्माण्ड के मालिक व पति प्रभु ही हैं 'भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्' **विशाम्**=सब प्रजाओं के **गातुः**=मार्ग वे प्रभु ही हैं। वस्तुतः सब प्रजाओं ने उस प्रभु की ओर ही जाना है। भटक-भटकाकर अन्त में सब चलते उस प्रभु की ओर ही हैं। (२) **यत्**=क्योंकि वे प्रभु **दिवः अन्तान्**=ज्ञान के अन्तिम तत्त्वों को (उभयोरपि दृष्टोन्तस्त्वन-पोस्तत्त्वदर्शिभिः) **प्र आनट्**-प्रकर्षेण व्याप्त करते हैं, वे निरतिशय ज्ञान का आधार है, प्रभु में ही ज्ञान के तारतम्य की विश्रान्ति होती है, सो वे प्रभु **कविः**=सर्वत्र व क्रान्तदर्शी हैं और **अभ्रम्**=अज्ञान

के बादलों को **दीद्यानः**-छिन्न-भिन्न करनेवाले हैं। हमारे हृदयों में स्थित होकर हृदयों को ज्ञान के प्रकाश से द्योतित करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु कृपा से ही अज्ञानान्धकार नष्ट होता है।

ऋषिः-**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः**॥ देवता-**अग्निः**॥ छन्दः-**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः-**षड्जः**॥

'यज्ञ-प्रिय' प्रभु

जुषद्धव्या मानुषस्योर्ध्वस्तस्थावृभ्वा यज्ञे। मिन्वन्त्सद्म पुर एति॥ ५॥

(१) वे प्रभु **मानुषस्य** करुणापूर्ण मन वाले मनुष्य के (Humane मानुष), मनुष्यों का हित चाहनेवाले व्यक्ति के **हव्या**=हव्य पदार्थों का **जुषत्**=सेवन करते हैं। अर्थात् लोकहित की भावना से जब मनुष्य त्यागपूर्वक उपभोग करता है तो वह प्रभु को प्रीणित करनेवाला है। (२) वस्तुतः मनुष्य यज्ञ करता है, तो वे प्रभु **ऊर्ध्वः तस्थौ**-ऊपर खड़े होते हैं, अर्थात् उन यज्ञों की रक्षा कर रहे होते हैं। प्रभुरक्षण से ही तो यज्ञ पूर्ण हो पाते हैं। (३) वे प्रभु **यज्ञे**=इन यज्ञों में ही **ऋभ्वा**=(उरु भाति) खूब देदीप्यमान होते हैं। वस्तुतः जहां यज्ञ, वहीं प्रभु का निवास। अयज्ञिय स्थलों में प्रभु का प्रकाश नहीं होता। (४) इन यज्ञशील पुरुषों के लिये वे प्रभु **सद्म मिन्वन्**=उत्तम देवगृहों का निर्माण करते हैं, अर्थात् इन को उत्तम लोकों में जन्म देते हैं और **पुरः एति**=इनके आगे आगे चलते हैं, अर्थात् इनके लिये मार्गदर्शन होते हैं। प्रभु के नेतृत्व में इन यज्ञशील पुरुषों का सदा कल्याण ही होता है।

भावार्थ—प्रभु के लिये यज्ञशील पुरुष ही प्रिय हैं, यज्ञों के रक्षक प्रभु ही हैं। इन यज्ञशील पुरुषों को उत्तम लोकों की प्राप्ति होती है।

ऋषिः-**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः**॥ देवता-**अग्निः**॥ छन्दः-**गायत्री**॥ स्वरः-**षड्जः**॥

'वाशीमान्' अग्नि

स हि क्षेमो हुविर्युज्ञः श्रुष्टीदस्य गातुरेति। अग्निं देवा वाशीमन्तम्॥ ६॥

(१) **स**=वे प्रभु **हि**=निश्चय से **क्षेमः**=आनन्दस्वरूप हैं और सब का कल्याण करनेवाले हैं। **हविः**-(हु दाने) वे इस ब्रह्माण्ड यज्ञ को करते हुए जीव को उसकी उन्नति के लिये सब आवश्यक पदार्थों के प्राप्त करानेवाले हैं। **यज्ञः**=वे पूजा के योग्य, संगतिकरण योग्य व समर्पणीय हैं। प्रभु के प्रति अपना अर्पण करके ही हम अपने पूर्ण कल्याण का साधन करते हैं। (२) **श्रुष्टी**=शीघ्र ही **इत्**-निश्चय से **गातुः**=मार्ग पर चलानेवाला व्यक्ति **अस्य एति**=इसके प्रति प्राप्त होता है। वस्तुतः धर्म के मार्ग पर चलता हुआ व्यक्ति, एक दिन आगे और आगे बढ़ता हुआ, इस प्रभु को प्राप्त करता ही है। (३) उसी मार्ग का संकेत करते हुए कहते हैं कि **देवाः**-देववृत्ति के लोग, 'देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा' देकर बचे हुए को खानेवाले, स्वाध्याय से अपने मस्तिष्क को दीप्त करनेवाले तथा प्रवचन द्वारा औरों तक ज्ञान-ज्योति को पहुँचानेवाले लोग **अग्निम्**=उस अग्रेणी, **वाशीमन्तम्**=आवाज वाले, हृदयस्थ होकर सदा प्रेरणा देनेवाले प्रभु को प्राप्त होते हैं। एवं स्पष्ट है कि प्रभु प्राप्ति के लिये देव बनना आवश्यक है। उन्नति के मार्ग पर चलने के लिये प्रयत्न करनेवाला तथा हृदयस्थ प्रभु की वाणी को सुननेवाला व्यक्ति ही प्रभु को प्राप्त करता है। प्रभु 'अग्नि' हैं, सो उनका भक्त अग्नि बनने का प्रयत्न करता है। प्रभु 'वाशीमान्' हैं, प्रभु-भक्त उस **वाशी**=(voice) को सुनने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—मैं धर्म के मार्ग पर चलता हुआ, देव बनने का प्रयत्न करता हुआ, प्रभु को प्राप्त करूँ। वे प्रभु ही मुझे श्रेष्ठ आनन्द को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

'यज्ञासाह' अग्नि

यज्ञासाहं दुव इषेऽग्निं पूर्वस्य शेवस्य। अद्रेः सूनुमायुमाहुः ॥ ७ ॥

(१) **यज्ञासाहम्**=यज्ञों के द्वारा समन्तात् शत्रुओं का पराभव करनेवाले, अर्थात् हमारे में यज्ञवृत्ति को उत्पन्न करके हमारे काम, क्रोध लोभादि को समाप्त करनेवाले, **अग्निम्**—उस अग्रेणी प्रभु को लक्ष्य करके **दुवः**=परिचरणम्=उपासना को **इषे**=चाहता हूँ। मेरी कामना यह होती है कि मैं उस यज्ञ पुरुष का उपासक बनूँ जो कि यज्ञाग्नि में हमारे सब मलों को भस्मीभूत कर देते हैं। (२) उस प्रभु को **पूर्वस्य**=सर्वप्रथम व सर्वश्रेष्ठ **शेवस्य**=सुख व आनन्द का **सूनुम्**=प्रेरक **आहुः**=कहते हैं। वे प्रभु उस अवर्णनीय आनन्द को देनेवाले हैं जो आनन्द अन्य सब आनन्दों का अतिशायी है। उस प्रभु को **अद्रेः**=बड़ी कठिनता से विदारण के योग्य, पाँच पर्वों वाली अविद्यारूपी पर्वत का **आयुम्**=(इगतौ) हिला देनेवाला कहते हैं। उस प्रभु की कृपा से यह अत्यन्त दृढ़ अविद्या की चट्टान भी चकनाचूर हो जाती है। एवं प्रभु कृपा से हमारा अज्ञान नष्ट होकर हमें उत्कृष्ट आनन्द प्राप्त होता है।

भावार्थ—यज्ञवृत्ति से सब पाप दूर होते हैं, तब प्रभु हमें अवर्णनीय आनन्द प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

नर की वाम में स्थिति

नरो ये के चास्मदा विश्वेत्ते वाम आ स्युः। अग्निं हविषा वर्धन्तः ॥ ८ ॥

(१) **अस्मत्**=हमारे में से **ये के च**=जो कोई भी **नरः**—(नरम्) संसार के विषयों में न फँसनेवाले तथा (नृ नये) अपने को उन्नतिपथ पर आगे ले चलनेवाले व्यक्ति हों **विश्वा इत् ते**=वे सब निश्चय से **वामे**—उस सुन्दर-वननीय=उपासनीय प्रभु में **आस्युः**—सब प्रकार से हों। अर्थात् ब्रह्मस्थ व ब्रह्म का उपासक होने का उपाय यही है कि हम 'नर' बनें इस संसार में नर बनकर कार्य करें। (२) नर बनकर कार्य करनेवाला व्यक्ति आसक्त नहीं होता। इसका जीवन हविरूप होता है। हम इस **हविषा**=हवि के द्वारा-दानपूर्वक अदन के द्वारा सदा सदा यज्ञशेष के सेवन के द्वारा **अग्निम्**=उस अग्रेणी प्रभु का **वर्धन्तः**=वर्धन करनेवाले हों। प्रभु की उपासना हवि के द्वारा ही होती है 'कस्मै देवाय हविषा विधेम'। प्रभु के उपासक सदा 'वामे आस्युः'=सुन्दर सेवनीय पदार्थों में स्थित होते हैं। इन्हें इन पदार्थों की कमी नहीं हो जाती।

भावार्थ—दानपूर्वक अदन के द्वारा प्रभु का वर्धन करते हुए हम सदा नर बनें और ब्रह्मनिष्ठ व सब सुन्दर वस्तुओं को प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

हिरण्यरूप

कृष्णः श्वेतोऽरुषो यामो अस्य ब्रध्न ऋज्र उत शोणो यशस्वान्। हिरण्यरूपं जनिता जजान ॥ ९ ॥

(१) गत मन्त्र का जो नर है **अस्य**-इसका **यामः** मार्ग **कृष्णः श्वेतः**-काला व सफेद होता है। 'कृष्णः श्वेतः' यहाँ विरोधाभास अलंकार है। विरोध का परिहार इस प्रकार है कि कृष्णः-आकर्षक है, श्वेतः शुद्ध व निर्मल है। इस पुरुष को देखकर औरों के मनों में भी इस मार्ग पर चलने की वृत्ति उत्पन्न होती है। **अरुषः**=इनका जीवन मार्ग (अ रुष) क्रोध से शून्य है अथवा आरोचमान-प्रकाशमय है। **ब्रध्नः**-इनका मार्ग महान् होता है ये उदारवृत्ति को लेकर चलते हैं, इनके किसी भी विचार व कर्म में हृदय की संकीर्णता का प्रकटन नहीं होता है। **ऋज्रः**-इनका मार्ग ऋजु व सरल होता है, ये कुटिलता से दूर रहते हैं। **उत**=और इनका यह मार्ग **शोणः**-तेजस्विता के सूचक रक्तवर्ण वाला होता है, इनके प्रत्येक कर्म में तेजस्विता टपकती है। और इसीलिये इनका यह मार्ग **यशस्वान्**-यशोयुक्त होता है। (२) इस मार्ग पर चलनेवाले इन व्यक्तियों को **जनिता**-वह उत्पादक प्रभु **हिरण्यरूपम्** ज्योतिर्मय रूप वाला **जजान**-बनाता है। अथवा हितरमणीयरूप वाला करता है। इन व्यक्तियों के चेहरे से ज्योति व निर्द्वेषता का आभास मिलता है।

भावार्थ—हमारा जीवन का मार्ग आकर्षक व शुद्ध हो, आरोचमान विशाल व ऋजु हो, तेजस्विता व यश से पूर्ण हो। हम हिरण्यरूप बनें।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥
स्वरः—**धैवतः**॥

विमद का सुन्दर जीवन

एवा ते अग्ने विमदो मनीषामूर्जो नपादमृतेभिः सजोषाः।
गिर आ वक्षत्सुमतीरियान इषमूर्जं सुक्षितिं विश्वमाभाः॥ १०॥

(१) हे **ऊर्जोनपात्**-बल के न नष्ट होने देनेवाले **अग्ने**-तेजस्विन् प्रभो! **एवा**=इस प्रकार **विमदः**-मदशून्य, मार्ग पर चलनेवाला ऋषि **ते**=आपकी **मनीषाम्**=वेदवाणी में दी गई बुद्धि को **अमृतेभिः**=विषयवासनाओं के पीछे न मरनेवाले विद्वानों के साथ **सजोषाः**-प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाला होता है। ऐसे विद्वानों के सम्पर्क में आकर वेदज्ञान को प्राप्त करता है। (२) **गिरः आवक्षत्**-स्तुतिवाणियों का यह उच्चारण करता है और **सुमतीः इयानः**=कल्याणकर बुद्धियों को प्राप्त करने के स्वभाव वाला होता है। (३) इस प्रकार स्तुति-वाणियों व कल्याणकर बुद्धियों को धारण करके यह **इषम्**-उत्तम अन्न को **ऊर्जम्**-शक्तिप्रद रस को तथा **सुक्षितिम्**-उत्तम निवास को, संक्षेप में **विश्वम्**=इन सब वस्तुओं को **आभाः**-(भृ) धारण करता है। उत्तम अन्न-रस को सेवन करता हुआ यह उत्तम निवास वाला होता है। (४) 'इषमूर्जम्' की यह भावना भी यह संगत ही है कि इषम्-प्रेरणा को तथा ऊर्जम्=उस प्रेरणा को कार्यरूप में लाने की शक्ति को और इस प्रकार सुक्षितिम्-उत्तम जीवन को यह पुष्ट करता है। 'इस उत्तम जीवनवाला भी यह 'वि-मद' होता है' यही इसके जीवन का सौन्दर्य है।

भावार्थ—हम विद्वानों से वेदज्ञान को प्राप्त करें, स्तुति-वाणियों का उच्चारण करें, सुबुद्धि वाले हों, अन्न-रस का सेवन करते हुए पूर्ण स्वस्थ हों।

सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से हुआ है कि हमारा मन भद्र में प्रवृत्त हो। (१) हम यज्ञशेष का सेवन करें, (२) सम्पूर्ण सामर्थ्यों के आधार व ज्ञान प्रकाश से मार्गदर्शन प्रभु का स्तवन करें, (३) प्रभु कृपा से ही अज्ञानान्धकार नष्ट होता है, (४) उस प्रभु को यज्ञशील पुरुष ही प्रिय हैं, (५) वे प्रभु ही श्रेष्ठ आनन्द को प्राप्त कराते हैं, (६) यज्ञवृत्ति से सब पाप दूर होते हैं, (७)

नर वे ही हैं जो सदा दानपूर्वक अदन करते हैं, (८) इन्हें प्रभु 'हिरण्यरूप' बनाते हैं, (९) ये अन्नरस का सेवन करते हुए पूर्ण स्वस्थ होते हैं, (१०) ये विशिष्ट उन्नति के लिये उस प्रभु का ही वरण करते हैं।

[२१] एकविंशं सूक्तम्

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'मैं' को छोड़कर

आग्निं न स्ववृक्तिभिर्होतारं त्वा वृणीमहे ।
यज्ञाय स्तीर्णबर्हिषे वो मदे शीरं पावकशोचिषं विवक्षसे ॥ १ ॥

(१) **होतारम्**=इस सृष्टियज्ञ के होता—सम्पूर्ण आवश्यक वस्तुओं के देनेवाले **अग्निम्**=अग्रेणी **त्वा**=आपको **न**=(सं प्रति) अब **स्ववृक्तिभिः**='मैं' के वर्जन के द्वारा, अर्थात् 'मैं' से ऊपर उठकर **आवृणीमहे**=सर्वथा वरण करते हैं। जहाँ 'मैं' और 'मेरा' होता है वहीं प्रभु का निवास नहीं होता। 'मैं' गई और 'प्रभु' आये। मैं और प्रभु का साथ-साथ रहना नहीं सम्भव। दिव्यता की पराकाष्ठा निरभिमानता ही है। (२) प्रभु का वरण इसलिये करते हैं कि **यज्ञाय**=हमारे में यज्ञ की भावना की वृद्धि हो। '**स्तीर्णबर्हिषे**'='बिछाया है वासनाशून्य हृदय जिसने' ऐसा बनने के लिये। आये हुए अतिथि के लिये जैसे आसन देते हैं, उसी प्रकार प्रभु के आतिथ्य के लिये 'वासनाशून्य-हृदय' रूप आसन ही तो बिछाया जाता है। निर्वासन हृदय में ही प्रभु का निवास है। (३) उस प्रभु का वरण करते हैं जो कि **वः**=तुम्हारे **मदे**=आनन्द में **विशीरम्**=विशेषरूप से शयन व निवास करनेवाले हैं। अर्थात् प्रभु उसे ही प्राप्त होते हैं जो कि सुख-दुःख में सदा आनन्दित रहता है। खीझने की मनोवृत्ति वाले को प्रभु की प्राप्ति नहीं होती। **पावकशोचिषम्**=वे प्रभु शोधकदीप्ति वाले हैं। हमें प्रभु प्राप्त होते हैं तो उन प्रभु के ज्ञान का प्रकाश हमारे सब पापों व मलों को धो डालता है। (४) **विवक्षसे**=हम प्रभु को विशिष्ट उन्नति के लिये प्राप्त करते हैं (वक्ष् To grow)। प्रभु प्राप्ति से सब दिशाओं में हम अधिकाधिक उन्नत होते चलते हैं।

भावार्थ—प्रभु का वरण 'मैं' के त्याग से होता है। प्रभु वरण करनेवाला निरन्तर उन्नतिपथ पर आगे बढ़ता है।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

उपसेचनी-ऋजीति-आहुति

त्वामु ते स्वाभुवः शुम्भन्त्यश्वराधसः ।
वेति त्वामुपसेचनी वि वो मद ऋजीतिरग्न आहुतिर्विवक्षसे ॥ २ ॥

(१) हे प्रभो! **त्वाम्**=आपको **उ**=निश्चय से **ते**=वे **स्वाभुवः**=(स्वयं आभवन्ति) सब प्रकार स्वाश्रित लोग, **अश्वराधसः**=व्याप्त धनों वाले लोग **शुम्भन्ति**=अपने जीवन में सुशोभित करते हैं। प्रभु को प्राप्त लोगों के दो चिह्न हैं एक तो यह कि वे पराश्रित नहीं होते, अपने पाँव पर खड़े होते हैं, और दूसरा यह कि वे अर्जित धनों का विनियोग केवल अपने लिये नहीं करते। लोकहित के लिये धनों का विनियोग करते हुए वे 'व्याप्त धनों वाले' कहलाते हैं। (२) हे प्रभो! **त्वाम्**=आपको **उपसेचनी**=लोकों को सुखों से सिक्त करने की क्रिया **वेति**=प्राप्त कराती है। अर्थात्

यदि एक व्यक्ति दु:खितों पर करुणार्द्रचित्त होकर उनके दु:खों को दूर करता है और उनको सुखों की वर्षा से सिक्त करता है तो यह व्यक्ति आपको प्राप्त होता है। (३) हे **अग्ने**–अग्रेणी प्रभो! **ऋजीतिः**–ऋजुता व सरलता आपको प्राप्त कराती है। सरलता प्रभु प्राप्ति का साधन बनती है। इसी प्रकार **आहुतिः**=त्याग व दान आपको प्राप्त कराता है। एवं प्रभु प्राप्ति के तीन साधन हैं—(क) लोगों को, दु:ख दूर करके, सुखसिक्त करना, (ख) सरलता व (ग) त्याग। (४) यह प्रभु प्राप्ति **वः**=तुम सबके **मदे**=मद के निमित्त होती है, अर्थात् एक अद्भुत मस्ती वाले जीवन को जन्म देती है और **विवक्षसे**=विशिष्ट उन्नति के लिये होती है।

भावार्थ—'प्रभु-भक्त' अपराश्रित व व्याप्तधन होता है। प्रभु प्राप्ति के लिये करुणार्द्रता, ऋजुता व त्याग आवश्यक हैं। प्रभु प्राप्ति से आनन्द मिलता है और सर्वतोमुखी उन्नति होती है।

ऋषिः–**विमद एन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः**॥ देवता–**अग्निः**॥ छन्दः–**विराट्पङ्क्तिः**॥ स्वरः–**पञ्चमः**॥

कृष्ण व अर्जुन

त्वे धर्माण आसते जुहूभिः सिञ्चतीरिव ।
कृष्णा रूपाण्यर्जुना वि वो मदे विश्वा अधि श्रियो धिषे विवक्षसे॥ ३॥

(१) हे प्रभो! **त्वे**=आप में **धर्माणः**='धर्मो धारयते प्रजाः' धारणात्मक कर्मों को करनेवाले लोग **आसते**=आसीत होते हैं। ये लोग **जुहूभिः**–चम्मचों से **सिञ्चतीः इव**=सदा अग्नि का सेचन-सा कर रहे होते हैं। जैसे चम्मच से अग्नि में घृत का सेचन होता है, इसी प्रकार ये लोग (हु=दान) स्वार्जित धनों के त्याग व दान से प्रजा पर सुखों का वर्षण करते हैं, प्रजाओं को सुख से सींचते से हैं। (२) इन लोगों के **रूपाणि**–रूप **कृष्णा**=आकर्षकत्व **अर्जुना**=श्वेत व शुद्ध होते हैं। (३) हे प्रभु को प्राप्त करनेवाले जीव! तू **वः मदे**=अपने आनन्द में **विश्वाः श्रियः**=सब शोभाओं को **अधिधिषे**=आधिक्येन धारण करनेवाला होता है और **विवक्षसे**=विशिष्ट उन्नति के लिये होता है। प्रभु प्राप्ति का परिणाम प्रभु-भक्त के जीवन में यह होता है कि वह सब शुभ-गुणों का धारण करनेवाला होता है और सब प्रकार की उन्नति उसके जीवन को सुन्दर बना देती है।

भावार्थ—प्रभु के सच्चे उपासक वे ही हैं जो लोकधारण में तत्पर रहते हैं।

ऋषिः–**विमद एन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः**॥ देवता–**अग्निः**॥ छन्दः–**निचृत्पङ्क्तिः**॥ स्वरः–**पञ्चमः**॥

'अमर्त्य-सहसावन्-अग्नि'

यमग्ने मन्यसे रयिं सहसावन्नमर्त्य ।
तमा नो वाजसातये वि वो मदे यज्ञेषु चित्रमा भरा विवक्षसे॥ ४॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी, **सहसावन्**=बल-सम्पन्न, **अमर्त्य**=किसी भी विषय के पीछे न मरनेवाले अमर प्रभो! **यम्**=जिस भी **रयिम्**=धन को आप **मन्यसे**=आदरणीय समझते हैं **तम्**=उस **यज्ञेषु**=यज्ञों में विनियुक्त होने पर **चित्रं**=(चित्-र) ज्ञान की वृद्धि के कारण भूत धन को **नः**–हमारे लिये **आभरा**=धारण कीजिये। प्रभु अग्नि हैं, अग्र-स्थान पर स्थित हैं, क्योंकि सहसावन्=बल-सम्पन्न हैं। बिना बल के अग्नित्व प्राप्त नहीं होता, प्रभु बल-सम्पन्न हैं, क्योंकि अमर्त्य हैं, प्रभु विषयप्रसक्त नहीं है। ये तीन सम्बोधन हमें भी प्रेरणा दे रहे हैं कि 'अमर्त्य' बनकर 'सहसावन्' बनो, तभी 'अग्नि' बन पाओगे। (२) हे प्रभो! हमें इस रयि को इसलिये प्राप्त कराइये

कि हम **वः**-आपकी प्राप्ति के **वि-मदे**=प्रकृष्ट आनन्द में **विवक्षसे**=विशिष्ट उन्नति के लिये हों। यह रयि यज्ञों में विनियुक्त होता हुआ हमारी विषयाशक्ति का कारण न बनकर सदा उन्नति का ही कारण हो और इस प्रकार यह धन **वाजसातये**=शक्ति की प्राप्ति के लिये हो (वाज-शक्ति, साति-प्राप्ति)। (३) 'वाजसाति' शब्द संग्राम के लिये भी प्रयुक्त होता है। यह धन हमें काम, क्रोध, लोभादि के साथ चलनेवाले अध्यात्म-संग्राम में सहायक हो। हमें इस धन के दास बनकर इस संग्राम में हार न जायें। यह धन हमें ह्रास की ओर न ले जाकर सदा उत्त्थान की ओर ले जानेवाला हो।

भावार्थ—'प्रभु' अग्नि सहसाधन व अमर्त्य हैं। प्रभु हमें भी वह रयि प्राप्त करायें जिससे कि हम भी ऐसे ही बन सकें।

ऋषिः-**विमद एन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः**॥ देवता-**अग्निः**॥ छन्दः-**विराट्पङ्क्तिः**॥
स्वरः-**पञ्चमः**॥

विवस्वान् का दूत

अ॒ग्निर्जा॒तो अथ॑र्वणा वि॒दद्विश्वा॑नि॒ काव्या॑ ।
भुव॑द्दू॒तो वि॒वस्व॑तो॒ वि वो॒ मदे॑ प्रि॒यो य॒मस्य॒ काम्यो॒ विव॑क्षसे ॥ ५ ॥

(१) गत मन्त्र में प्रार्थना की गई थी कि हम अग्नि बन सकें। उसीका उपाय बतलाते हुए कहते हैं कि **अथर्वणा**-(न थर्वति) डाँवाडोल न होने से तथा (अथ अर्वाङ्) सदा अपने अन्दर आत्मनिरीक्षण करने से **अग्निः**=अग्नि **जातः**=हो जाता है। अग्नि व अग्रेणी बनने के लिये आवश्यक है कि मनुष्य अभ्यास व वैराग्य के द्वारा मन को स्थिर करे। चित्तवृत्तिनिरोध के बिना 'अग्नि' बनने का प्रश्न ही नहीं पैदा होता। इस अग्नि बनने के लिये प्रतिदिन आत्मनिरीक्षण भी नितान्त आवश्यक है। आत्मनिरीक्षण का अभ्यासी पुरुष ही कमियों को दूर करता हुआ आगे बढ़ पाता है। (२) यह अग्नि बननेवाला व्यक्ति **विश्वानि काव्या**=सम्पूर्ण ज्ञानों को **विदद्**=जाननेवाला होता है। वस्तुतः अन्तःस्थित उस महान् अग्नि (=प्रभु) के प्रकाश को देखने से यह सम्पूर्ण तत्त्वों के रहस्य को जानने में समर्थ होता है। इसे उस कवि के काव्य प्राप्त होते ही हैं। (३) इन काव्यों को प्राप्त करके यह **विवस्वतः**=ज्ञान की किरणों वाले उस प्रभु का **दूतः भुवत्**=दूत होता है। उसके सन्देश को सर्वत्र फैलानेवाला बनता है। यही जीवन की अन्तिम मंजिल में 'प्राजापत्य यज्ञ' में आहुति देना है। (४) इस ज्ञान-सन्देश को फैलाने के कार्य में लगा हुआ यह व्यक्ति **यमस्य**=उस सर्वनियन्ता प्रभु का **प्रियः**=प्यारा होता है। यह सारी प्रजा का भी **काम्यः**=चाहने योग्य होता है। (५) इस की कामना यही होती है कि हे प्रभो! **वः**=आपकी प्राप्ति के **विमदे**-उत्कृष्ट आनन्द में **विवक्षसे**=सब प्रजायें विशिष्ट उन्नति के लिये हों। सारी प्रजाओं का झुकाव आपकी ओर हो और वे उन्नतिपथ पर आगे बढ़नेवाली हों।

भावार्थ—हम स्थिरचित्तता व आत्मनिरीक्षण के द्वारा अग्नि बनें। प्रभु के सन्देशवाहक बनकर प्रभु के प्रिय हों। हमारी कामना यही हो कि सब प्रभु प्रवण होकर उन्नतिपथ पर आगे बढ़ें।

ऋषिः-**विमद एन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः**॥ देवता-**अग्निः**॥ छन्दः-**आर्चीपङ्क्तिः**॥
स्वरः-**पञ्चमः**॥

यज्ञों द्वारा प्रभु का उपासन

त्वां य॒ज्ञेष्वी॑ळ॒तेऽग्ने॑ प्रय॒त्य॑ध्व॒रे। त्वं वसू॑नि॒ काम्या॒ वि वो॒ मदे॒ विश्वा॑ दधासि दा॒शुषे॒ विव॑क्षसे ॥ ६ ॥

(१) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **त्वाम्**=आपको ही **प्रयति**-प्रकर्षेण गति वाले **अध्वरे**-हिंसारहित जीवनयज्ञ में **यज्ञेषु**=इन 'देवपूजा-संगतिकरण व दान' रूप श्रेष्ठतम कर्मों में **ईडते**=दाश्वान् पुरुष

उपासित करते हैं। दाश्वान् पुरुष वह है जो कि प्रभु से दिये जानेवाले धनों को सदा लोकहित के लिये देता है। यह अपने जीवन को क्रियाशील व हिंसारहित बनाता है एवं इसका जीवन निरन्तर चलनेवाला अध्वर ही होता है। इस जीवन में यह 'बड़ों का आदर, परस्पर प्रेम तथा दान' आदि यज्ञिय वृत्तियों को अपनाता है, ये वृत्तियाँ ही इसका प्रभु उपासन हो जाती हैं। (२) **त्वम्** हे प्रभो! आप भी **दाशुषे**=इस दाश्वान् पुरुष के लिये **विश्वा**=सब **काम्या**=कमनीय, चाहने योग्य **वसूनि**=धनों को **दधासि**=धारण करते हैं। (३) इन कमनीय धनों को प्राप्त करके यह दाश्वान् पुरुष **वः**=आपकी **विमदे**=प्राप्ति के आनन्द में **विवक्षसे**=विशिष्ट उन्नति के लिये होता है। संसार में निवास के लिये आवश्यक, अतएव कमनीय धनों के बिना किसी प्रकार की उन्नति का सम्भव नहीं होता। इन धनों के द्वारा भौतिक-स्वास्थ्य का साधन करके एक भक्त ध्यान में प्रभु प्राप्ति के अद्भुत आनन्द का प्रातः-सायं अनुभव करता है और जीवन में विशिष्ट उन्नति के लिये समर्थ होता है।

भावार्थ—हम यज्ञों द्वारा प्रभु का उपासन करें। प्रभु कृपा से हम कमनीय वसुओं को प्राप्त करके भौतिक स्वास्थ्य का साधन करें और अध्यात्म-क्षेत्र में आगे बढ़ें।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः**॥
स्वरः—**पञ्चमः**॥

'शुक्र-चेतिष्ठ' प्रभु

त्वां यज्ञेष्वृत्विजं चारुमग्ने नि षेदिरे। घृतप्रतीकं मनुषो वि वो मदे शुक्रं चेतिष्ठमक्षभिर्विवक्षसे॥ ७॥

(१) हे **अग्ने** अग्रेणी प्रभो! **यज्ञेषु**=यज्ञों में **ऋत्विजम्**=समय-समय पर उपासना के योग्य **चारुम्**=अत्यन्त रमणीय आपको **मनुषः**=विचार पूर्वक कर्म करनेवाले लोग **निषेदिरे**=स्थापित करते हैं। समझदार लोग यज्ञों द्वारा ही प्रभु का उपासन करते हैं। उस-उस समय के अनुसार होनेवाले लोकहितात्मक कर्मों से इनका प्रभु-पूजन चलता है। वे प्रभु 'चारु' हैं, सुन्दर ही सुन्दर हैं। प्रभु में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं। इनका जीवन भी न्यूनताओं से रहित होकर सुन्दरता को प्राप्त करनेवाला होता है। (२) उस प्रभु को ये विचारशील पुरुष अपने में स्थापित करते हैं जो कि **घृतप्रतीकम्**=(घृत=व्याप्तै तेजोभिः, प्रतीक=अतिशयेन ज्ञातारं) व्याप्त तेजस्विताओं के साथ अतिशयेन ज्ञाता हैं। ये उपासक भी अपने में तेजस्विता व ज्ञान का समन्वय करने का प्रयत्न करते हैं। (३) वे उस प्रभु का उपासन करते हैं जो कि **शुक्रम्**=(शुक गतौ) अधिक से अधिक क्रियाशील हैं और **चेतिष्ठम्**=सर्वातिशायी चेतना व ज्ञान वाले हैं। एक उपासक भी क्रियाशील व ज्ञानी बनता है। यह ज्ञानी पुरुष कभी अकर्मण्य नहीं होता। (४) इस प्रकार ये उपासक **वः**=आपकी प्राप्ति के **विमदे**=प्रकृष्ट आनन्द में **विवक्षसे**=विशिष्ट उन्नति के लिये होते हैं।

भावार्थ—प्रभु का उपासक तेजस्वी व ज्ञानी होता है, यह अपने में क्रियाशीलता व ज्ञान का समन्वय करके चलता है।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः**॥
स्वरः—**पञ्चमः**॥

क्रियाशील ज्ञानी भक्त

अग्ने शुक्रेण शोचिषोरु प्रथयसे बृहत्।
अभिक्रन्दन्वृषायसे वि वो मदे गर्भं दधासि जामिषु विवक्षसे॥ ८॥

(१) हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **शुक्रेण शोचिषा**=क्रियामय (शुक गतौ) ज्ञानदीप्ति के

द्वारा **उरु**=हृदय की विशालता के साथ तथा **बृहत्**=अंग प्रत्यंग की शक्ति की वृद्धि के साथ **प्रथयसे**=अपना विस्तार करनेवाला होता है। क्रिया व ज्ञान के समन्वय से इसकी भौतिक व अध्यात्मिक दोनों प्रकार की उन्नति होती है। 'उरु' अध्यात्म उन्नति का संकेत करता है तो बृहत्=भौतिक उन्नति का। एवं उन्नति में 'अभ्युदय व निःश्रेयस' दोनों का स्थान है। दोनों का समन्वय ही वास्तविक धर्म है 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'। (२) हे अग्रेणी जीव! तू **अभिक्रन्दन्**=दिन के प्रारम्भ व अन्त में, अर्थात् दोनों समय उस प्रभु का आह्वान करता हुआ **वृषायसे**=एक शक्तिशाली पुरुष की तरह आचरण करता है। प्रभु-स्मरण से प्रभु की समीपता में यह उसी प्रकार सशक्त बन जाता है जैसे कि माता के अंक में स्थित बालक शक्ति को अनुभव करता है और निर्भीक होता है। (३) हे प्रभो! **वः**=आपकी प्रति के **विमदे**=विशिष्ट आनन्द के निमित्त यह **गर्भं दधासि**=हिरण्यगर्भ नामक आपका धारण करता है। आप सभी को अपने में धारण करने से 'गर्भ' हैं, यह भक्त आपको धारण करने के लिये यत्नवान् होता है। और इसीलिए **जामिषु**=सब बन्धुओं में **विवक्षसे**=विशिष्ट उन्नति के लिये होता है। वस्तुतः प्रभु का धारण व उपासन हमें मार्गभ्रष्ट होने से बचाता है और हमारी उन्नति का कारण बनता है।

भावार्थ—प्रभु का उपासन ही सब उन्नतियों का मूल है। प्रभु का उपासक क्रियाशील व ज्ञानी होता है।

सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से होता है कि मैं को छोड़कर ही हम प्रभु का वरण कर पाते हैं। (१) प्रभु प्राप्ति के लिये 'करुणार्द्रता, सरलता व त्याग' आवश्यक हैं, (२) प्रभु के सच्चे उपासक लोक-धारण में तत्पर होते हैं, (३) प्रभु का उपासक 'अग्नि, सहसवान् व अमर्त्य' बनने का प्रयत्न करता है, (४) स्थिरचित्तता व आत्मनिरीक्षण के द्वारा हम अग्नि बनते हैं, (५) यज्ञों के द्वारा 'प्रभु उपासन' करके हम कमनीय वसुओं को प्राप्त करते हैं, (६) इन वसुओं को प्राप्त करके हम तेजस्वी व ज्ञानी बनते हैं, (७) क्रियाशील ज्ञानी पुरुष ही तो प्रभु का सच्चा उपासक होता है, (८) यह प्रभु ही हमारा उपास्य हो।

[२२] द्वाविंशं सूक्तम्

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृद्बृहती** ॥
स्वरः—**मध्यमः** ॥

ऋषियों के घरों में

कुह श्रुत इन्द्रः कस्मिन्नद्य जने मित्रो न श्रूयते। ऋषीणां वा यः क्षये गुहा वा चर्कृषे गिरा ॥ १ ॥

(१) **कुह**=कहाँ **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **श्रुतः**=सुना जाता है। अर्थात् प्रभु की आवाज को कौन-सी योनि में आत्मा सुन पाती है? **अद्य**=आज **कस्मिन् जने**=किस व्यक्ति में **मित्रो न**=मित्र के समान **श्रूयते**=वह प्रभु सुना जाता है। जैसे एक मित्र की वाणी को हम सुनते हैं उसी प्रकार उस महान् मित्र प्रभु की वाणी को कौन सुनता है? इस संसार में प्रायः एक मित्र दूसरे मित्र को सलाह देता हुआ झिझकता है, प्रायः दूसरा व्यक्ति अपने मित्र की ठीक सम्मति को सुनने को तैयार भी नहीं होता। प्रभु सलाह तो सदा देते ही हैं, पर प्रायः हम उस सलाह को सुनते नहीं हैं? (२) ये प्रभु वे हैं **यः वा**=जो कि या तो **ऋषीणां क्षये**=तत्त्वद्रष्टाओं के घरों में **वा**=अथवा **गुहा**=बुद्धि व हृदयदेश में **गिरा**=वाणियों के द्वारा **चर्कृषे**=सदा आकृष्ट किये जाते हैं। अर्थात् प्रभु की वाणी ऋषियों के घरों में सुन पाती है अथवा हृदयदेश में उस प्रभु का ध्यान करनेवाले लोग ही स्तुति द्वारा उस प्रभु को अपनी ओर आकृष्ट करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु की वाणी को विरल ही सुननेवाले होते हैं। ऋषियों के गृहों में प्रभु स्तवन होता है और हृदयदेश में प्रभु ध्यान चलता है।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्र; प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥
स्वरः—**गान्धारः**॥

'वज्री-ऋचीषम' प्रभु

इह श्रुत इन्द्रो अस्मे अद्य स्तवे वज्र्यृचीषमः। मित्रो न यो जनेष्वा यशश्चक्रे असाम्या॥ २॥

(१) **इह**–इस मानव जीवन में **इन्द्रः** वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **श्रुतः**=सुना जाता है। अर्थात् इस मानव योनि में ही हम उस प्रभु की वाणी को सुनने के लिये समर्थ होते हैं। पशु-पक्षियों को यह योग्यता प्राप्त नहीं। (२) **अस्मे**–हमारे से **अद्य**=आज **स्तवे**=उस प्रभु का स्तवन किया जाता है। जो प्रभु **वज्री**=क्रियाशीलता रूपी वज्र के द्वारा सब शत्रुओं का संहार करनेवाले हैं। **ऋचीषमः**='ऋचा समः' ऋचाओं में की गई गुणवर्णना के समान हैं। 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्' सब ऋचाएँ उस आकाशवत् व्यापक परम अविनाशी प्रभु में स्थित हैं। इन ऋचाओं में प्रभु की महिमा का ही वर्णन है। (३) यह 'वज्री-ऋचीषम-इन्द्र' वह है **यः**–जो कि **मित्रः न**=एक सच्चे मित्र की तरह अथवा सूर्य की तरह **जनेषु**=अपनी शक्तियों के प्रादुर्भाव के लिये पुरुषार्थ करनेवाले लोगों में **असामि**-पूर्ण **यशः** प्रकाश व ज्ञान को **आचक्रे**=सब प्रकार से करते हैं। प्रभु हमें प्रकाश प्राप्त कराते हैं। इस प्रकाश में किसी प्रकार की कमी नहीं होती। परन्तु यह प्रकाश प्राप्त उन्हीं को होता है जो कि अपने विकास के लिये यत्नशील होते हैं। वस्तुतः जैसे सूर्य का प्रकाश सर्वत्र समरूप से फैलता है उसी प्रकार प्रभु का ज्ञान भी प्रत्येक हृदय में प्रकाशित होता है। उल्लू सूर्य के प्रकाश का लाभ नहीं उठा पाता, इसी प्रकार सांसारिक विषयों के पीछे उन्मत्त होनेवाले पुरुष उस प्रभु के प्रकाश को नहीं देख पाते। इन मोहमदिरा को पीकर उन्मत्त हुए-हुए पुरुषों के लिये उस प्रकाश की प्राप्ति नहीं होती।

भावार्थ—वे प्रभु पूर्ण प्रकाश को प्राप्त करानेवाले हैं। इस प्रकाश को प्राप्त वही करते हैं, जो कि अपनी शक्तियों के विकास के लिये यत्नशील होते हैं।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्र; प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराड्बृहती**॥
स्वरः—**मध्यमः**॥

'बल के स्वामी' प्रभु

महो यस्पतिः शवसो असाम्या महो नृम्णस्य तूतुजिः।
भर्ता वज्रस्य धृष्णोः पिता पुत्रमिव प्रियम्॥ ३॥

(१) गत मन्त्र में हमारे से स्तुति किये जानेवाले प्रभु वे हैं **यः**=जो कि **महः शवसः**=महान् बल के **पतिः**–स्वामी हैं। उस प्रभु की शक्ति अनन्त है, उसकी शक्ति महनीय है। (२) वे प्रभु **महो नृम्णस्य**–महान् धन के **असामि**=पूर्णरूपेण **आतूतुजिः**–सब प्रकार से हमारे में प्रेरक हैं। अर्थात् प्रभु कृपा से हमें वह महनीय धन प्राप्त होता है जो कि हमारे सब सुखों का साधन बनता है। (३) वे प्रभु **वज्रस्य**=(वज गतौ) गतिशील और अतएव **धृष्णोः**–कामादि शत्रुओं का धर्षण करनेवाले व्यक्ति का **भर्ता**=भरण करनेवाले हैं। **इव**=उसी प्रकार भरण करनेवाले हैं जैसे कि **पिता**=एक पिता **प्रियं पुत्रम्**=प्रिय पुत्र का भरण करता है। 'स्वास्थ्य, सदाचार व स्वाध्याय' आदि गुणों से पिता को प्रीणित करनेवाला पुत्र पिता के लिये सदा प्रिय होता है और पिता उसका अवश्य भरण करते हैं। इसी प्रकार क्रियाशील व कामादि से युद्ध करके उनके धर्षण में प्रवृत्त जीव प्रभु

का प्रिय होता है और प्रभु इसे महनीय शक्ति व धन प्राप्त कराते हैं। इन्हें प्राप्त करके यह उन्नतिपथ पर अग्रसर होता है।

भावार्थ—प्रभु अनन्त शक्ति के स्वामी हैं, वे हमारे में शक्ति व धन को प्रेरित करते हैं, जिससे उन्नत होकर हम प्रभु के प्रिय पुत्र बन पायें।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

प्रभु का प्रिय पुत्र कौन ?

युजानो अश्वा वातस्य धुनी देवो देवस्य वज्रिवः। स्यन्ता पथा विरुक्मता सृजानः स्तोष्यध्वनः ॥ ४ ॥

(१) **वातस्य धुनी**=वायु को भी प्रेरित करनेवाले अर्थात् वायु से भी तीव्र गति वाले **अश्वा**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों को **युजानः**=शरीर रूप रथ में जोड़नेवाला यह होता है। इसका जीवन सतत क्रियामय होता है। इस क्रियामय जीवन के कारण ही **देवः**=यह देव बनता है। इसका जीवन दिव्यगुणों वाला व प्रकाशमय होता है। (२) इस **देवस्य**=प्रकाशमय जीवन वाले **वज्रिवः**=क्रियाशीलता रूप वज्र को हाथों में धारण करनेवाले पुरुष के इन्द्रियाश्व **विरुक्मता**=विरोचमान, अर्थात् अमलिन पापशून्य पवित्र **पथा**=मार्ग से **स्यन्ता**=(स्यन्तौ गच्छन्तौ) चलनेवाले होते हैं। इसकी ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान-प्राप्ति में लगी रहती हैं और कर्मेन्द्रियों से यह यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगा रहता है। इस प्रकार इसकी इन्द्रियों का मार्ग सदा देदीप्यमान व प्रशस्त होता है। (३) यह **अध्वनः सृजानः**-मार्ग से धनों का सर्जन करता है। उत्तम मार्ग से धनों को कमाता है 'अग्ने नय सुपथा राये'। यह इस बात को समझता है कि धन के बिना यह निधन के ही मार्ग पर जाएगा। धन ही उसे धन्य बनानेवाला है, बशर्ते कि वह धन का दास न बन जाए और धन का स्वामी ही बना रहे 'वयं स्याम पतयो रयीणाम्'। (४) धन का दास न बनने के लिये ही **स्तोषि**=तू प्रभु का स्तवन करता है। यह प्रभु स्तवन तुझे शक्ति देता है और तेरे समाने ये संसार के प्रलोभन अत्यन्त तुच्छ हो जाते हैं। वस्तुतः तभी तू प्रभु का प्रिय पुत्र बन पाता है।

भावार्थ—हमारे इन्द्रियाश्व क्रियामय हों, विरोचमान मार्ग से ये चलनेवाले हों, धर्म से धनार्जन करते हुए हमें प्रभु-स्तवन सदा मार्गभ्रष्ट होने से बचाये।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

इन्द्रियों की प्रबलता

त्वं त्या चिद्वातस्याश्वागा ऋज्रा त्मना वहध्यै। ययोर्देवो न मर्त्यो यन्ता नकिर्विदाय्यः ॥ ५ ॥

(१) **त्वम्**=हे इन्द्र-इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! तू **त्या**=उन **वातस्य**=वायु के **चित्**=भी **अश्वा**=घोड़ों को अर्थात् वायु के समान वेगवान् व बलवान् इन्द्रियाश्वों को **आगाः**=सर्वथा प्राप्त होता है। ये इन्द्रियाश्व तेरे अधिष्ठा-तृत्व में **ऋज्रा**=ऋजु मार्ग से चलनेवाले हैं। तू इन्हें **त्मना**=स्वयं **वहध्यै**=वहन के लिये प्राप्त होता है। तू इनका अधिष्ठाता बनता है, ये तुझे इधर-उधर भटकानेवाले नहीं होते। (२) तू उन ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय रूप अश्वों को लक्ष्य-स्थान की ओर ले चलता है, **ययोः**=जिनका **यन्ता**-काबू करनेवाला **न देवः**=न तो देव है, न=और ना ही **मर्त्यः**=मनुष्य। बड़े-बड़े विद्वान् भी इन इन्द्रियाश्वों को काबू नहीं कर पाते, मनुष्य की तो क्या शक्ति है कि इन्हें काबू कर सके? इन इन्द्रियाश्वों की शक्ति को **विदाय्यः**=जाननेवाला भी **नकिः**=कोई नहीं है। 'इन्द्रियाणि प्रमाथीनि'=इन शब्दों के अनुसार ये इन्द्रियाँ मनुष्य को कुचल देनेवाली हैं। इनका संयम

सुगम नहीं। इतनी प्रबल शक्ति वाली भी इन इन्द्रियों को वह जीव, जो कि प्रभु का प्रिय पुत्र बनने का प्रयत्न करता है, अपने वश में करके ऋजु मार्ग से जीवनयात्रा में आगे बढ़ता है।

भावार्थ—इन्द्रियों को वश में करना कठिन है। एक साधक ही इन इन्द्रियों को वश में करके जीवनयात्रा को सिद्ध करता है।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

इन्द्रियों का सन्नियमन

अध ग्मन्तोशना पृच्छते वां कदर्था न आ गृहम्। आ जग्मथुः पराकाद्दिवश्च ग्मश्च मर्त्यम्॥ ६॥

(१) **अध**=अब, साधना के लिये प्रयत्न करने के उपरान्त **उशनाः**=जीवनयात्रा को पूर्ण करके प्रभु प्राप्ति की प्रबल कामना वाला यह साधक, **ग्मन्ता**=निरन्तर बाह्य विषयों में जाती हुई **वां**=तुम दोनों-ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों से **पृच्छते**=पूछता है कि तुम **कदर्था**=क्यों (किमर्थम्) **दिवः ग्मः च**=द्युलोक के व पृथ्वीलोक के **पराकाद्**=दूर-दूर देशों से इस **मर्त्यम् गृहम्**=मनुष्य के घर में **न आजग्मथुः**=नहीं आते हो। (२) यह शरीर 'मर्त्य गृह' है। मरणाधर्मा होने से 'मर्त्य' है, जीव का निवास-स्थान होने से 'गृह' है। इन्द्रियाँ सामान्यतः बाह्य विषयों में भटकती हैं। विषयों की चमक उनको सदा अपनी ओर खैंचती है। कोई एक आध वीर पुरुष ही इनको विषय-व्यावृत्त करके शरीर रूप गृह में ही स्थापित कर पाता है। जब ये अवस्थित हो जाती हैं तभी हम अपने स्वरूप में स्थित हो पाते हैं। यही उपनिषदों के शब्दों में 'परमागति' कहलाती है। द्युलोक व पृथ्वीलोक के दूर-दूर देशों में भटकनेवाली ये इन्द्रियाँ निरुद्ध होकर आत्मदर्शन के लिये सहायक होती हैं। तभी कैवल्य प्राप्त होता है, तभी हम प्रभु में विचरण करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—इन्द्रियों को दूर-दूर देशों से लौटाकर हम शरीर गृह में ही निरुद्ध करें, तभी हम आत्मदर्शन करते हुए प्रभु को पानेवाले बनेंगे।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**आर्च्यनुष्टुप्**॥ स्वरः—**गान्धारः**॥

मनुष्य बनना

आ न इन्द्र पृक्षसेऽस्माकं ब्रह्मोद्यतम्। तत्त्वा याचामहेऽवः शुष्णं यद्धन्नमानुषम्॥ ७॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार जब हम इन्द्रियों का निरोध कर पाते हैं तो **इन्द्र**=हे परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **नः**=हमारे से **आपृक्षसे**=संपृक्त होते हैं। इन्द्रियों का निरोध करके ही तो ब्रह्म-दर्शन का सम्भव होता है। (२) इस सम्पर्क के होने पर **अस्माकम्**=हमारा **ब्रह्म**=ज्ञान **उद्यतम्**=(raised, lifted up) उन्नत होता है। प्रभु के सम्पर्क में आकर हमारा जीवन प्रकाशमय हो उठता है। प्रभु प्रकाश के पुञ्ज हैं, उनके सम्पर्क में आनेवाला अन्धकार में रह ही कैसे सकता है? (३) इस प्रकाश को प्राप्त करके हम हे प्रभो! **त्वा**=आप से **तत्**=उस **अवः**=रक्षण व **शुष्णम्**=बल को **याचामहे**=माँगते हैं, **यत्**=जो बल **अमानुषम्**=अमनुष्योचित प्रत्येक बुराई को **हन्**=नष्ट कर देती है। प्रभु से 'प्रकाश, रक्षण व बल' को प्राप्त करके हम सब आसुर भावनाओं को दूर करने व दिव्यभावनाओं को अपनाने में समर्थ होते हैं। हमारे अमानुष भाव दूर होते हैं और हमारे में दिव्य भावों का विकास होता है। 'अमानुष' शब्द क्रूरता व स्वार्थ का संकेत करता है, ये सब क्रूर व स्वार्थमयी भावनायें प्रभु के प्रकाश से नष्ट हो जाती हैं।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमें वह शत्रु-शोषक बल प्राप्त हो जो कि हमारे सब अमानुष भावों

को दूर करके हमें सच्चा मनुष्य बनने की क्षमता प्राप्त कराये।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्र; प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

दास का दामन

अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तुरन्यव्रतो अमानुषः। त्वं तस्यामित्रहन्वधर्दासस्य दम्भय॥ ८॥

(१) गत मन्त्र में 'अमानुष' के विनाशक बल की आराधना की गई थी। प्रस्तुत मन्त्र में उसी 'अमानुष' का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि यह **अकर्मा**=(अविद्यमानयागादि कर्मा सा०) यह यज्ञादि उत्तम कर्मों में कभी प्रवृत्त नहीं होता। (२) यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त होना तो दूर रहा, यह **दस्युः**=(उपक्षपयिता) औरों के विनाशकारी कर्मों में प्रवृत्त होता है, इसको दूसरों के कार्यों में विघ्न करना ही रुचिकर होता है। दूसरों की हानि में यह मजा लेता है। (३) यह **नः**=हमारा **अभि**=लक्ष्य करके **अमन्तुः**=न विचार करनेवाला है। जगत् को यह अनीश्वर मानता है। ईश्वर की सत्ता को न मानता हुआ, यह संसार को 'अपरस्पर संभूत–कामहैतुक' मानता है। इसके प्रातः-सायं प्रभु के ध्यान करने का प्रश्न ही नहीं उठता। (४) **अन्यव्रतः**=श्रुति प्रतिपादित कर्मों को न करके अन्य कर्मों में ही यह व्यापृत रहता है। 'धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः'='धर्म को जानने की इच्छा वालों के लिये श्रुति ही परम प्रमाण है' ये मनु के शब्द इनको इष्ट नहीं हैं। ये श्रुति विरुद्ध कर्मों में ही आनन्द लेने का प्रयत्न करते हैं। (५) **अमानुषः**=ये क्रूर स्वभाव के राक्षस होते हैं। इनमें मनुष्यता नहीं है। ये (Humane)=दयालु न होकर Inhumane=क्रूर व बर्बर होते हैं। (६) हे **अमित्रहन्**=हमारे शत्रुओं के नष्ट करनेवाले प्रभो! **त्वं**=आप ही **तस्य दासस्य**=उस औरों का नाश करनेवाले के **वधः**=मारनेवाले हो। इस दस्यु का नाश आप ही कर सकते हो। सो कृपया **दम्भय**=इस को आप नष्ट करिये। राष्ट्र में राजा प्रभु का ही प्रतिनिधि होता है। सो राजा का यह कर्तव्य है कि वह इन अमानुष लोगों को नष्ट करके प्रजा का उचित रक्षण करें। ऐसे लोगों से पीड़ित हुई-हुई प्रजायें उन्नति के मार्ग पर आगे नहीं बढ़ पाती। इन से आनेवाले कष्ट ही आधिभौतिक कष्ट कहलाते हैं।

भावार्थ—'अकर्मा, दस्यु, अमन्तु, अन्यव्रत, अमानुष' पुरुष ही दास हैं। इनसे भिन्न आर्य हैं। प्रभु कृपा से व राज-प्रयत्न से राष्ट्र में आर्यों का वर्धन व दासों का वध हो।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्र; प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

कामनाओं की पूर्ति

त्वं न इन्द्र शूर शूरैरुत त्वोतासो बर्हणा। पुरुत्रा ते वि पूर्तयो नवन्त क्षोणयो यथा॥ ९॥

(१) हे **शूर**=हमारे शत्रुओं का हिंसन करनेवाले **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वं नः**=आप ही हमारे हो। **उत**=और **शूरैः**=अध्यात्म में सब आधि-व्याधियों को नष्ट करनेवाले मरुत् संज्ञक प्राणों के द्वारा **बर्हणा**=रोगों व दोषों के **उद्बर्हण**=विनाश से **त्वा**=आप द्वारा **ऊतासः**=रक्षित हुए-हुए हम होते हैं। प्रभु ने शरीर में प्राणों का स्थापन इस रूप में किया है कि यदि हम इनकी साधना करके प्राणशक्ति का वर्धन कर लें तो रोग ही नहीं, ईर्ष्या-द्वेष आदि मानस दोष भी नष्ट हो जाएँगे, और आधि-व्याधियों से शून्य यह जीवन अतिसुन्दर बन जायेगा। (२) हे प्रभो! **यथा**=जैसे **क्षोणयः**=मनुष्य **नवन्त**=आपके समीप आते हैं (नवतिर्गतिकर्मा) उसी प्रकार **ते**=आपकी **पुरुत्रा**=पालक, पूरक व रक्षक **विपूर्तयः**=विशिष्ट रूप से कामनाओं की पूर्तियाँ होती हैं। प्रभु हमारी गलत

इच्छाओं को तो पूर्ण नहीं करते, परन्तु 'आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, द्रविण व ब्रह्मवर्चस्' आदि में जिस भी पदार्थ की हम कामना करते हैं प्रभु हमें वे ही पदार्थ देते हैं। इन पदार्थों की आसक्ति से ऊपर उठने पर प्रभु हमें मोक्ष का भी पात्र बनाते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही प्राणशक्ति के द्वारा हमारी नीरोगता की व्यवस्था करते हैं और हमारी सब उचित कामनाओं को वे प्रभु ही पूर्ण करते हैं।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

प्रभु द्वारा आलिंगन

त्वं तान्वृ॑त्रहत्ये॑ चोदयो॒ नॄन्का॑र्पा॒णे शू॑र वज्रिवः। गुहा॒ यदी॑ कवी॒नां वि॒शां नक्ष॑त्रशवसाम्॥ १०॥

(१) संस्कृत में 'कृपाण' शब्द तलवार के लिये प्रयुक्त होता है, क्योंकि यह (कृप् सामर्थ्ये) शक्ति को पैदा करती है और (आनयति) उत्साह का संचार करती है। इस तलवार से होनेवाले युद्ध को यहाँ 'कार्पाण' कहा गया है। हे **शूर**=हमारे शत्रुओं का संहार करनेवाले, **वज्रिवः**=क्रियाशीलता रूप वज्र युक्त हाथ वाले प्रभो! **त्वम्**=आप **तान्**=उन **नॄन्**=उन्नतिपथ पर आगे बढ़नेवाले लोगों को **वृत्रहत्ये**=ज्ञान पर आवरण रूप से आजानेवाली कामवासना के विनाश के निमित्त **चोदयः**=निरन्तर प्रेरणा प्राप्त कराते हैं। इन वासनाओं के साथ चलनेवाला संग्राम ही सात्त्विक अध्यात्म संग्राम है। इस संग्राम में प्रभु हमारे उत्साह को बढ़ाते हैं। ठीक तो यह है कि प्रभु कृपा से ही हम इस संग्राम में विजयी होते हैं। (२) हे प्रभो! **यत्**=जब **ई**=निश्चय से उन **विशाम्**=प्रजाओं का जो कि **कवीनाम्**=योग व स्वाध्याय के द्वारा तत्त्वदर्शन का प्रयत्न करते हैं और **नक्षत्रशवसाम्**=(न क्षीयते शवः यासां) भोग-विलास की वृत्ति से बचे रहने के कारण जिन का बल क्षीण नहीं होता, उन प्रजाओं का **गुहा**=(गृह्=Huge, to embrace) आप आलिंगन करते हैं अथवा अपनी गोद में जब इन्हें संवृत कर लेते हैं (गुह् संवरणे) तभी नर व्यक्ति वृत्र का हनन कर पाते हैं।

भावार्थ—हम प्रेरणा को सुनकर वासना का हनन करते हैं तो तत्त्वज्ञानी व अक्षीणशक्ति बनते हैं और प्रभु के आलिंगन के पात्र होते हैं।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराड्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

शुष्ण के कुल का दंभन

म॒क्षू ता त॑ इन्द्र दा॒नाप्न॑स आक्षा॒णे शू॑र वज्रिवः। यद्ध॒ शुष्ण॑स्य द॒म्भयो॑ जा॒तं विश्वं॑ स॒याव॑भिः॥ ११॥

(१) हे **शूर**=शत्रुओं का संहार करनेवाले! **वज्रिवः**=वज्रयुक्त हाथों वाले **इन्द्र**=सब शत्रुओं के द्रावक प्रभो! **ताः**=वे **दानाप्नसः**=दानरूप कर्म वाली प्रजाएँ **मक्षू**=शीघ्र ही **ते**=आपके **आक्षाणे**=व्यापन में स्थित होती हैं। (२)हे जीव! यह वह स्थिति होती है **यत् ह**=जिसमें कि तू **शुष्णस्य**=विरह संताप से शुष्क करनेवाले काम के **विश्वं जातम्**=सम्पूर्ण अपत्यों को, बीजमात्र को **सयावभिः**=साथ गति करनेवाले प्राणों के द्वारा **दम्भयः**=नष्ट कर देता है। (३) दानशील प्रजाएँ भोगासक्त न होकर प्रभु के व्यापन में स्थित होती हैं। ये प्रजाएँ प्राणसाधना के द्वारा वासना को जड़मूल से उखाड़ देती हैं।

भावार्थ—हम दान की वृत्ति को अपनाकर प्रभु के बनें और काम को भस्म कर डालें।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः; प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥
स्वरः—**गान्धारः** ॥

उत्तम इच्छाओं की पूर्ति

माक्रुध्र्यगिन्द्र शूर वस्वीरस्मे भूवन्नभिष्टयः। वयंवयं तं आसां सुम्ने स्याम वज्रिवः॥ १२॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार प्रभु के व्यापन में स्थित होने पर हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **शूर**=सब शत्रुओं का संहार करनेवाले प्रभो! **अस्मे**=हमारी **वस्वीः**=निवास को उत्तम बनानेवाली **अभिष्टयः**=(यन्) यज्ञ क्रियाएँ वा (इष्) इच्छाएँ **मा क्रुध्यग् भूवन्**=कुत्सित गति वाली न हों अर्थात् व्यर्थ न हों। हमारी इच्छाएँ उत्तम हों, जीवन को उत्तम बनाने के दृष्टिकोण से हों और वे इच्छाएँ पूर्ण हों। इसी प्रकार हमारे यज्ञ हमारे निवास को उत्तम बनायें और सफल हों। (२) हे **वज्रिवः**=क्रियाशीलता रूप वज्र युक्त हाथ वाले प्रभो! **वयंवयम्**=(वेञ् तन्तुसन्ताने) कर्मतन्तु का सन्तान करनेवाले हम, अर्थात् सदा क्रियाशील रहनेवाले हम **तं**=आपके हों और **आसाम्**=इन इच्छाओं के, पूर्ण होने के कारण, **सुम्ने**=सुख में **स्याम**=हों। क्रियाशील पुरुष की ही इच्छाएँ पूर्ण हुआ करती हैं। और उन 'वस्वी अभिष्टियों' के पूर्ण होने पर मनुष्य सुख का अनुभव करता है।

भावार्थ—हमारी इच्छाएँ उत्तम हों और वे पूर्ण हों।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः; प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥
स्वरः—**गान्धारः** ॥

सत्य व अहिंसा

अस्मे ता त इन्द्र सन्तु सत्याहिंसन्तीरुपस्पृशः। विद्याम यासां भुजो धेनूनां न वज्रिवः॥ १३॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ताः**=वे **ते**=तेरी **उपस्पृशः**=उपासनाएँ **अस्मे**=हमारे लिये **सत्याः अहिंसन्तीः**=सत्य व अहिंसा वाली हों। आपकी उपासना से मेरे जीवन में सत्य व अहिंसा का वर्धन हो। दूसरे शब्दों में, प्रभु का उपासक सत्य व अहिंसा के व्रतवाला होता है। उसके जीवन में असत्य व हिंसा के लिये स्थान नहीं रहता। सत्य व अहिंसा ही उसके साध्य होते हैं। सत्य व अहिंसा को छोड़कर वह संसार की बड़ी से बड़ी वस्तु को लेने का विचार नहीं करता। (२) ये उपासनाएँ वे हैं **यासाम्**=जिनके **भुजः**=पालनों को **विद्याम**=हम उसी प्रकार प्राप्त करें, हे **वज्रिवः**=वज्रयुक्त हाथों वाले प्रभो! **न**=जैसे **धेनूनाम्**=दुधार गौवों के भुजः=उपभोगों को हम प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—उपासना एक दुधार गौ के समान है, जिसका दूध हमारा उत्तम पालन करते हैं और हमारे जीवनों को सत्य व अहिंसा वाला बनाते हैं।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः; प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृद्बृहती** ॥
स्वरः—**मध्यमः** ॥

भोग व अनासक्ति

अहस्ता यदपदी वर्धत क्षाः शचीभिर्वेद्यानाम्। शुष्णं परि प्रदक्षिणिद्विश्वायवे नि शिश्नथः॥ १४॥

(१) **अहस्ता अपदी**=बिना हाथ-पैर वाली भी **क्षाः**=यह पृथिवी **वेद्यानाम्**=(वेद+य) उत्तम ज्ञानियों के **शचीभिः**=प्रज्ञापूर्वक किये गये कर्मों से **यद् वर्धत**=जो बढ़ जाती है तो हे प्रभो! आप ही **परि**=चारों ओर व्याप्त होनेवाले 'शरीर, मन व बुद्धि' सभी को अपना अधिष्ठान बनानेवाले, **प्रदक्षिण् इत्**=अत्यन्त चतुर **शुष्णम्**=इस सुखा देनेवाले काम को **निशिश्नथः**=निश्चय

से नष्ट किया करते हैं जिससे **विश्वायवे**-पूर्ण जीवन को हम प्राप्त कर सकें। (२) पृथ्वी के हाथ पाँव नहीं है, 'वह स्वयं चलकर हमारे पास आयेगी, और हमें भोग्य वस्तुएँ प्राप्त करायेगी' ऐसी बात नहीं है। इस पृथ्वीरूप गौ को तो ज्ञानपूर्वक श्रम करके ही दोह सकते हैं। ज्ञानपूर्वक श्रम के होने पर यह पृथ्वी हमारे लिये भोग्य पदार्थों को खूब बढ़ानेवाली होगी। (३) उन भोग्य पदार्थों के बढ़ने पर यह बड़ा भारी खतरा उत्पन्न हो जाता है कि हम उन भोगों में फँस न जाएँ। यह भोगासक्ति ही काम्य पदार्थों के उपभोग से अधिकाधिक बढ़ती जाती है और यह हमारे लिये शुष्णासुर बन जाती है। यह कामदेव बड़ा कुशल है, (प्रदक्षिणं) फूलों के ही धनुष से और फूलों के ही बाणों से हमारी सब ज्ञानेन्द्रियों पर इकट्ठा ही आक्रमण करता है, इसी से इसका नाम 'पञ्चबाण' भी हो गया है। इस को तो प्रभु ही मारते हैं, हमारे लिये इसके मारने का सम्भव नहीं होता। (४) इस शुष्ण के समाप्त हो जाने पर ही हमारा जीवन पूर्ण बनता है। काम तो 'शरीर, मन व बुद्धि' सभी को ही नष्ट कर डालता है।

भावार्थ—ज्ञानपूर्वक कर्मों द्वारा हम इस पृथ्वी से अपने भोग्य पदार्थों को प्राप्त करें। प्रभु स्मरण करते हुए हम उन पदार्थों के प्रति आसक्त न हो जाएँ। और इस प्रकार अनासक्त भाव से चलते हुए हम पूर्ण जीवन को प्राप्त कर सकें।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥
स्वरः—**धैवतः** ॥

महनीय धनों से धनी

पिबापिबेदिन्द्र शूर सोमं मा रिषण्यो वसवान् वसुः सन्।
उत त्रायस्व गृणतो मघोनो महश्च रायो रेवतस्कृधी नः ॥ १५ ॥

(१) हे **इन्द्र**-परमैश्वर्यशालिन्! **शूर**=सब शत्रुओं का संहार करनेवाले प्रभो! **सोमं**=सोम को **पिबा पिबा**=अवश्य हमारे शरीर में ही व्याप्त कीजिये। इस सोम=वीर्य के शरीर में व्याप्त होने पर ही हम पूर्ण जीवन वाले बन सकेंगे। **मा रिषण्यः**-हे प्रभो! हमें हिंसित मत करिये। सोम के शरीर में व्याप्त होने पर हिंसित होने का प्रश्न नहीं रहता। (२) हे **वसवान**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले प्रभो! **वसुः सन्**=सब के निवासक होते हुए आप **गृणतः**=स्तुति करनेवाले **उत**=और **मघोनः**=(मघ व्रतः, मघ, मख)-यज्ञशील हम लोगों का **त्रायस्व**=रक्षण करिये। **च**=और **महः रायः**=महनीय धनों से **नः**-हमें **रेवतः**-रयि व धनों वाला **कृधी**=करिये। प्रभु के स्तवन का यह परिणाम होता है कि हम ऐश्वर्यशाली होकर उस ऐश्वर्य का विनियोग यज्ञों में करते हैं, उन धनों के कारण भोगासक्त नहीं हो जाते।

भावार्थ—सोमरक्षण हमारे जीवनों को देव-जीवन बना देता है।

सूक्त का प्रारम्भ इस प्रकार हुआ है कि ऋषि लोग हृदयदेश में प्रभु का ध्यान करते हैं। (१) प्रभु 'वज्री व ऋचीषम' हैं, (२) वे बल के स्वामी हैं, (३) प्रभु के प्रिय वे ही होते हैं जो कि इन्द्रयाश्वों को विरोचमान मार्ग से ले चलते हैं, (४) यह ठीक है कि इन्द्रियाँ अत्यन्त प्रबल हैं, (५) पर, इन का संयम करके ही हम प्रभु दर्शन कर पायेंगे, (६) तभी अमानुषभावों को दूर करके मनुष्य बनेंगे, (७) हमें दास वृत्ति का दमन करना चाहिये, (८) सब कामनाओं के पूरक प्रभु ही हैं, (९) हम तत्त्वज्ञानी व अक्षीशक्ति बनकर ही प्रभु प्रिय होते हैं, (१०) दान की वृत्ति हमें प्रभु का प्रिय बनाती है, (११) प्रभु- भक्तों की इच्छाएँ उत्तम होती हैं, और अवश्य पूर्ण होती हैं, (१२) प्रभु उपासक सत्य व अहिंसा का व्रत लेता है, (१३) उसके भोग बढ़ते हैं, पर वह

उनमें फँसता नहीं, (१४) यह महनीय धनों से धनी होता है, (१५) सो हम उस प्रभु का यजन करें।

[२३] त्रयोविंशं सूक्तम्

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

झटक कर झाड़ देना

यजामह इन्द्रं वज्रदक्षिणं हरीणां रथ्यं१ विव्रतानाम्।
प्र श्मश्रु दोधुवदूर्ध्वथा भूद्वि सेनाभिर्दयमानो वि राधसा ॥ १ ॥

(१) **इन्द्रम्**-उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **यजामहे**=हम पूजते हैं अथवा अपने साथ संगत करते हैं अथवा उसके प्रति अपना अर्पण करते हैं (यज्, पूजा, संगतिकरण, दान) जो प्रभु **वज्रदक्षिणम्**=क्रियाशीलता में दक्षिण हैं, कुशलता से कार्यों को करनेवाले हैं। जो प्रभु **विव्रतानाम्**-विविध व्रतों वाले, भिन्न-भिन्न कार्यों को करनेवाले **हरीणाम्**-इन्द्रियाश्वों के **रथ्यम्**=शरीर रूप रथ में जोतने में उत्तम हैं। जिन्होंने इन विविध कार्यशक्ति सम्पन्न इन्द्रियाश्वों को इस शरीर रूप रथ में जोता है। (२) ये प्रभु ही **श्मश्रु**-(श्मनि शरीरे श्रितं) शरीर के आश्रय से रहनेवाली इन्द्रियों, मन व बुद्धि को **प्रदोधुवत्**=प्रकर्षेण कम्पित करनेवाले हैं। झाड़कर उनकी मैल को दूर करनेवाले हैं **ऊर्ध्वथा भूत्**-सदा ऊपर विद्यमान हैं, अर्थात् हमारे रक्षण के लिये सावधानता से खड़े हैं। इस रक्षण कार्य में प्रभु कभी प्रमाद नहीं करते। (३) ये प्रभु **सेनाभिः**=पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों, पाँच प्राणों व पाँच अन्तरिन्द्रियों (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, हृदय) की सेनाओं से **वि-दयमानः**=(देङ् रक्षणे) हमारा विशेषरूप से रक्षण करते हैं। **वि राधसा**=सब संसारिक आवश्यकताओं को सिद्ध करनेवाले धन के द्वारा भी वे प्रभु हमें रक्षण प्राप्त कराते हैं। हमें उस धन की प्रभु कमी नहीं होने देते, जो कि भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये आवश्यक है।

भावार्थ—हम प्रभु का पूजन करते हैं। प्रभु हमारे इन्द्रियादि के मल को दूर करते हैं, सदा हमारे रक्षण के लिये उद्यत हैं और हमें उन्नति के अध्यात्म साधनों को तथा भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये धन को देते हैं।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**आर्चीभुरिग्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

वासना का समूल विनाश

हरी न्वस्य या वने विदे वस्विन्द्रो मघैर्मघवा वृत्रहा भुवत्।
ऋभुर्वाज ऋभुक्षाः पत्यते शवोऽव क्ष्णौमि दासस्य नाम चित् ॥ २ ॥

(१) ये मेरे **हरी**=इन्द्रियाश्व, **या**=जिनको कि मैं **वने**=(win) विजय करता हूँ, **नु**=अब **अस्य**-इस प्रभु के हैं, अर्थात् अब ये इन्द्रियाँ विषयाभिमुख न होकर प्रभु-प्रवण हो गयी हैं। वस्तुतः ऐसा होने पर ही मैं **वसु विदे**=वास्तविक धन को प्राप्त करता हूँ। (२) वह **इन्द्रः**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला प्रभु जो कि **मघैः मघवा**-सब ऐश्वर्यों से ऐश्वर्य-सम्पन्न है, **वृत्रहा भुवत्**=वासना का नष्ट करनेवाला होता है। प्रभु प्रवणता से ही वासनाओं का विनाश होता है। (३) ये प्रभु **ऋभुः**=ऋत से देदीप्यमान हैं, प्रभु का ऋत सृष्टि में सर्वत्र कार्य कर रहा है। **वाजः**=वे

प्रभु शक्ति के पुञ्ज हैं। वस्तुतः ऋत में ही शक्ति है। जब प्रभु ऋत से चमकते हैं तो उन्हें शक्ति का पुञ्ज होना ही चाहिए। **ऋभुक्षाः** वे प्रभु महान् हैं। अथवा ऋत से चमकने वालों में ही निवास करनेवाले हैं (ऋभु+क्षि)। जब हम अपने जीवन को नियमित बनाते हैं तो हम अपने को प्रभु का अधिष्ठान बनाते हैं। वे प्रभु **शवः पत्यते**=सब बलों के स्वामी हैं। सो जब भी हम अपने हृदयों में प्रभु को प्रतिष्ठित करेंगे तो हमारे में भी उस बल का संचार होगा। (४) इस प्रभु के बल से बल सम्पन्न होकर मैं **दासस्य**-इस विनाशक 'काम' नामक आसुरवृत्ति के **नाम चित्**=(नम्यते ऽनेन) शिरः सा सिर को ही **अव क्ष्णौमि**-सुदूर हिंसित करता हूँ अथवा इस वृत्त के नाम को भी नष्ट कर डालता हूँ। इसको नामावशेष भी नहीं रहने देता।

भावार्थ—हम इन्द्रियों को जीतकर प्रभु-प्रवण बनायें। यही जीवन को उत्तम बनाने का मार्ग है। इससे हम प्रभु शक्ति सम्पन्न होकर वासना को समूल नष्ट कर देंगे।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

हिरण्य वज्र

यदा वज्रं हिरण्यमिदथा रथं हरी यमस्य वहतो वि सूरिभिः।
आ तिष्ठति मघवा सनश्रुत इन्द्रो वाजस्य दीर्घश्रवसस्पतिः॥ ३॥

(१) **यदा**-जब **वज्रम्**-हमारी क्रियाशीलता **हिरण्यम्**-स्वर्णीय होती है, हितरमणीय होती है, अथवा जब हमारी सब क्रियाएँ स्वर्णीय मध्य से (Golden means) होती हैं, अर्थात् हम सोने जागने व खाने-पीने आदि सब क्रियाओं में मध्य मार्ग का अवलम्बन करते हैं, **अथा इत्**=तब ही **रथम्**=हमारे शरीर रूप रथ को **हरी**-ये इन्द्रियाश्व **यमस्य**-उस नियन्ता प्रभु की ओर **वहतः** ले चलते हैं। (२) उस समय **मघवा**-ऐश्वर्यों व यज्ञों वाला होकर **सनश्रुतः**-सनातन वेदज्ञानवाला होता हुआ **वि सूरिभिः** विशिष्ट ज्ञानियों के साथ **आतिष्ठति**=सर्वथा स्थित होता है। प्रभु प्रवण व्यक्ति के ये लक्षण हैं—(क) ऐश्वर्य का यज्ञों में विनियोग (मघवा), (ख) ज्ञान (सनश्रुतः), (ग) सत्संग रुचि। (३) यही व्यक्ति **इन्द्रः**-जितेन्द्रिय व ऐश्वर्य-सम्पन्न होता है, **वाजस्य**-बल का तथा **दीर्घश्रवसः**-तामस व राजस वासनाओं के विदारक ज्ञान का **पतिः**=स्वामी होता है।

भावार्थ—प्रभु-भक्त हितरमणीय क्रियाओं वाला होता है, बल व ज्ञान का पति होता है।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**आर्चीभुरिग्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

सुक्षयम् (उत्तम गृह)

सो चिन्नु वृष्टिर्यूथ्या३ स्वा सचाँ इन्द्रः श्मश्रूणि हरिताभि प्रुष्णुते।
अव वेति सुक्षयं सुते मधूदिद्धूनोति वातो यथा वनम्॥ ४॥

(१) **स उ**-और वह **इन्द्रः**-जितेन्द्रिय पुरुष **चित् नु**=निश्चय से अब **वृष्टिः**-सब पर सुखों की वर्षा करनेवाला होता है। यह प्रभु-भक्त सर्वभूत हितरत हो जाता है और **स्वा**=अपने **यूथ्या**=यूथ में, समूह में होनेवाले ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, प्राण व अन्तःकरण के पञ्चकों को **सचान्**-उस प्रभु से मेल वाला करता है (षच समवाये)। (२) **इन्द्रः**-यह जितेन्द्रिय पुरुष **श्मश्रूणि**-शरीर में आश्रित 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि' को **हरिता**-सब मलों का हरण करनेवाले सोम

(वीर्य) कणों से **अभिप्रुष्णुते**-सींचता है। सोम के रक्षण से इसकी ऊर्ध्वगति होकर यह शरीर में व्याप्त होता है। शरीर को तो यह नीरोग बनाता है, मन को निर्मल तथा बुद्धि को यह तीव्र करता है। (३) इस प्रकार इस सोम के रक्षण व सोम के द्वारा 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि' के सेचन से यह **सुक्षयम्**=उत्तम शरीररूप गृह को **अव वेति**=आभिमुख्येन प्राप्त होता है। (४) **सुते**=सोम के उत्पन्न होने पर **मधु** यह सब भोजन के रूप में खायी हुई ओषधियों का सारभूत सोम **इत्**-निश्चय से **उत् धूनोति**=सब मलों को इस प्रकार कम्पित कर देता है **यथा**-जैसे **वातः**-वायु **वनम्**=वन को। वायु से पत्ते हिलते हैं और उनपर पड़ी हुई मट्टी कम्पित होकर दूर हो जाती है, इसी प्रकार सोम शरीर में व्याप्त होकर सब इन्द्रियों, मन व बुद्धि को निर्मल कर देता है।

भावार्थ—सोम शरीर में सुरक्षित होकर शरीर को निर्मल बनानेवाला होता है।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥
स्वरः—**धैवतः**॥

कर्मवीर न कि वाग्वीर

यो वाचा विवाचो मृध्रवाचः पुरू सहस्राशिवा जघान।
तत्तदिदस्य पौंस्यं गृणीमसि पितेव यस्तविषीं वावृधे शवः॥ ५॥

(१) **यः**-जो प्रभु **वाचा**=इस वेदवाणी के द्वारा **विवाचः**-विरुद्ध वाणी वाले अथवा बड़ा बोलनेवाले तथा **मृध्रवाचः**=हिंसायुक्त वाणी वाले, अर्थात् कटुभाषी **पुरू सहस्रा**=अनेक हजारों **अशिवा**=अकल्याणकर शत्रुओं को **जघान**=नष्ट करता है। वेदवाणी में उपदेश देकर प्रभु मनुष्य को 'बहुत बोलने से तथा कड़वा बोलने से' रोकते हैं। वस्तुतः इस प्रकार बहुत व कड़वा बोलनेवाले व्यक्ति संसार में कर्मवीर नहीं हुआ करते। (२) कर्मवीर बनने के लिये हम **अस्य**=इस वेदोपदेश देनेवाले प्रभु के **तत् तत्**=उस-उस **पौंस्यम्**=वीरतायुक्त कर्म का **इत्**=निश्चय से **गृणीमसि**=स्तवन करते हैं। प्रभु के इन वीरतायुक्त कर्मों का स्तवन हमें भी वीरतापूर्ण कर्मों में प्रवृत्त होने की प्रेरणा देता है। (३) जब हम इस प्रकार वीर बनकर के कर्म करने का संकल्प करते हैं तो वे प्रभु उस **पिता इव**=पिता की तरह होते हैं **यः**=जो कि **तविषीं**=(अपने पुत्रों के) बल को तथा बल के द्वारा **शवः**=क्रियाशीलता को **वावृधे**-बढ़ाते हैं। प्रभु कृपा से हमारी शक्ति में वृद्धि होती है और हम क्रियाशील बनते हैं।

भावार्थ—हम असंगत बहुत प्रलापों को तथा हिंसयुक्त वाणियों को छोड़कर वीरतापूर्ण कर्मों में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**आर्चीस्वराड्जगती**॥
स्वरः—**निषादः**॥

अद्भुत स्तवन

स्तोमं त इन्द्र विमदा अजीजनन्नपूर्व्यं पुरुतमं सुदानवे।
विद्मा ह्यस्य भोजनमिनस्य यदा पशुं न गोपाः करामहे॥ ६॥

(१) हे **इन्द्र**=शक्तियुक्त कर्मों के करनेवाले प्रभो! **विमदाः**=मदशून्य व्यक्ति **सुदानवे**=उत्तम दानी व (दाप् लवने) पापों का खण्ड का खण्डन करनेवाले व (दैप शोधने) हमारे जीवनों को शुद्ध करनेवाले **ते**=तेरे लिये **अपूर्व्यं**-अद्भुत, इस स्वकर्म में निरत होने के द्वारा होनेवाले (स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य) **पुरुतमम्**=अधिक से अधिक लोकों का पालन व पूरण करनेवाले **स्तोमम्**-स्तुति को

अजीजनन् उत्पन्न करते हैं। अर्थात् कर्मों द्वारा आपकी अर्च्चन करते हैं। (२) इन कर्मों द्वारा होनेवाले स्तवन को यहाँ 'अपूर्व्य' कहा है। इस स्तवन में किसी शब्द का उच्चारण नहीं होता। बिना ही शब्दों के उच्चारण के चलनेवाला यह स्तवन प्रभु को अत्यन्त प्रिय है। इस स्तवन को 'विमद' ही कर पाते हैं। 'उत्तम कर्मों को करना और उन्हें परमेश्वरार्पण करते जाना' यह विमद का कार्यक्रम है। ये विमद प्रभु के आदेश के अनुसार यज्ञात्मक कर्मों में लगे रहते हैं और प्रभु कृपा से इनका योगक्षेम ठीक प्रकार से चलता है। यहाँ मन्त्र में कहते हैं कि **अस्य इनस्य**=इस ब्रह्माण्ड के स्वामी के **भोजनम्**-भोजन को, प्रभु से दिये गये भोजन को **हि**-निश्चय से **विद्म**-जानते हैं। हमें यह तो निश्चय है कि हम कर्तव्यपालन करेंगे तो प्रभु भोजन अवश्य प्राप्त करायेंगे ही। यह होता तब है **यदा**-जब कि **पशुं न गोपाः**-पशु के लिये जैसे ग्वाला होता है, इसी प्रकार हम अपने लिये उस प्रभु को **करामहे**=करते हैं। हम भेड़े बनते हैं और प्रभु 'मेषपाल' हम बकरियाँ तो प्रभु 'अजपाल' हम गौवें तो प्रभु 'गोपाल'। प्रभु हमारे चरवाहे हैं, वे हमें चारा देते ही हैं।

भावार्थ—लोकहित के कार्यों में लगे हुए हम प्रभु के सच्चे स्तोता बनते हैं। प्रभु गोपाल हैं, तो हम उनकी गौवें।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥
स्वरः—**धैवतः** ॥

(इन्द्र व विमद की) अटूट मित्रता

माकि॑र्न ए॒ना स॒ख्या वि यौ॑षु॒स्तव॑ चेन्द्र विम॒दस्य॑ च॒ ऋषेः॑।
वि॒द्मा हि ते॒ प्रम॑तिं देव जामि॒वद॒स्मे ते॑ सन्तु स॒ख्या शि॒वानि॑॥ ७॥

(१) हे **इन्द्र** परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **तव**-आपकी **च**-और **ऋषेः विमदस्य**=तत्त्वज्ञानी विमद की **एना**-ये **सख्या**-मित्रताएँ **नः**-हमारे लिये **माकिः वियौषुः**-मत नष्ट हों। ये मित्रताएँ हमारे लिये कल्याणकर हों। हम प्रभु का स्तवन करनेवाले हों और निरभिमान तत्त्वज्ञानियों के सम्पर्क में रहनेवाले हों। (२) हे **देव**-प्रकाशमान प्रभो! हम **हि**-निश्चय से **ते**-आपकी **प्रमतिम्**-प्रकृष्ट कल्याणी मति को **विद्म** जानें। **जामिवत्** जैसे एक बहिन भाई की प्रमति को प्राप्त करती है अथवा जैसे एक बन्धु अपने बड़े बन्धु की सुमति को प्राप्त करता है। (३) **अस्मे**-हमारे लिये **ते**-आपकी **सख्या**-मित्रताएँ **शिवानि**-कल्याणकर **सन्तु**-हों। आपकी मित्रता में हमारे अकल्याण का सम्भव ही कहाँ? वस्तुतः प्रभु की मित्रता अभिमानशून्य पुरुषों के साथ ही होती है। ये निरभिमानी सदा प्रभु के चरणों में अपने कर्मों का प्रणिधान करते हैं। यह प्रणिधान उन्हें अहंकार से दूर करता है। निरहंकारता उन्हें प्रभु जैसा बना देती है।

भावार्थ—हम विमद बनें, कर्मों द्वारा प्रभु का अर्चन करें। हमारी मित्रताएँ अनश्वर हों।

सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से हुआ है कि हम क्रियाकुशल प्रभु का पूजन करते हैं। (१) हम इन्द्रियों को जीतकर प्रभु प्रवण बनायें, (२) प्रभु भक्त हितरमणीय क्रियाओं वाला होता है, (३) यह अपने शरीर में सोम को सुरक्षित करके इसे निर्मल बनाता है, (४) हम वाग्वीर न बनकर सदा कर्मवीर बनें, (५) प्रभु गोपाल हों तो हम उनकी गौवें, (६) प्रभु के साथ हमारी मित्रता कभी नष्ट न हो, (७) इस मित्र का मौलिक प्रेरण यही है कि सोम का पान करो।

[२४] चतुर्विंशं सूक्तम्

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः; प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**आस्तारपङ्क्तिः** ॥
स्वरः—**पञ्चमः** ॥

मधुमन्तं चमूसुतम्

इन्द्र सोममिमं पिब मधुमन्तं चमू सुतम्।
अस्मे रयिं नि धारय वि वो मदे सहस्रिणं पुरूवसो विवक्षसे॥ १ ॥

(१) प्रभु अपने मित्र जीव को प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि **इन्द्र**=हे जितेन्द्रिय पुरुष! **इमं सोमं पिब**=इस सोम को तू शरीर में ही पीने का प्रयत्न कर। आहार से रस रुधिरादि क्रम से उत्पन्न हुआ-हुआ यह **सोम**=वीर्य तेरे शरीर में ही व्याप्त हो जाए। **मधुमन्तम्**=यह अत्यन्त माधुर्य वाला है। शरीर में नीरोगता को, मन में निर्द्वेषता को तथा बुद्धि में तीव्रता को जन्म देकर यह हमारे जीवनों को अतिशयेन मधुर बना देता है। **चमूसुतम्**-(चम्वोः द्यावापृथिव्योः=मस्तिष्क व शरीर) यह सोम चमुओं, द्यावापृथिवियों, मस्तिष्क व शरीर के निमित्त ही पैदा किया गया है। शरीर को यह सब रोगों से बचाता है, और मस्तिष्क की तीव्रता को सिद्ध करता है। (२) प्रभु कहते हैं **वः**=तुम्हारे **विमदे**=विशिष्ट आनन्द के निमित्त **अस्मे**=हमारे **सहस्रिणम्**=हजारों की संख्या वाले अथवा प्रसन्नता को जन्म देनेवाले (स+हस्) **रयिम्**=धन को **निधारय**=निश्चय से धारण कर अथवा नम्रता से धारण कर। तुझे यह धन तो प्राप्त हो, परन्तु यह धन तुझे गर्वित न कर दे। (३) **पुरूवसो**=हे पालन व पूरण के लिये वसु=धन को प्राप्त करनेवाले जीव! तू **विवक्षसे**-विशिष्ट उन्नति के लिये हो (वक्ष To grow) धन को प्राप्त करके तू धन का विनियोग इस प्रकार से कर कि यह धन जहाँ तेरे शरीर का पालन करे, उसे रोगाक्रान्त न होने दे, वहाँ तेरे मन का यह पूरण करनेवाला हो, तेरे मन में किसी प्रकार की ईर्ष्या-द्वेष आदि की अवाञ्छनीय भावनाएँ न उत्पन्न हो जाएँ।

भावार्थ—हम वीर्य को शरीर में ही व्याप्त करें, यह हमारे जीवन को मधुर बनायेगा। हम धन को भी धारण करें, जो हमारे शरीर के पालन व पूरण का साधन बने।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः; प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराट्पङ्क्तिः** ॥
स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'श्रेष्ठ वार्य' धन

त्वां यज्ञेभिरुक्थैरुप हव्येभिरीमहे।
शचीपते शचीनां वि वो मदे श्रेष्ठं नो धेहि वार्यं विवक्षसे॥ २ ॥

(१) गत मन्त्र में दी गई प्रभु प्रेरणा को सुनकर जीव प्रभु से कहता है कि हे प्रभो! **त्वाम्**=आप को **यज्ञेभिः**-देव-पूजनों से अर्थात् 'मातृ देवो भव, पितृ देवो भव, आचार्य देवो भव, अतिथि देवो भव' इस उपनिषद् वाक्य के अनुसार माता, पिता, आचार्य व अतिथियों के आदर से ज्ञान प्राप्ति के द्वारा तथा **उक्थैः**=स्तुति-वचनों से स्तवन के द्वारा और **हव्येभिः**=(हु दानादनयोः) दानपूर्वक यज्ञशेष के सेवन के द्वारा **उप ईमहे**=समीप प्राप्त होकर आराधना करते हैं। प्रभु का आराधन देव-पूजन, स्तवन व हव्य के सेवन से होता है। ये तीन ही बातें ज्ञानकाण्ड, उपासनाकाण्ड व कर्मकाण्ड कहलाती हैं। (२) **शचीनां शचीपते**=प्रज्ञाओं (नि० ३।९) व शक्तियों के पति प्रभो! **वः**=आपकी प्राप्ति के **विमदे**=विशिष्ट आनन्द के निमित्त **नः**=हमारे लिये **श्रेष्ठं वार्यं**=उत्तम

वरणीय धन को **धेहि**-धारण कीजिये जिससे **विवक्षसे** हम विशिष्ट उन्नति को कर सकें। श्रेष्ठ वरणीय धन वही है जो हमारी उन्नतियों का कारण बनता है, हमें प्रज्ञा व शक्ति सम्पन्न बनाकर प्रभु के समीप ले चलनेवाला होता है।

भावार्थ—हम 'यज्ञों, उक्थों व हव्यों' से प्रभु का आराधन करें। शक्ति व प्रज्ञा को प्राप्त करें तथा उस श्रेष्ठ वरणीय धन को प्राप्त करें जो कि हमारी उन्नति व हर्ष का कारण बने।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः; प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**शङ्कुमती पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

द्वेष व पाप से परे

यस्पतिर्वार्याणामसि रध्रस्य चोदिता ।
इन्द्र स्तोतॄणामविता वि वो मदे द्विषो नः पाह्यंहसो विवक्षसे ॥ ३ ॥

(१) हे प्रभो! **यः**-जो आप **वार्याणाम्**=सब वरणीय वस्तुओं के **पतिः असि** स्वामी हैं, **रध्रस्य**-आराधक व स्तोता को **चोदिता**-उत्तम कर्मों की प्रेरणा देनेवाले हैं, हे **इन्द्र** परमैश्वर्यशाली प्रभो! आप ही **स्तोतॄणाम्** अपने स्तोताओं के **अविता** अपने दिव्यांश के पूरण के द्वारा (promote) उन्नत करनेवाले हैं। प्रभु अपने स्तोताओं को (क) वरणीय धन प्राप्त कराते हैं, (ख) उन धनों के उचित विनियोग की प्रेरणा देते हैं, (ग) और इस प्रकार उन्हें उन्नत करते हैं। (२) हे प्रभो! **वः**-आप के **विमदे** प्राप्ति के आनन्द के निमित्त **नः**-हमें **द्विषः** द्वेषों से तथा **अंहसः**-पापों से **पाहि**-बचाइये। द्वेष व पाप से ऊपर उठकर ही तो हम आप को प्राप्त कर सकते हैं। **विवक्षसे** आप ऐसी कृपा कीजिये कि हम विशिष्ट उन्नति वाले हो सकें। आपकी प्रेरणा को सुनकर निर्द्वेषता व निष्पापता के मार्ग पर चलेंगे तो हम सब प्रकार से उन्नति क्यों न करेंगे?

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमें वरणीय धन प्राप्त हो। हम प्रभु की आराधना करें जिससे हमें प्रभु प्रेरणा प्राप्त हो। हम द्वेष व पाप से ऊपर उठकर प्रभु रक्षण के अधिकारी बनें। यह उन्नति का मार्ग ही हमारा मार्ग हो।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः; प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥ स्वरः—**गान्धारः** ॥

शक्ति, प्रज्ञा, सम्यक् कर्म व प्रभु-दर्शन

युवं शक्रा मायाविना समीची निरमन्थतम्। विमदेन यदीळिता नासत्या निरमन्थतम् ॥ ४ ॥

(१) प्राणापान 'अश्विनौ' कहलाते हैं क्योंकि 'न श्वः' ये आज हैं तो कल नहीं है, अस्थिरता के कारण इन्हें 'अश्विनौ' कहा गया है। अथवा 'अशू व्याप्तौ' ये कर्मों में व्याप्त होनेवाले हैं। कर्मों में व्याप्ति के कारण ये 'अश्विनौ' हैं। प्राणापान, शक्ति-सम्पन्न पुरुष ही आलस्य को परे फेंककर कार्यों में व्यावृत होता है। हे अश्विनौ! **युवम्**-आप दोनों **शक्रा**=शक्ति-सम्पन्न हो। शरीर में सारी शक्ति के कोश ये प्राणापान ही हैं। **मायाविना**=आप प्रज्ञा सम्पन्न हो। प्राणसाधना से ही बुद्धि की सूक्ष्मता सिद्ध होती है। **समीची**-(सम्+अञ्च्) सम्यक् गति वाले आप हो। प्राणसाधना से सब मलों के दूर होने से कर्मों में भी पवित्रता आ जाती है। एवं प्राणसाधना के तीन लाभ यहाँ संकेतित हैं—(क) शक्ति की वृद्धि, (ख) प्रज्ञा प्रसाद, (ग) कर्मों का सम्यक्त्व। (२) ऐसे प्राणापानो! आप **निरमन्थतम्**-जैसे दो अरणियों के मन्थन से अग्नि प्रकट होती है, इसी प्रकार आप उस प्रभुरूप अग्नि का हमारे हृदयों में प्रकाश करो। (३) **विमदेन**-'शक्ति प्रज्ञा व उत्तम कर्मों' को सिद्ध करके भी मद (गर्व) शून्य स्थिति वाले ऋषि से **यद्**-जब **ईडिता**=आप उपासित होते

हो तो हे **ना सत्या**=(नासा+त्य) नासिका में निवास करनेवाले (न+असत्या) सब असत्यों को नष्ट करके सत्य को दीप्त करनेवाले प्राणापानो! आप **निरमन्थतम्**=मेरे में प्रभु रूप अग्नि को अवश्य उद्बुद्ध करो। एवं प्राणसाधना का चौथा लाभ यह है कि असत्य को समाप्त करके ये सत्य प्रभु का दर्शन करानेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम प्राणसाधना के द्वारा अपने में 'शक्ति-प्रज्ञा कर्मपवित्रता' का सम्पादन करके प्रभु-दर्शन करनेवाले हों।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः; प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥
स्वरः—**गान्धारः** ॥

देवों का शक्ति-सम्पन्न होना

विश्वे॑ दे॒वा अ॑कृपन्त समी॒च्योर्नि॒ष्पत॑न्त्योः। नास॑त्यावब्रुवन्दे॒वाः पु॒नरा व॑हता॒दिति॑ ॥ ५ ॥

(१) जब 'अश्विनौ' अर्थात् प्राणापान अन्दर आते हैं और बाहर जाते हैं तो **समीच्योः**=(सम्+अञ्च्) इन प्राणापानों के शरीर से संगत होने पर तथा **निष्पतनयोः**=बाहर जाने पर अर्थात् इन प्राणापान के विधारण व प्रच्छर्दन से **विश्वेदेवाः**=चक्षु आदि इन्द्रियों के रूप में स्थित सब देव **अकृपन्त**=(कृपू सामर्थ्ये) शक्तिशाली बनते हैं। प्राणसाधना से सब इन्द्रियों की शक्ति बढ़ती है। इसी में 'सु-ख' है। सब इन्द्रियों के स्वस्थ होने से जीवन का कार्यक्रम सुन्दरता से चलता है। (२) अब **देवाः**=ये देव **नासत्यौ**=इन प्राणापानों से **अब्रुवन्**=कहते हैं कि आप **पुनः**=फिर **आवहतात् इति**=हमें सब प्रकार से हमारे घर में प्राप्त करानेवाले होइये। अर्थात् आप की कृपा से हम फिर अपने मूल गृह 'ब्रह्मलोक' में पहुँच सकें। यह जीवन सुन्दरता से बीतेगा, तभी तो हम मोक्ष के भी अधिकारी समझे जाएँगे।

भावार्थ—प्राणापान के शरीर में आने-जाने की क्रिया से सब इन्द्रियाँ शक्तिशाली बनती हैं। और ये प्राणापान ही अन्ततः हमें मोक्ष प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः; प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥
स्वरः—**गान्धारः** ॥

मोक्ष-प्रवण पुरु का जीवन

मधु॑मन्मे प॒राय॑णं॒ मधु॑म॒त्पुन॒राय॑नम्। ता नो॑ देवा दे॒वत॑या यु॒वं मधु॑मतस्कृतम् ॥ ६ ॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार जो पुरुष प्राणसाधना से सब इन्द्रियों को सशक्त बनाकर मोक्ष मार्ग की ओर चलता है उस पुरुष के जीवन में माधुर्य होता है। इसकी कामना यह होती है कि **मे**=मेरा **परायणं**=बाहर जाना **मधुमत्**-माधुर्य को लिये हुए हो। **मे**=मेरा **पुनः**=फिर **आयनम्**=आना-लौटना **मधुमत्**=मिठास वाला हो। मेरा आना-जाना, इसी प्रकार उठना बैठना, बोलना-चालना सभी कुछ मधुर ही हो। मेरी सब क्रियाएँ मिठास को लिये हुए हों। (२) हे **देवा**=दिव्यगुणों वाले प्राणापानो! **ता युवम्**=वे आप दोनों **नः**=हमें **देवतया**=उस देवता के हेतु से, अर्थात् प्रभु प्राप्ति के उद्देश्य से **मधुमतः**=माधुर्य वाला **कृतम्**=कर दीजिये। प्रभु को वही प्राप्त करता है जो कि अपने में माधुर्य को भरता है। यह माधुर्य प्राणसाधना से ही प्राप्त होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से जीवन मधुर बनता है। मधुर जीवन ही हमें प्रभु को प्राप्त कराता है।

सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से हुआ है कि हम सोम का रक्षण करें, यह हमारे जीवन को मधुर बनायेगा। (१) हम यज्ञों, उक्थों व हव्यों से प्रभु का आराधन करें, प्रभु हमें वार्य धन प्राप्त

करायेंगे, (२) हम द्वेष व पाप से ऊपर उठकर प्रभुरक्षण के पात्र बनें, (३) प्राणसाधना से हमें 'शक्ति, प्रज्ञा व कर्म पवित्रता' प्राप्त होगी, (४) प्राणापान की गति से ही इन्द्रियाँ सशक्त बनती हैं, (५) इस प्राणसाधना से ही जीवन मधुर बनता है, (६) अब प्रभु कृपा से हमारा मन भद्र मार्ग का ही आक्रमण करता है।

[२५] पञ्चविंशं सूक्तम्

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता **सोमः** ॥ छन्दः—**आस्तारपङ्क्तिः** ॥ स्वर—**पञ्चमः** ॥

भद्र-दक्ष-क्रतु

भद्रं नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम् ।
अधा ते सख्ये अन्धसो वि वो मदे रणन्गावो न यवसे विवक्षसे ॥ १ ॥

(१) हे प्रभो! **नः**-हमारे **मनः**-मन को **भद्रम्**-कल्याण की **अपि**-ओर **वातय**-प्रेरित कीजिये। हमारा मन सदा शुभ कर्मों में ही प्रवृत्त हो। दुरितों से दूर, भद्र के समीप हम सदा रहें। (२) **दक्षम्**-हमारे मन को **दक्ष**-उन्नति की ओर आप प्रेरित करिये। हमारा यह मन कभी अवनति की ओर न जाये। अथवा कार्यों को हम दक्षता से करनेवाले हों, हमारे कार्यों में अनाड़ीपन न टपके। कर्मों को कुशलता से करना ही तो योग है। हम इस योग को सिद्ध कर सकें। (३) **उत**-और **क्रतुम्**=हमारे मनों को आप यज्ञ की ओर प्रेरित करिये। 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'=यज्ञ ही श्रेष्ठतम कर्म है। हमारा मन सदा इन उत्तम यज्ञात्मक कर्मों में प्रवृत्त रहे। एवं 'भद्र, दक्ष व क्रतु' ये हमारे ध्येय बन जायें। (४) **अधा**=अब मन की इस साधना के बाद **ते सख्ये**=आपकी मित्रता में तथा **अन्धसः**-आध्यानीय सोम (=वीर्य) के) **वि-मदे**-विशिष्ट मद (-हर्ष) में **वः रणन्**-हमारी इन्द्रियाँ आपके ही नामों का उच्चारण करें। इन इन्द्रियों का आपके स्तवन की ओर इस प्रकार रुझान हो कि **न गावः यवसे**-जिस प्रकार गौवें चारे की ओर झुकाव वाली होती हैं। गौवों का अपने हरे भरे चारे की ओर झुकाव स्वाभाविक है, इसी प्रकार हमारी इन्द्रियाँ स्वभावतः आप की ओर झुकें। (५) यह सब हम इसलिये चाहते हैं कि **विवक्षसे**-विशिष्ट उन्नति की साधना कर सकें। उन्नति का मार्ग यही है कि हम प्रकृति-प्रवण न होकर आप की ओर झुकाव वाले हों। यह आपके नामों का उच्चारण हमारे सामने हमारे जीवन के लक्ष्य को स्थापित करेगा और हम निरन्तर उन्नतिपथ पर आगे बढ़नेवाले होंगे।

भावार्थ—हमारा मन 'भद्रता, दक्षता व क्रतु' की ओर प्रेरित हो। हम प्रभु के मित्र हों, सोम का रक्षण करें और हमारी इन्द्रियाँ प्रभु नामों का उच्चारण करें जिससे हम उन्नत ही उन्नत होते चलें।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**आस्तारपङ्क्तिः** ॥ स्वर—**पञ्चमः** ॥

पर-वैराग्य

हृदिस्पृशस्त आसते विश्वेषु सोम धामसु ।
अधा कामा इमे मम वि वो मदे वि तिष्ठन्ते वसूयवो विवक्षसे ॥ २ ॥

(१) हे **सोम**-शान्त प्रभो! गत मन्त्र के अनुसार आपके मित्र बननेवाले तथा सोम का रक्षण करनेवाले लोग **ते**-आपके **हृदिस्पृशः**-हृदय को स्पर्श करनेवाले होते हैं, अर्थात् आपको अत्यन्त

प्रिय होते हैं। ते-वे आपके **विश्वेषु धामसु**-सब तेजों में **आसते**-स्थित होते हैं। आपके तेज के अंश से तेजस्वी बनते हैं, आपकी दिव्यता का उनमें अवतरण होता है। (२) इस दिव्यता के अवतरण के होने पर **अधा**-अब **वः**=आपकी प्राप्ति के **विमदे**-विशिष्ट आनन्द में **मम**-मेरे **इमे**=ये **वसूयवः**-धन प्राप्ति के साथ सम्बद्ध **कामाः**=काम **वितिष्ठन्ते**=रुक जाते हैं। 'तत्परं पुरुख्यातेर्गुण वैतृष्ण्यम्' इस योगसूत्र के अनुसार प्रभु का आभास होने पर संसार की तृष्णा ही नहीं रह जाती और यही 'पर-वैराग्य' है। प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'विमद' भी प्रभु की तेजस्विता का अनुभव करने पर इन सांसारिक कामनाओं से ऊपर उठ जाता है। (३) इनसे ऊपर उठकर ही वह **विवक्षसे**-विशिष्ट उन्नति के लिए समर्थ होता है। कामासक्ति उत्थान की प्रतिबन्धिका होती है, निष्कामता ही सब उत्थानों का मूल है।

भावार्थ—सोम का रक्षण करनेवाला ही सच्चा प्रभु का प्रिय बनता है, प्रभु के तेज से तेजस्वी होता है और इसको सांसारिक वासनाएँ नहीं तृप्त करती।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**आर्षीनिचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वर—**पञ्चमः** ॥

परमात्म-प्रेप्सा (प्राप्ति की कामना)

उत व्रतानि सोम ते प्राहं मिनामि पाक्या ।
अधा पितेव सूनवे वि वो मदे मृळा नो अभि चिद्वधाद्विवक्षसे ॥ ३ ॥

(१) हे **सोम**=शान्त प्रभो! **अहम्**-मैं गत मन्त्र के अनुसार धन-सम्बन्धी कामनाओं से तो ऊपर उठता ही हूँ, **उत**=और **ते व्रतानि**=आपके व्रतों को, आपकी प्राप्ति के साधनभूत व्रतों को **पाक्या**=परिपक्व बुद्धि से **प्रमिनामि**=(प्रकर्षेण करोमीत्यर्थः सा०)=खूब ही सम्पादित करता हूँ मैं आपका ज्ञान भक्त बनता हूँ। बुद्धि की परिपक्वता से सृष्टि के एक-एक पदार्थ में आपकी महिमा को देखता हूँ, और प्रत्येक पदार्थ को आपका स्तवन करता हुआ अनुभव करता हूँ। (२) **अधा**=अब तो **इव पिता सुनवे**-जैसे पिता पुत्र के लिये उसी प्रकार **वः**=आपकी प्राप्ति के **विमदे**=विशिष्ट आनन्द में, **नः**=हमें **अभि चित्**-दोनों ओर ही, अर्थात् अन्दर और बाहर **वधात्**=वध से, अर्थात् आन्तर व बाह्य शत्रुओं के विनाश से **मृडा**=सुखी कीजिए। आपकी शक्ति से ही शत्रुओं का नाश होता है, विशेषतः इन कामादि अन्तःशत्रुओं का नाश मेरी ही शक्ति से नहीं होनेवाला। इन्हें तो आप ही मेरे लिये विजय करेंगे। जिससे **विवक्षसे**-मैं विशिष्ट उन्नति के लिये समर्थ हो सकूँ।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति के लिए साधनभूत व्रतों का आचरण करता हुआ मैं प्रभु को प्राप्त करूँ, प्रभु मेरे शत्रुओं का संहार कर मेरी उन्नति के साधक बनें।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**आर्षीनिचृत्पङ्क्तिः** ॥ स्वर—**पञ्चमः** ॥

परमात्म प्राप्ति व क्रतु-धारण

समु प्र यन्ति धीतयः सर्गासोऽवताँइव ।
क्रतुं नः सोम जीवसे वि वो मदे धारया चमसाँइव विवक्षसे ॥ ४ ॥

(१) हे **सोम**=शान्त प्रभो! अब तो मेरी **धीतयः**=ध्यान वृत्तियाँ व स्तुतियाँ **उ**=निश्चय से **सं प्रयन्ति**=आपकी ओर ही आती हैं, उस प्रकार स्वभाविक रूप से तथा प्रबलता से आती हैं

इव-जिस प्रकार **सर्गासः**-खूटों से खोली गई गौवें (विसृज्यन्ते उदक पानार्थम् सा०) **अवतान्**-कूओं की ओर आती हैं। प्यास की प्रबलता के कारण उन्हें कूएँ की ओर जाने के सिवाय कुछ रुचता ही नहीं इसी प्रकार मेरी ध्यानवृत्तियाँ भी अब आपकी ओर ही लगी हैं, वे इधर उधर नहीं जाती। (२) **वः**-आपकी प्राप्ति के **विमदे**-विशिष्ट आनन्द के निमित्त तथा **जीवसे**-उत्कृष्ट जीवन के लिए **नः**-हमारे में **क्रतुं धारया**-क्रतु का धारण कीजिए हमारे मस्तिष्क में प्रज्ञा का स्थापन हो (क्रतु प्रज्ञा), हृदय में संकल्प हो (क्रतु-संकल्प) तथा हमारे हाथ यज्ञादि उत्तम कर्मों में व्यापृत हों (क्रतु-यज्ञ)। हमारे में क्रतु का धारण इस प्रकार कीजिए **इव**-जिस प्रकार कि अन्तरिक्ष में **चमसान्**-(चमस-मेघ नि० १।१०) आप मेघों की स्थापना करते हैं। बाह्य अन्तरिक्ष में जो मेघ का स्थान है, मेरे हृदयान्तरिक्ष में वही क्रतु का स्थान हो। मेघ अन्न को उत्पन्न करता है, सन्ताप को दूर करता है। इसी प्रकार मेरा संकल्प भी यज्ञादि को उत्पन्न करे तथा लोक-सन्ताप को हरनेवाला हो। (३) यह सब आप **विवक्षसे**-मेरी विशिष्ट उन्नति के लिये करिये ही। उन्नति का यही मार्ग है। 'क्रतु' ही उन्नति का साधक है, सो आप इसे मेरे में स्थापित करिये। क्रतु शून्य हृदय तो वेग से शून्य घोड़े व दूध से रहित गौ के समान ही तो है।

भावार्थ—मेरी ध्यान-वृत्तियाँ प्रभु-प्रवण हों। प्रभु कृपा से मेरा हृदय क्रतु सम्पन्न हो।

ऋषिः- **विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः**॥ देवता- **सोमः**॥ छन्दः- **आर्षीनिचृत्पङ्क्तिः**॥ स्वर- **पञ्चमः**॥

बाड़ा, गौवें तथा घोड़े

तव त्ये सोम शक्तिभिर्निकामासो व्यृण्विरे।
गृत्सस्य धीरास्तवसो वि वो मदे व्रजं गोमन्तमश्विनं विवक्षसे॥ ५॥

(१) हे **सोम**-शान्त परमात्मन्! **त्ये**-वे **निकामासः**-सांसारिक कामनाओं से ऊपर उठे हुए **धीराः**=धीर ज्ञानी पुरुष **गृत्सस्य**=मेधावी सम्पूर्ण बुद्धि के स्रोत- **तवसः**-शक्ति के दृष्टिकोण से महान्-प्रवृद्ध **तव**-आपकी **शक्तिभिः**-शक्तियों से **वः**-आपकी प्राप्ति के **विमदे**-विशिष्ट आनन्द में **गोमन्तम्**-उत्तम ज्ञानेन्द्रियोंवाले तथा **अश्विनम्**-उत्तम कर्मेन्द्रियों वाले **व्रजम्**-शरीररूपी बाड़े को **वि-ऋण्विरे**=विशिष्टरूप से प्राप्त होते हैं और इस प्रकार **विवक्षसे**=विशिष्ट उन्नति के लिये होते हैं। (२) प्रभु को प्राप्त वे ही होते हैं जो निकामासः-कामनाशून्य होते हैं। सांसारिक वस्तुओं की कामना से ऊपर उठकर ही प्रभु की प्राप्ति होती है। प्रभु मेधावी (गृत्स) व महान् (तवस्) हैं। प्रभु को प्राप्त करनेवाला भी मेधावी व महान् बनता है। यह धीर पुरुष प्रभु प्राप्ति के विशिष्ट आनन्द को अनुभव करता है। (३) प्रभु को प्राप्त करनेवाला, प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर इस शरीररूप बाड़े में उत्तम ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय रूप गौवों व घोड़ोंवाला होता है। इसका शरीर व्रज है, ज्ञानेन्द्रियाँ गौवें हैं और कर्मेन्द्रियाँ घोड़े हैं। (४) इस प्रकार अपने शरीररूप बाड़े को उत्तम बनाकर, इस उत्तम इन्द्रियरूप गौवों व घोड़ों से यह निरन्तर उन्नतिपथ पर आगे बढ़ता है। यह सब प्रभु कृपा से होता है, प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर ही ऐसा होने का सम्भव होता है।

भावार्थ—हम काम से ऊपर उठकर प्रभु को प्राप्त करें। प्रभु कृपा से हमारा शरीर एक उत्तम बाड़े की तरह हो। इसमें ज्ञानेन्द्रियाँ उत्तम गौवें हों तथा कर्मेन्द्रियाँ उत्तम घोड़े हों।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**अस्तारपङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

'पशु' रक्षण व उत्तम जीवन

पशुं नः सोम रक्षसि पुरुत्रा विष्ठितं जगत् ।
समाकृणोषि जीवसे वि वो मदे विश्वा संपश्यन्भुवना विवक्षसे ॥ ६ ॥

(१) हे **सोम**=शान्त परमात्मन्! आप **नः**=हमारे **पशुम्**=काम-क्रोधरूप पाशविक भाव को **रक्षसि**=उसी प्रकार कैद में, संयम में रखते हैं जैसे कि शेर को पिञ्जरे में रखा जाता है। (२) इस प्रकार 'कामः पशु, क्रोधः पशुः' काम-क्रोधरूप इन पशुओं को पूर्णरूप से वश में रखते हुए आप **पुरुत्रा**-नाना प्रकार की कामनाओं में **विष्ठितम्**=विशेषरूप से स्थित, अर्थात् इस काम-मय जगत् में विविध कामनाओं में विचरनेवाले **जगत्**=इन लोगों को **जीवसे**=उत्तम जीवन के लिये **समाकृणोषि**=करते हैं। कामशून्य जीवन तो कोई जीवन ही नहीं, वह तो अचेतनावस्था है। पर काममय जीवन भी कोई सुन्दर जीवन नहीं, वह जीवन पतनोन्मुख होता है। 'कामातता न प्रशस्ता न चैषेहासयकामता'=मनु कहते हैं कि काममयता तो ठीक है ही नहीं, पर अकामता भी तो प्रशस्त नहीं। प्रभु हमारे काम-क्रोध को संयत करके हमारे जीवन को सुन्दर बना देते हैं। (३) हे प्रभो! इस प्रकार आप ही **विश्वा भुवना संपश्यन्**-सम्पूर्ण लोकों का ध्यान कर रहे हैं (Look after)। **वः**=आपकी प्राप्ति के **विमदे**=विशिष्ट आनन्द में ही लोग **विवक्षते**=विशिष्ट उन्नति के लिये होते हैं। वास्तविक उन्नति तभी प्रारम्भ होती है जब कि जीव प्रभु प्राप्ति के लिए प्रभु की उपासना में आनन्द लेने लगता है।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमारे काम-क्रोध संयत हों और इस प्रकार हमारा जीवन उत्तम बने। प्रभु ही हमारा पालन करनेवाले हैं, हम उनकी उपासना में चलते हुए निरन्तर उन्नत हों।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**आर्षीविराट्पङ्क्तिः** ॥ स्वरः—**पञ्चमः** ॥

अहिंसित ग्वाला

त्वं नः सोम विश्वतो गोपा अदाभ्यो भव ।
सेध राजन्नप स्त्रिधो वि वो मदे मा नो दुःशंस ईशता विवक्षसे ॥ ७ ॥

(१) हे **सोम**-शान्त परमात्मन्! **त्वम्**-आप **नः** हमारे लिये **विश्वतः**=सब ओर से **अदाभ्यः**=न हिंसित होनेवाले **गोपाः**=रक्षक **भव**=होइये। जैसे एक ग्वाला गौवों का रक्षण अप्रमत्तता से करता है, उसी प्रकार प्रभु हमारा रक्षण करनेवाले हों। सांसारिक ग्वाले को कोई शत्रु मार भी सकता है और तब गौवों को हानि पहुँचा सकता है। पर प्रभु हमारे अहिंसित ग्वाले हैं। अहिंसित होते हुए वे प्रभु सब ओर से होनेवाले 'काम-क्रोध' आदि शत्रुओं के आक्रमणों से हमारी रक्षा करते हैं। (२) हे **राजन्**-हमारे जीवनों को व्यवस्थित करनेवाले प्रभो! **स्त्रिधः**=इन शत्रुओं को **अपसेध**=हमारे से दूर भगाइये। इनका हमारे पर आक्रमण न हो सके। **नः**=हमें **दुःशंसः**=बुराइयों को शंसन करनेवाला, बुरी बातों को अच्छे रूप में चित्रित करनेवाली शक्ति-**मा ईशत**=मत दबा ले। हम उसकी बातों में आकर मृगया आदि व्यसनों में न फँस जाएँ। (क) मृगया तो बड़ा सुन्दर व्यायाम है, (ख) इसमें चल लक्ष्य के वेधन में कितनी एकाग्रता का अभ्यास होता है, (ग) खेती की रक्षा के लिए मृग आदि पशुओं की वृद्धि को रोकना आवश्यक भी तो है और (घ) इस प्रकार तो उन्हें एक ही योनि से शीघ्र मुक्ति ही मिल रही होती है। इस प्रकार की सुन्दर लगनेवाली

हम उसकी युक्तियों में फँस न जाएँ। हम तो **वः**-आपकी प्राप्ति के **विमदे**-विशिष्ट आनन्द में **विवक्षसे**=विशिष्ट उन्नति के लिए हों। यह होगा तभी जब कि हम प्रभु द्वारा रक्षित होंगे, प्रभु का रक्षण ही हमें कामादि के आक्रमण से बचा सकेगा।

भावार्थ—हम गौवें हों, प्रभु हमारे ग्वाले। तभी यह सम्भव होगा कि हम काम-क्रोधादि हिंस्र पशुओं के आक्रमण से बचे रहें।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः**॥ देवता—**सोमः**॥ छन्दः—**आर्षीविराट्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

द्रोह व पाप से परे

त्वं नः॑ सोम सु॒क्रतु॒र्वयो॒धेया॑य जागृहि ।
क्षे॒त्र॒वित्त॑रो॒ मनु॑षो॒ वि वो॒ मदे॑ द्रु॒हो नः॑ पा॒ह्यंह॑सो॒ विव॑क्षसे॥ ८॥

(१) हे **सोम**-शान्त परमात्मन्! **सुक्रतुः**=आप उत्तम संकल्पों, कर्मों व प्रज्ञानोंवाले हैं। **क्षेत्रवित्तरः**=हम सब के शरीररूप क्षेत्रों के उत्कृष्टता के साथ जाननेवाले हैं। सब क्षेत्रों में आप ही तो वस्तुतः क्षेत्रज्ञ हैं आप **वयोधेयाय**=हमारे में उत्कृष्ट जीवन के स्थापन के लिये सदा **जागृहि**=जागरित रहिये। आप ही हमारे अप्रमत्त रक्षक होंगे तभी तो हमारा जीवन शत्रुओं से आक्रान्त न होगा। (२) हे प्रभो! आप **मनुषः**-मनुष्य में स्वभावतः उत्पन्न हो जानेवाले **द्रुहः**-द्रोह के भाव से तथा **अंहसः**-पाप से **नः**-हमें **पाहि**-बचाइये। ज्ञान की अल्पता के कारण आ जानेवाली इन मलिनताओं से आप ही हमें बचायेंगे। (३) इस द्रोह व पाप से हमारा रक्षण आप अवश्य करें ही, जिससे **वः** आपकी प्राप्ति के **विमदे**-विशिष्ट आनन्द में **विवक्षसे**-हम विशिष्ट उन्नति के लिये हों। द्रोह व पाप की भावनावाला कोई भी व्यक्ति प्रभु-भक्त नहीं हो सकता और प्रभु-भक्त में द्रोह व पाप नहीं रह सकते। यह एकत्व को देखता है, सो द्रोह से ऊपर उठ जाता है, सदा 'सर्वभूतहिते-रतः' होता है।

भावार्थ—प्रभु हमारे रक्षक हों, जिससे हम द्रोह व पाप से ऊपर उठे रहें। द्रोह व पाप हमें प्रभु से दूर रखते हैं।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः**॥ देवता—**सोमः**॥ छन्दः—**आर्षीविराट्पङ्क्तिः**॥ स्वरः—**पञ्चमः**॥

वह 'शिव-सखा'

त्वं नो॑ वृत्रहन्त॒मेन्द्र॑स्येन्दो शि॒वः सखा॑ ।
यत्सीं॒ हव॑न्ते समि॒थे वि वो॒ मदे॒ युध्य॑मानास्तो॒कसा॑तौ॒ विव॑क्षसे॥ ९॥

(१) हे **वृत्रहन्तम**=हमारे ज्ञान पर आवरणरूप इस काम को सर्वाधिक नष्ट करनेवाले **इन्दो**=शक्तिशालिन् व ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**-आप **नः**=हमारे **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **शिवः सखा**-कल्याणकर व 'शो तनूकरणे'-प्रज्ञान को क्षीण करनेवाले मित्र हैं। हमारे में से जो भी इन्द्रियों को जीतने का अभ्यास करता है, हे प्रभो! आप उसके मित्र होते हैं, आप इसके लिए वृत्र का विनाश करनेवाले होते हैं। इस वृत्र का विनाश करके ही तो आप उसके अज्ञान को क्षीण करते हैं। अज्ञान को दूर करनेवाले 'शिव सखा' आप ही हैं। संसार में भी वही सच्चा मित्र है जो सद्बुद्धि दे, नेक सलाह दे। हाँ में हाँ मिलानेवाले तो सच्चे मित्र नहीं होते। (२) 'आप ही शिव सखा हैं' यही कारण है कि **यत्**=जो **तोकसातौ**=(तु=वृद्धि, पूर्ति, हिंसा) शत्रुओं की हिंसा

के द्वारा वृद्धि व पूर्ति की प्राप्ति के निमित्त **समिथे**=संग्राम में, काम-क्रोधादि शत्रुओं के साथ चलनेवाले अध्यात्म संग्राम में **युध्यमानाः**=कामादि शत्रुओं से युद्ध करते हुए पुरुष **सीम्**-सर्वतः **हवन्ते**=आपको ही पुकारते हैं। वस्तुतः आपने ही तो विजय करनी है, व्यक्तियों के लिए इस विजय का सम्भव नहीं। (३) आप इस विजय को करवाइये ही, जिससे **वः**=आपकी प्राप्ति के **विमदे**=विशिष्ट आनन्द में **विवक्षसे**=हम विशिष्ट उन्नति के लिये हों। बिना विजय के उन्नति नहीं और बिना आपकी कृपा के विजय नहीं।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे शिव सखा हैं, ये ही हमें युद्ध में विजय प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**अस्तारपङ्क्तिः** ॥ स्वर—**पञ्चमः** ॥

कक्षीवान् की बुद्धि का वर्धन

अयं घ स तुरो मद इन्द्रस्य वर्धत प्रियः ।
अयं कक्षीवतो महो वि वो मदे मतिं विप्रस्य वर्धयद्विवक्षसे ॥ १० ॥

(१) **अयं सः**=यह वह सोम ही **घ**=निश्चय से **तुरः**=(तुर्वी हिंसायाम्) सब शत्रुओं का संहार करनेवाला है **मदः**=स्वयं आनन्दस्वरूप होता हुआ, शत्रुओं के संहार के द्वारा हमारे आनन्द को बढ़ानेवाला है। यह प्रभु ही **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष की **प्रियः**=प्रीति को पैदा करनेवाला है। जितेन्द्रिय पुरुष प्रकृति-प्रवण न होकर सदा प्रभु-प्रवण होता है, उसे प्रभु-भजन में आनन्द का अनुभव होता है। यह प्रभु सदा **वर्धत**=अपने स्वरूप में बढ़े हुए हैं 'वर्धमानं स्वेदमे'। प्रभु में कभी कोई कमी न थी, वे सदा से प्रवृद्ध हैं। (२) **अयम्**=ये प्रभु **कक्षीवतः**=दृढ़ कक्ष्या (=कटिबन्ध) वाले, दृढ़ निश्चयी, लक्ष्य पर पहुँचने के लिए कटिबद्ध, **महः**=(मह पूजायाम्) पूजा की वृत्तिवाले और इस पूजा के द्वारा **विप्रस्य**=(वि-प्रा-पूरणे) विशिष्टरूप से अपना पूरण करनेवाले पुरुष की **मतिम्**=बुद्धि को **वर्धयत्**=बढ़ाते हैं। वस्तुतः इस प्रकार बुद्धि को बढ़ा करके ही वे इसकी वृद्धि को कारण बनते हैं। (३) हे प्रभो! आप जब बुद्धि को बढ़ाते हैं तभी **वः**=आपकी प्राप्ति के **विमदे**=विशिष्ट आनन्द में यह 'विमद' **विवक्षसे**=विशिष्ट उन्नति के लिए होता है। बुद्धि-वर्धन के बिना किसी भी प्रकार की उन्नति का सम्भव नहीं होता।

भावार्थ—हे प्रभो! आप हमारी वासना को विनष्ट करके, बुद्धि को शुद्ध व वृद्ध कीजिए जिससे हम उन्नतिपथ पर आगे बढ़ सकें। हम भी 'कक्षीवान्, महस् व विप्र' बनकर बुद्धि-वर्धन के पात्र बनें।

ऋषिः—**विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**अस्तारपङ्क्तिः** ॥ स्वर—**पञ्चमः** ॥

अन्धत्व व पंगुत्व का तिरसन

अयं विप्राय दाशुषे वाजाँ इयर्ति गोमतः ।
अयं सप्तभ्य आ वरं वि वो मदे प्रान्धं श्रोणं च तारिषद्विवक्षसे ॥ ११ ॥

(१) **अयम्**=यह सोम प्रभु ही **दाशुषे**-देने की वृत्तिवाले अथवा प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले **विप्राय**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले पुरुष के लिए **गोमतः**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले **वाजान्**=बलों को **इयर्ति**-प्राप्त कराते हैं। हम प्रभु के प्रति अपने को सौंपते हैं तो प्रभु हमें वह शक्ति प्राप्त कराते हैं जो हमारी इन्द्रियों को उत्तम बनाती है। इसी शक्ति को 'यशस्वी बल' कहा

गया है। (२) इस प्रकार **अयम्** यह प्रभु **सप्तभ्यः**-'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' दो कान, दो नासिका, दो आँखें व मुख रूप सातों शरीरस्थ ऋषियों के लिए **आवरम्**-सब प्रकार से वरणीय धन को, शक्ति व प्रकाश को देते हैं। 'सब की सब इन्द्रियाँ सशक्त व प्रकाशमय बनें' इसके लिए आवश्यक है कि हम प्रभु का ध्यान करें, प्रभु के बनें। (३) जब हम प्रभु के बनते हैं तो वे प्रभु **अन्धम्**-अन्धे को व **श्रोणम्** लंगड़े को भी **प्रतारिषत्**-उस अन्धत्व व पंगुत्व से तरा देते हैं। प्रभु कृपा से अन्धत्व से ऊपर उठकर हम दूरदृष्टि बनते हैं तथा पंगुत्व से ऊपर उठकर खूब गतिशील होते हैं। प्रभु कृपा हमारी ज्ञानेन्द्रियों को भी यशस्वी बनाती है और कर्मेन्द्रियों को भी शक्ति देती है। तभी **वः** उस प्रभु की प्राप्ति के **विमदे**-विशिष्ट आनन्द में **विवक्षसे** हम विशिष्ट उन्नति के लिये होते हैं।

भावार्थ—प्रभु कृपा ज्ञानेन्द्रियों को प्रकाशमय बनाती है तो कर्मेन्द्रियों को सशक्त। अन्धत्व व पंगुत्व दूर होकर हमारी उन्नति ही उन्नति होती है।

सूक्त का प्रारम्भ इस प्रार्थना से हुआ है कि हमें 'भद्रता, दक्षता व क्रतु' प्राप्त हों। (१) सोमरक्षण से हम प्रभु के सच्चे भक्त बनें, (२) प्रभु प्राप्ति के लिए साधनभूत व्रतों का आचरण करें, (३) क्रतु के धारण करने पर ही जीवन उत्तम बनता है, (४) प्रभु कृपा से मेरा शरीर इन्द्रियरूप पशुओं के लिये उत्तम बाड़ा बने, (५) प्रभु हमारे काम क्रोधरूप पशुओं को नियन्त्रण में रखें, (६) हम गौवें हों तो प्रभु हमारे अहिंसित ग्वाले, (७) वे हमें द्रोह व पाप से ऊपर उठायें, (८) प्रभु ही हमारे शिव सखा हैं, (९) वे हमारी बुद्धि का वर्धन करते हैं, (१०) और हमारे अन्धत्व व पंगुत्व को दूर करते हैं, (११) ये प्रभु ही हमें स्पृहणीय मनीषाएँ प्राप्त कराते हैं।

[२६] षड्विंशं सूक्तम्

ऋषिः—**विमदः ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥
स्वरः—**ऋषभः** ॥

मनीषा-नियुत्-दस्रा

प्र ह्यच्छा॑ मनी॒षाः स्पा॒र्हा यन्ति॑ नि॒युतः॑। प्र द॒स्रा नि॒युद्र॑थः पू॒षा अ॑विष्टु॒ माहि॑नः॥ १॥

(१) प्रस्तुत सूक्त में परमात्मा को 'पूषा' नाम से स्मरण किया गया है। उस पूषा के अनुग्रह से **हि**-निश्चयपूर्वक **स्पार्हाः**-स्पृहणीय, चाहने योग्य **मनीषाः**-बुद्धियाँ **अच्छा यन्ति**-हमारी ओर प्राप्त होती हैं, अर्थात् वे बुद्धियाँ जो निर्माणात्मक लोकहितात्मक कार्यों को जन्म देती हैं, हमें प्राप्त हों। ऐसी ही बुद्धियाँ स्पृहणीय हैं। इन बुद्धियों के साथ **नियुतः**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्व हमें प्राप्त होते हैं। उत्तम बुद्धियों के साथ उत्तम इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करके हम अपनी जीवन-यात्रा में निरन्तर आगे बढ़ते हैं। (२) **नियुद्रथः** हमारे शरीररूप रथ में 'नियुत्' नामक घोड़ों को जोतनेवाला **माहिनः**-महिमावाला, पूजनीय, **पूषा**-सबका पोषण करनेवाला देव **दस्रा**-शरीर के सब रोगों को नष्ट करनेवाले प्राणापान को **प्र अविष्टु**-प्रकर्षेण रक्षित करनेवाला हो। उस पूषा के अनुग्रह से हमारी प्राणापान शक्ति अत्यन्त सुरक्षित हो। इसके सुरक्षित होने पर ही हमारी रक्षा निर्भर है।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हमें स्पृहणीय बुद्धि, उत्तम इन्द्रियाश्व तथा सुरक्षित प्राणापान शक्ति प्राप्त हो।

ऋषिः—**विमदः ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराडनुष्टुप्** ॥
स्वरः—**गान्धारः** ॥

वायु व जल में प्रभु-दर्शन

यस्य त्यन्मंहित्वं वाताप्यमयं जनः। विप्र आ वंसद्धीतिभिश्चिकेत सुष्टुतीनाम्॥ २॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार वह पूषा हमें स्पृहणीय बुद्धि, उत्तम इन्द्रियाश्व व प्राणापान को प्राप्त कराये **यस्य**=जिस प्रभु के **त्यत्**=उस प्रसिद्ध **वाताप्यम्**=(वात+अप+य) वायु व जल में प्रकट होनेवाले **महित्वम्**=महत्त्व को **अयम्**=यह **विप्रः**=मेधावी **जनः**=मनुष्य **आवंसत्**=संभजते=सम्यक् सेवन करता है और **धीतिभिः**=ध्यान के द्वारा अथवा यज्ञादि उत्तम कर्मों के द्वारा **सुष्टुतीनाम्**=उस पूषा की उत्तम स्तुतियों को **चिकेत**=जानता है। (२) प्रभु की महिमा इस पाञ्चभौतिक संसार के प्रत्येक भूत में प्रकट हो रही है, परन्तु जीव विशेषकर उस महिमा को जल व वायु में देख पाता है। एक मिनिट के लिए भी वायु बन्द हुई तो दम घुटने लगता है, जल के बिना भी एक दिन का बिताना कठिन हो जाता है। सो बहती हुई वायु में तथा बहते हुए इन जलों में प्रभु की महिमा झट दिख पाती है। संस्कृत साहित्य में वायु तो 'प्राण' ही है, जल भी 'जीवन' है। ये प्राणि जीवन के दो मूल स्तम्भ हैं। (३) वस्तुतः यह मेधावी मनुष्य जितना-जितना ध्यान करता है, प्रकृति के पदार्थों का चिन्तन करता है, उतना-उतना ही उन पदार्थों में प्रभु की महिमा का दर्शन करता है। उसे हिमाच्छादित पर्वत, समुद्र व पृथ्वी सभी प्रभु की महिमा का प्रतिपादन करते प्रतीत होते हैं। आकाश को आच्छादित करनेवाले तारे प्रभु की स्तुति करते दिखते हैं।

भावार्थ—उस पूषा की महिमा वायु व जल आदि सभी पदार्थों में सुव्यक्त है।

ऋषिः—**विमदः ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्** ॥
स्वरः—**गान्धारः** ॥

शक्ति सेचन

स वेंद सुष्टुतीनामिन्दुर्न पूषा वृषा। अभि प्सुरः प्रुषायति व्रजं न आ प्रुषायति॥ ३॥

(१) **स**=वह प्रभु **सुष्टुतीनाम्**=हमारे से की जानेवाली उत्तम स्तुतियों को **वेद**=जानता है। 'हम वस्तुतः हृदय से उस प्रभु का स्तवन कर रहे हैं या नहीं' इस बात को प्रभु सम्यक् समझते हैं। हम बनावटी स्तुतियों से प्रभु को धोखा नहीं दे सकते। (२) **इन्दुः न**=सोम की तरह वह प्रभु **पूषा**=हमारा पोषण करनेवाले हैं और **वृषा**=हमारे पर सुखों की वृष्टि करनेवाले हैं। जैसे शरीर में सुरक्षित सोम-वीर्य हमारी सब शक्तियों का पोषण करता है और हमारे जीवन को सुखी बनाता है उसी प्रकार वे प्रभु हमारे लिये 'पूषा और वृषा' होते हैं। (३) वे प्रभु **प्सुरः**=(प्सु=रूप रा=दाने) हमारा पोषण करके हमें उत्तम रूप को देनेवाले हैं। प्रभु कृपा से हमारा स्वाथ्य ठीक होता है और यह स्वास्थ्य हमारे सौन्दर्य का वर्धन करता है। ये 'प्सुर' प्रभु **अभिप्रुषायति**=हमारा लक्ष्य करके सब शक्तियों का सेचन करते हैं। वे **नः**=हमारे **व्रजम्**=इस शरीररूप बाड़े को **आप्रुषायति**=सब ओर से सिक्त कर डालते हैं। हमारा अंग-प्रत्यंग शक्ति से सिक्त होकर, पुष्ट होकर हमें आगे बढ़ने के योग्य बनाता है।

भावार्थ—वे प्रभु पूषा हैं, वे सचमुच हमारे सम्पूर्ण अंगों को शक्ति से सिक्त करके हमें पुष्ट करते हैं।

ऋषिः—**विमदः ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः**॥ देवता—**पूषा**॥ छन्दः—**आचीनिचृदुष्णिक्**॥
स्वरः—**ऋषभः**॥

प्रकाश व पोषण

मंसीमहिं त्वा वयमस्माकं देव पूषन्। मतीनां च साधनं विप्राणां चाधवम्॥ ४॥

(१) हे **देव**-हमारे जीवन को प्रकाशित करनेवाले, ज्ञान की ज्योति से दीप्त करनेवाले तथा **पूषन्** हमारे अंग प्रत्यंग को शक्ति सेचन से पुष्ट करनेवाले प्रभो! **वयम्** हम **अस्माकं मतीनां साधनम्**=हमारी बुद्धियों के सिद्ध करनेवाले, देव के रूप में ज्ञान के द्वारा हमारी मतियों को प्रकाशमय करनेवाले **च** और **विप्राणाम्** इन मेधावी पुरुषों के **आधवम्**-सब प्रकार से कम्पित करके मलों के दूर करनेवाले, विप्रों के जीवन को निर्मल बनानेवाले **त्वा** आपको **मंसीमहि**-हम स्तुत करते हैं। (२) हम प्रभु का स्तवन करते हैं, वे प्रभु हमारे मस्तिष्क को प्रकाशमय व शरीर को पुष्ट करनेवाले हैं। 'देव' होते हुए हमें द्योतित करते हैं और 'पूषन्' के रूप में हमारा पोषण करते हैं। प्रकाश की प्राप्ति के लिये ही हमें उत्तम बुद्धि देते हैं और शक्ति को प्राप्त कराके सब बुराइयों से बचाते हैं।

भावार्थ—वे देव हमें ज्ञान की ज्योति देते हैं और वे पूषा हमारे अंगों को पुष्ट करते हैं।

ऋषिः—**विमदः ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः**॥ देवता—**पूषा**॥ छन्दः—**पादनिचृदनुष्टुप्**॥
स्वरः—**गान्धारः**॥

वह यावयत्सखा

प्रत्यर्धिर्यज्ञानामश्वहयो रथानाम्। ऋषिः स यो मनुर्हितो विप्रस्य यावयत्सखः॥ ५॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार हमारी बुद्धियों के सिद्ध करनेवाले तथा मलों को कम्पित करके दूर करनेवाले प्रभु ही **यज्ञानां प्रत्यर्धिः** (प्रति+ऋध्+इ) प्रत्येक यज्ञ का समर्धन करनेवाले हैं। एक-एक यज्ञ को वे ही समृद्ध करते हैं। प्रभु कृपा बिना कोई भी हमारा यज्ञ पूर्ण नहीं होता। (२) वे प्रभु ही **रथानाम्** हमारे इन शरीररूप रथों के **अश्वहयः**-(हयं गतौ) इन्द्रियाश्वों के द्वारा आगे और आगे ले चलनेवाले हैं। (३) **ऋषिः** वे प्रभु ही तत्वद्रष्टा हैं। **स**-वे वे हैं **यः**=जो **मनुर्हितः** मनुष्य का सच्चा हित करनेवाले हैं। **विप्रस्य** अपना पूरण करनेवाले मेधावी पुरुष के वे **यावयत् सखः**-ऐसे मित्र हैं जो उसे पाप से पृथक् कर रहे हैं और हित से युक्त कर रहे हैं। मित्र का यही तो लक्षण है 'पापान्निवारयति योजयते हिताय'। वे प्रभु हमें सदा पाप से निवारित कर रहे हैं (यु-अमिश्रण) तथा हित से युक्त कर रहे हैं (यु-मिश्रण)। ऐसा सच्चा मित्र ही तो हमारा हित कर सकता है। सांसारिक मित्र तो ज्ञान की कमी के कारण कभी गलत भी सलाह दे सकता है, प्रभु तो ऋषि हैं, तत्त्वद्रष्टा हैं, वहाँ गलत प्रेरणा का प्रश्न ही नहीं उठता एवं ये प्रभु ही हमारे सच्चे मित्र हैं।

भावार्थ—हमारे सब यज्ञ प्रभु कृपा से पूर्ण होते हैं, यह शरीर यन्त्र भी प्रभु कृपा से चलता है। वे प्रभु तत्त्वद्रष्टा व हितचिन्तक मित्र हैं सो हमें बुराई से दूर करके भलाई से जोड़ रहे हैं।

ऋषिः—**विमदः ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः**॥ देवता—**पूषा**॥ छन्दः—**पादनिचृदनुष्टुप्**॥
स्वरः—**गान्धारः**॥

मार्जन (पत्नी-संतति व पति)

आधीषमाणायाः पतिः शुचायाश्च शुचस्य च। वासोवायोऽवीनामा वासांसि मर्मृजत्॥ ६॥

(१) वे प्रभु एक घर में **आधीषमाणायाः**=(आत्मार्थं धीयमानायाः सा०) आत्म प्राप्ति के लिये अपना पूरण करनेवाली (धी=To accomplish) **च**-और अतएव **शुचायाः** पवित्र जीवनवाली गृहिणी का **पतिः**=रक्षक है। **च**=और इसी प्रकार **शुचस्य**-पवित्र आचरणवाले गृहपति का वह रक्षक है। प्रस्तुत मन्त्र में 'आधीषमाणायाः' से पत्नी का, 'शुचायाः' से सन्तति का और 'शुचस्य' से पति का भी ग्रहण किया जा सकता है। पत्नी आत्म प्राप्ति के लिये अपने कर्तव्य कर्मों में सदा लगी रहती है। इन कर्मों से ही वह आत्म-दर्शन की अधिकारिणी बनती है। इसके कर्त्तव्यपालन से ही सन्तति, शुचि व पवित्र बनती है। इसका व्यवहार ही पति को भी 'शुच'-पवित्र बना देता है। जिन पत्नियों का व्यवहार सुन्दर नहीं होता, उनके पति कुञ्ज में आनन्द की तलाश करते फिरते हैं और एक विचित्र-सा अस्वाभाविक जीवन बिताने के लिये विवश होते हैं वहाँ पवित्रता की सम्भावना नहीं रहती। (२) और तो और वह तो **अवीनाम्**-भेड़ों के भी **वासोवायः**=बच्चों का विस्तार करनेवाला है, बुननेवाला है। भेड़ों के भी वस्त्रों का जो ध्यान करता है, वह प्रभु ही **वासांसि**-हमारे इन पञ्चकोश रूप वस्त्रों को **आमर्मृजत्**=पूर्ण शुद्ध बना देता है। अन्नमयकोश के रोगरूप मालिन्य को दूर करता है, तो प्राणमय के नैर्बल्य रूप मल को। मनोमयकोश से 'ईर्ष्या, क्रोध, द्वेष' आदि को हटाता है और विज्ञानमयकोश की कुण्ठता को दूर भगाता है ये प्रभु ही आनन्दमयकोश को निर्मल बनाकर उसे 'सहस्' से पूर्ण करते हैं एवं इस प्रभु की कृपा से ही हमारा जीवन शुद्ध होता है।

भावार्थ—पवित्र जीवनवाले पति पत्नी ही प्रभु रक्षा के पात्र होते हैं। वे प्रभु भेड़ों का भी पालन करते हैं तो हमारा पालन क्यों न करेंगे?

ऋषिः—**विमदः ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः**॥ देवता—**पूषा**॥ छन्दः—**पादनिचृदनुष्टुप्**॥
स्वरः—**गान्धारः**॥

मलापहरण

इनो वाजानां पतिरिनः पुष्टीनां सखा। प्र श्मश्रु हर्यतो दूधोद्वि वृथा यो अदाभ्यः॥ ७॥

(१) वे प्रभु **इनः**=स्वामी हैं, **वाजानाम्**=सब अन्नों व शक्तियों के **पतिः**=पति हैं। (२) **इनः**=ब्रह्माण्ड के स्वामी प्रभु **पुष्टीनाम्**=अपना पोषण करनेवालों के **सखा** मित्र हैं। प्रभु निर्बलों के मित्र नहीं 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'। विलासमय जीवन ही हमें 'क्षीणायु' बनाता है, यह विलासी पुरुष ही प्रभु की कृपा दृष्टि को प्राप्त नहीं करता। (३) वे **हर्यतः**=जाने योग्य व चाहने योग्य प्रभु **श्मश्रु**=(श्मनि श्रितं नि०) शरीर में आश्रित 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि' को **प्र दूधोद्**=प्रकर्षेण कम्पित करके निर्मल करनेवाले हैं। जैसे झाड़कर कपड़े के मल को दूर कर दिया जाता है, उसी प्रकार वे प्रभु हमारी इन्द्रियों, मन व बुद्धि को भी झाड़कर निर्मल बना देते हैं। इन्द्रियों की निर्बलता दूर हो जाती है, मन की मैल भस्मीभूत (चकनाचूर) हो जाती है और बुद्धि उज्ज्वल हो उठती है। (४) 'इतने अनन्त जीवों के मलों को वे प्रभु कैसे दूर सकते होंगे'? इस शंका का करना व्यर्थ है, वे अनन्त शक्ति प्रभु इन अपने एक देश में होनेवाले जीवों को **वृथा**=अनायास ही वि दूधोद्=विशिष्टरूप से झाड़कर ठीक कर देते हैं। वे प्रभु तो वे हैं **यः**=जो **अदाभ्यः**=किसी से हिंसित होनेवाले नहीं।

भावार्थ—वे प्रभु सबके स्वामी हैं। वे प्रभु ही चाहनेवालों व प्रभु की ओर जानेवालों के मलों का अपहरण करते हैं।

ऋषिः—**विमदः ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**पादनिचृदनुष्टुप्** ॥
स्वरः—**गान्धारः** ॥

धुरा का आवर्तन

आ ते रथस्य पूषन्नजा धुरं ववृत्युः। विश्वस्यार्थिनः सखा सनोजा अनपच्युतः॥ ८॥

(१) हे **पूषन्**-पोषक प्रभो! **ते रथस्य धुरम्**-आपके दिये हुए इस शरीररूप रथ की धुरा को **अजाः**-(अज गतिक्षेपणयोः) गति के द्वारा मलों को दूर करनेवाले व्यक्ति ही **आववृत्युः** आवर्तित करते हैं अर्थात् धारण करके कार्य में व्यापृत करते हैं। 'अज' पुरुष ही इस जीवनरथ का वहन कर पाते हैं। (२) वे प्रभु **विश्वस्य**-सब **अर्थिनः**-प्रार्थना करनेवालों के **सखा** मित्र हैं। प्रभु ही तो हमारी सब कामनाओं को पूर्ण करते हैं। वे प्रभु **सनोजाः**-चिरजात हैं, सदा से प्रादुर्भूत हैं। किसी समय विशेष में उनका प्रादुर्भाव नहीं होता, सदा से हैं, सदा रहेंगे। **अनपच्युतः** उन प्रभु को कोई मार्ग से हटा नहीं सकता, उनकी व्यवस्था का कोई भंग नहीं कर सकता। प्रभु के नियम अटल हैं।

भावार्थ—हम गतिशील बनकर इस शरीर रथ का वहन करनेवाले बनें। प्रार्थना द्वारा प्रभु के मित्र बनें।

ऋषिः—**विमदः ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुकृद्वा वासुक्रः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**आर्चीविराडनुष्टुप्** ॥
स्वरः—**गान्धारः** ॥

रथ का रक्षण

अस्माकमूर्जा रथं पूषा अविष्टु माहिनः। भुवद्वाजानां वृध इमं नः शृणवद्धवम्॥ ९॥

(१) इस जीवन यात्रा में गत मन्त्र के अनुसार जब अज बनकर हम शरीर रथ की धुरा का आवर्तन करें तो वे **पूषा**=सबका पोषण करनेवाले, **माहिनः**-महिमा सम्पन्न प्रभु **अस्माकं रथम्**-हमारे इस शरीर रथ को **ऊर्जा**-बल व प्राणशक्ति के द्वारा **अविष्टु**-रक्षित करें। उस प्रभु के रक्षण में ही हमारे लिये किसी भी प्रकार की उन्नति का सम्भव होता है। (२) वे प्रभु **वाजानाम्**-हमारी शक्तियों के **वृधः**-वर्धन करनेवाले **भुवत्**-हों। शक्ति-वर्धन के द्वारा ही रक्षण होता है। शक्ति ह्रास ही विनाश का मार्ग है। (३) वे प्रभु **नः**=हमारी **इमं हवम्**-इस प्रार्थना को **शृणवत्**=अवश्य सुनें। हमारी प्रार्थना न सुनने योग्य, न समझी जाए। पुरुषार्थ से हम अपने को पात्र बनायें जिससे प्रभु हमारी प्रार्थना को अवश्य पूर्ण करें।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे शरीर-रथ के रक्षक हैं, वे ही हमारी शक्तियों का वर्धन करते हैं।

सूक्त का प्रारम्भ स्पृहणीय बुद्धियों की प्राप्ति की कामना से होता है। (१) इन बुद्धियों से हम सर्वत्र जलवायु में उस प्रभु की महिमा का अनुभव करते हैं, (२) ये प्रभु ही हमारा पोषण व हमारे पर सुखों का वर्षण करते हैं, (३) हमारी बुद्धियों को सिद्ध करते हैं, (४) वे हमारे सच्चे मित्र हैं, (५) हमारा शोधन करते हैं, (६) मलों का अपहरण करते हैं, (७) इस प्रकार हमें शरीर-रथ की धुरा के वहन के योग्य बनाते हैं, (८) वे ही हमारी सब शक्तियों को बढ़ाते हैं, (९) वे प्रभु यजमान=यज्ञशील को ही शक्तिशाली बनाते हैं।

[२७] सप्तविंशं सूक्तम्

ऋषिः—**वसुक्र ऐन्द्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

'सुन्वन् यजमान'

असत्सु मे जरितः साभिवेगो यत्सुन्वते यजमानाय शिक्षम्।
अनाशीर्दामहमस्मि प्रहन्ता सत्यध्वृतं वृजिनायन्तमाभुम्॥ १ ॥

(१) प्रस्तुत मन्त्रों का ऋषि 'वसुक्र ऐन्द्रः' है। उत्तम पदार्थों को निवास के लिये आवश्यक तत्त्वों को 'वसु' कहते हैं, जो इन वसुओं का श्रवण करता है, वह 'वसुक्र' कहलाता है। यह 'ऐन्द्रः' इन्द्र की ओर चलनेवाला होता है। यदि हमारा झुकाव 'इन्द्र'-प्रभु की ओर न रहकर प्रकृति की ओर हो जाए तो हम 'वसुक्र' ही न रहें। प्रकृति में फँसना 'निवास के लिये आवश्यक तत्त्वों के ह्रास' का कारण होता है। (२) इस वसुक्र से प्रभु कहते हैं कि हे **जरितः**=स्तोतः! **मे**=मेरा **स**=वह **सु**=शोभन **अभिवेग**=मन का प्रबल भाव **असत्**=है **यत्**=कि **सुन्वते**=अपने शरीर में सोम=वीर्य का सम्पादन करनेवाले तथा **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिए **शिक्षम्**=सब उत्तम वसुओं को दूँ। प्रभु ही सब वसुओं के स्वामी है। ये वसु उन्हीं को प्राप्त होते हैं जो 'सुन्वन् व यजमान' बनते हैं। 'सुन्वन्' अपने अन्दर शक्ति का सम्पादन करनेवाला है, 'यजमान' लोकहित के लिये यज्ञात्मक कर्मों को करनेवाला है। (३) जहाँ प्रभु 'सुन्वन् यजमान' को सब उत्तम वस्तुएँ प्राप्त कराते हैं वहाँ वे प्रभु कहते हैं कि **अहम्**=मैं **प्रहन्ता**=प्रकर्षेण मारनेवाला **अस्मि**=हूँ। किसको? (क) **अनाशीर्दाम्**=जो इच्छापूर्वक, दिलखोलकर दान नहीं करता। जिसकी देने की वृत्ति नहीं है, देव न होकर जो असुर है, देता नहीं, अपने मुँह में ही डालता है। (ख) **सत्यध्वृतम्**=जो सत्य की हिंसा करता है, अनृत भाषण करता है। (ग) **वृजिनायन्तम्**=(पापं कर्तुम् इच्छन्तम्) जो पाप करने की इच्छा करता है, जो पाप की वृत्तिवाला है, जिसका झुकाव धर्म की ओर न होकर अधर्म की ओर है और जो (घ) **आभुम्**=(आ-भवति) सब चीजों का मालिक होना चाहता है, 'ये भी मुझे मिल जाये, ये भी मुझे मिल जाये' यही जो सदा चाहता रहता है। जो सारी चीजों को व्याप्त करके जबर्दस्त परिग्रही बन जाता है।

भावार्थ—प्रभु 'सुन्वन् यजमान' को सब कुछ देते हैं तथा 'अनाशीर्दा, सत्यध्वृत्, वृजिनायन्, आभु' को नष्ट करते हैं।

ऋषिः—**वसुक्र ऐन्द्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

अदेवयु पुरुषों का नाश

यदीदहं युधये संनयान्यदेवयून्तन्वा३ शूशुजानान्।
अमा ते तुम्रं वृषभं पचानि तीव्रं सुतं पञ्चदशं नि षिञ्चम्॥ २ ॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **यत्**=जो **अहम्**=मैं **इत्**=निश्चय से **अदेवयून्**=न देने की वृत्तिवाले पुरुषों को और अतएव आत्मादि होने के कारण **तन्वा शूशुजानान्**=शरीर से खूब फूले हुए हृष्ट-पुष्ट जनों को **युधये संनयानि**=युद्ध के लिये प्राप्त कराता हूँ। इन्हें स्वार्थ-प्रधान वृत्ति के कारण परस्वर लड़नेवाला बना देता हूँ और इन युद्धों में ये परस्पर एक दूसरे का संहार करनेवाले होते हैं। (२) इनके विपरीत जो तू **अमा**=मेरे साथ रहता है, 'ऐन्द्र' बनने का प्रयत्न करता है उस **ते**=तुझे **तुम्रम्**=(strong) बड़े शक्तिशाली व **वृषभम्**=अपनी शक्ति से औरों पर सुखों की वर्षा करनेवाले के रूप में **पचानि**=परिपक्व करता हूँ। तुझे इस प्रकार परिपक्व करता हूँ जो तू लोकहित के लिये

सुतं पञ्चदशम्-उत्पन्न किये हुए धन के पन्द्रहवें भाग को **तीव्रम्**-तीव्रता से, प्रबल इच्छा से **निषिञ्चम्**-सिक्त करनेवाला होता है (सिञ्चति इति)। एवं प्रभु-भक्त-प्रभु-प्रवण व्यक्ति बलवान् बल से औरों को सुखी करनेवाला तथा लोकहित के लिये आय के पन्द्रहवें भाग को निश्चितरूप से देनेवाला होता है।

भावार्थ—'अदेवयु व तन्वाशूशुजान' आपस में लड़ मरते हैं। प्रभु भक्त बलवान्, परोपकारी व दानी होते हैं।

ऋषिः—**वसुक्र ऐन्द्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

भौतिकता व युद्ध

नाहं तं वेद य इति ब्रवीत्यदेवयून्त्समरणे जघन्वान्।
यदावाख्यत्समरणमृघावदादिद्ध मे वृषभा प्र ब्रुवन्ति॥ ३॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **अहम्**=मैं **तम्**-उस पुरुष को **न वेद**=नहीं जानता हूँ **यः**-जो **इति ब्रवीति**-यह कहता है कि वह प्रभु **अदेवयून्**-अदेव वृत्तिवाले, न देनेवाले, सारा स्वयं ही खा जानेवाले असुर पुरुषों को **समरणे**-संग्राम में **जघन्वान्**-मारते हैं। अर्थात् लोग समान्यतः इस बात को भूले रहते हैं और उन्मत्त-सी जीवन की अवस्था में खा-पीकर शरीरों को खूब ही पुष्ट करते हैं। (२) परन्तु **यदा**-जब कभी यह व्यक्ति **ऋघावत्**-हिंसावाले, भयङ्कर हिंसा के दृश्यों से युक्त **समरणम्**=युद्ध को **अवाख्यत्**=देखता है, तो भयभीत होकर घबरा उठता है और **आत् इत्**=इसके एकदम बाद **ह**=निश्चय से **मे**-मेरे **वृषभा**-शक्तिशाली कर्मों का **ब्रुवन्ति**=प्रवचन करते हैं, अर्थात् युद्ध के आ जाने पर इन्हें मेरा स्मरण होता है और उस समय ये मेरी स्तुति करते हैं, अपने रक्षण के लिये प्रार्थना करते हैं। यदि इन युद्धों के आ जाने से पहले ही वे मेरा स्मरण करें और अदेवयु पुरुषों की गति का ध्यान करें तो वे अपनी अदेवयु बनने की वृत्ति को दूर करके इन युद्धों से बचे ही रहें।

भावार्थ—हमें इस बात को भूलना न चाहिए कि अदेवयु पुरुषों का अन्त भयङ्कर हिंसा असुर युद्धों में हो जाया करता है।

ऋषिः—**वसुक्र ऐन्द्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

मघवान् का रक्षण, आयु का परिचय

यदज्ञातेषु वृजनेष्वासं विश्वे सतो मघवानो म आसन्।
जिनामि वेत्क्षेम आ सन्तमाभुं प्र तं क्षिणां पर्वते पादगृह्य॥ ४॥

(१) **यद्**=जब **अज्ञातेषु वृजनेषु**=अज्ञात संग्रामों में 'किसका विजय होगा, किसका नहीं' इस बात का जिनमें पता नहीं, ऐसे युद्धों में **आसम्** मैं होता हूँ, अर्थात् जब इन संग्रामों में युद्ध करते हुए ये लोग मेरा स्मरण करते हैं तो **विश्वे मघवानः**-सब ऐश्वर्यशाली यज्ञशील (मघ मख) पुरुष **सतः मे**-सर्वत्र वर्तमान मेरे **आसन्**=होते हैं, अर्थात् जो अपने ऐश्वर्यों का विनियोग यज्ञों में करते हैं उनका मैं रक्षण करता हूँ (२) और **क्षेमे**-जगत् के कल्याण के निमित्त **आसन्तम्**-चारों ओर होनेवाले, अर्थात् सर्वत्र अपना पैर फैलानेवाले **आभुम्**-सारे चीजों को प्राप्त करने के प्रयत्नवाले परिग्रही **तम्**=उस पुरुष को **पादगृह्य**=पाओं से पकड़ के **पर्वते प्रक्षिणाम्**-पर्वत पर फेंक देता हूँ, पहुँचा देता हूँ, अर्थात् ऐसे पुरुष को मैं सुदूर विनष्ट कर देता हूँ। (३) युद्ध होता है, और युद्ध में धर्म्य पक्षवाले को प्रभु विजयी करते हैं। अधर्म के पक्ष का विनाश होता

है। इसे प्रभु सुदूर फेंक-सा देते हैं।

भावार्थ—ऐश्वर्यों का यज्ञों में विनियोग करनेवालों का प्रभु रक्षण करते हैं और परिग्रही आसुरी वृत्तिवालों का विनाश। इस प्रकार ही प्रभु संसार का कल्याण करते हैं।

ऋषिः—**वसुक्र ऐन्द्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

'अश्रुत' प्रभु

न वा उ मां वृजने वारयन्ते न पर्वतासो यदहं मनस्ये।
मम स्वनात्कृधुकर्णो भयात एवेदनु द्यून्किरणः समेजात्॥ ५॥

(१) **वृजने**=संग्राम में **माम्**=मुझे **वा उ**=निश्चय से **न वारयन्ते**=कोई भी रोक नहीं पाते। **न**=ना ही **पर्वतासः**=पर्वत मुझे प्रतिबद्ध कर सकते हैं, **यद्**=जब **अहम्**=मैं **मनस्ये**=निश्चय कर लेता हूँ। प्रभु की व्यवस्थाएँ अटल होती हैं, प्रभु के निर्णय रोके नहीं जा सकते। (२) **मम स्वनात्**=मेरे शब्द से **कृधुकर्णः**=अत्यन्त छोटे कानोंवाला, अर्थात् जो एकदम बहरे कानोंवाला है वह भी **भयात**=भयभीत हो उठता है और अपने कार्य में ठीक से लग जाता है। **एवा इत्**=इसी ही प्रकार **अनु द्यून्**=प्रतिदिन **किरणः**=प्रकाश को चारों ओर फेंकनेवाला यह सूर्य भी **समेजात्**=सम्यक् काँप उठता है और सम्यक् गति करता है एवं यह जड़ जगत् भी प्रभु के भय से पूर्ण व्यवस्था में चल रहा है। चेतन जगत् भी प्रभु-भय से व्यवस्था में चलता है तो कल्याण भागी होता है, व्यवस्था को तोड़ते ही उसे प्रभु की दण्डव्यवस्था में पिसना पड़ता है। 'भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः' यह उपनिषद् वाक्य इसी भाव को व्यक्त कर रहा है।

भावार्थ—प्रभु की व्यवस्था को कोई रोक नहीं सकता। बहरे से बहरे को प्रभु की व्यवस्था सुननी होती है, सूर्यादि सब पिण्ड प्रभु भय से ही अपने मार्ग का आक्रमण कर रहे हैं।

ऋषिः—**वसुक्र ऐन्द्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

वज्रपतन

दर्शन्न्वत्र शृतपाँ अनिन्द्रान्बाहुक्षदः शरवे पत्यमानान्।
घृषुं वा ये निनिदुः सखायमध्यू न्वेषु पवयो ववृत्युः॥ ६॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **नु**=निश्चय से ही **अत्र**=यहाँ इस मानव जीवन में मैं **दर्शम्**=देखता हूँ। उन लोगों को जो **शृतपान्**=भट्ठियों में पकायी गयी शराब को पीनेवाले हैं (शृ पाके), **अनिन्द्रान्**=जो सर्वशक्तिमान् परमैश्वर्यशाली प्रभु के स्मरण से रहित हैं, **बाहुक्षदः**=अपनी भुजशक्ति से भले लोगों को टुकड़े-टुकड़े करने में लगे हुए हैं, **शरवे**=हिंसा के लिये **पत्यमानान्**=जो गति कर रहे हैं, जिनकी क्रियाएँ औरों के ध्वंस के लिये ही होती हैं। **वा**=या **ये**=जो **घृषुम्**=शत्रुओं का संहार करनेवाले **सखायम्**=मित्रभूत मुझे **निनिदुः**=निन्दित करते हैं, उपासना के स्थान में जो मेरा निरादर करते हैं। (२) इस प्रकार के **एषु अधि**=इन लोगों के ऊपर **पवयः**=मेरे वज्ररूप अस्त्र **ववृत्युः**=पड़ते हैं। इनका उन वज्रों व अशनिपातों से संहार हो जाता है, यहाँ 'वज्रपतन' प्रतीक है आधिदैविक आपत्तियों का। इन पर आधिदैविक आपत्तियाँ आती हैं और आधिदैविक आपत्तियाँ आकर इनका अन्त कर देती हैं। (३) यहाँ नाशक्रम इस प्रकार संकलित हो रहा है—(क) शराब पीने लगना, (ख) प्रभु को भूल जाना, (ग) अपनी शक्ति का प्रयोग सज्जनों के पीड़ित करने में करना और (घ) हिंसा प्रधान गतिवाला होना। (ङ) अन्ततः प्रभु की निन्दा करने लगना।

भावार्थ—शराब मनुष्य को प्रभु से दूर ले जाती है और हिंसक वृत्ति का बना देती है।

ऋषिः—**वसुक्र ऐन्द्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

शत्रु-विदारक व्यापक प्रभु

अभूर्वौक्षीर्व्यु१ आयुरानड्दर्षन्नु पूर्वो अपरो नु दर्षत्।

द्वे पवस्ते परि तं न भूतो यो अस्य पारे रजसो विवेष॥ ७॥

(१) 'वसुक्र' इन्द्र का स्तवन करता हुआ कहता है कि हे इन्द्र! **अभूः**-आप ही प्रादुर्भूत होते हो। कण-कण में आपकी ही महिमा दृष्टिगोचर होती है। **वा**=निश्चय से **औक्षीः**-आप ही सब पर सुखों का सेचन करते हो आप ही **आयुः**-गतिशील पुरुष को **वि आनट्**-व्याप्त करते हो, गतिशील पुरुष के हृदय में आपका प्रादुर्भाव होता है। (२) **पूर्वः**=आगे होनेवाले आप **नु**-शीघ्रता से **दर्षत्**-शत्रुओं का विदारण करते हैं और **अपरः**-पीछे होनेवाले आप भी **नु**=शीघ्र ही **दर्षत्**-शत्रुओं का विदारण करते हैं। (३) **द्वे**-ये दोनों **पवस्ते**=महत्त्व से सबके अभिभव के लिये जानेवाले, अर्थात् सब से अधिक महत्त्ववाले द्युलोक व पृथ्वीलोक **तं**-उस परमात्मा को **न परिभूतः**-घेर नहीं सकते। परमात्मा इनकी परिधि में नहीं आ सकते, ये द्युलोक व पृथ्वीलोक उस प्रभु के एकदेश में हैं, ये प्रभु को व्याप्त नहीं कर पाते। उस प्रभु को **यः**-जो **अस्य रजसः**-इस लोक रञ्जित आकाश से **पारे**-पार भी **विवेष** व्याप्त हो रहे हैं। जहाँ तक लोक-लोकान्तर हैं वहाँ तक आकाश 'रजः' कहलाता है, उससे परे 'पर व्योम'। यह सब रजस् प्रभु के एकदेश में है, प्रभु परव्योम को भी व्याप्त किये हुए हैं। यह सारा ब्रह्माण्ड तो उस प्रभु के एकदेश में ही है। 'पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि'।

ऋषिः—**वसुक्र ऐन्द्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

गौवें ग्वाला व स्वामी

गावो यवं प्रयुता अर्यो अक्षन्त अपश्यं सहगोपाश्चरन्तीः।

हवा इदर्यो अभितः समायन्कियदासु स्वपतिश्छन्दयाते॥ ८॥

(१) **गावः** इन्द्रियरूपी गौवें **प्रयुताः**-इस शरीररूप रथ में प्रकर्षेण युक्त हुई-हुई **यवम्**-विषयरूप यव को **अक्षन्**-(भक्षयन्ति) खाती हैं, विषयों का ग्रहण करती हैं। इन्द्रियाँ विषयों में जाती हैं, इसीलिए प्रभु ने इनका निर्माण किया है। (२) **ताः**-इन इन्द्रियरूप गौवों को **सहगोपाः**-ग्वाले सहित, मन ही इनका ग्वाला है, मन इनके साथ विविध विषयों में भटकता है, **चरन्तीः**-विषयों में विचरण करती हुई इन इन्द्रियों को **अर्यः**-इनका स्वामी मैं **अपश्यम्**=इन्हें देखता हूँ (दृश्-look after) इनका रक्षण करता हूँ। (३) मैं इन इन्द्रियों का स्वामी हूँ। इन्द्रियाँ गौवें हैं, तो मन ग्वाला और आत्मा स्वामी। यहाँ स्वामी ग्वाले सहित गौवों का ध्यान करता है। आत्मा मन सहित इन्द्रियों का निरीक्षण करता है, यही आत्मालोचन कहलाता है। ये इन्द्रियाँ **हवाः**=आह्वान के योग्य हैं। जैसे गौवों को दोहन के लिये बुलाया जाता है इसी प्रकार इन इन्द्रियों को ज्ञान प्राप्ति व कर्मसिद्धि के लिये आत्मा आहूत करता है और ये **इत्**-निश्चय से **अर्यः अभितः** (अर्यम्) स्वामी के चारों ओर **समायन्**-उपस्थित होती हैं। (४) इन इन्द्रियरूप गौवों के समीप आ जाने पर **स्वपतिः**=अपना पूर्ण प्रभुत्व करनेवाला यह आत्मा **आसु**-इन गौवों में **कियत्**-कितने ही, अर्थात् बहुत अधिक ज्ञान व कर्मरूप दुग्ध को **छन्दयाते**-चाहता है। वह इन्हें खूब ही ज्ञान की प्राप्ति में व यज्ञादि की सिद्धि में व्यापृत रखता है।

भावार्थ—इन्द्रियाँ गौवें हैं, मन ग्वाला व आत्मा स्वामी है। जब आत्मा इन्हें अपने वश में रखता है तो प्रचुर ज्ञान व कर्मरूप दुग्ध को ये देनेवाली होती हैं।

ऋषिः—**वसुक्र ऐन्द्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

योगी का विशाल परिवार

सं यद्वयं यवसादो जनानामहं यवाद उर्वज्रे अन्तः।
अत्रा युक्तोऽवसातारमिच्छादथो अयुक्तं युनजद्ववन्वान्॥ ९॥

(१) **जनानाम्**-लोगों में **अहम्**=मैं **यवादः**-यव का, जौ का अदन करनेवाला हूँ। यह जौ मेरी मनोवृत्ति को अशुभ से अमिश्रित व शुभ से मिश्रित करता है, इसी से तो इसका नाम 'यव' है 'यु मिश्रणामिश्रणयोः'। (२) इस प्रकार वृत्ति के शुभ होने से **वयम्**=हम उस **अज्रे अन्तः**=इस विशाल वसुधा के प्रांगण में **यद्**=जो **यवसादः**-घास को खानेवाले पशु हैं उनके भी **सम्**-(Together) साथ एक स्थान में एकत्रित हैं, अर्थात् वे भी मेरे परिवार में शामिल हो गये हैं और इस प्रकार मैं 'अहं' न रह कर 'वयं' हो गया हूँ। (३) **अत्रा**=इस प्रकार यहाँ मानव जीवन में **युक्तः**=योगयुक्त हुआ-हुआ पुरुष सबके साथ एक हुआ-हुआ पुरुष एकत्व का दर्शन करनेवाला पुरुष **अवसातारम्**=जन्म-मरण के चक्र के अन्त के करनेवाले को **इच्छात्**-चाहे। इसकी यह प्रबल कामना हो कि प्रभु मुझे जन्म-मरण चक्र से मुक्त करें। इस मुक्ति के लिये ही युक्त होना आवश्यक है। (४) **अथ उ**=और यह युक्त पुरुष निश्चय से **वन्वान्**=इन्द्रियों व मन का विजय (वन्-win) करता हुआ **अयुक्तम्**=अयोगयुक्त पुरुष को उपदेश व प्रेरणा के द्वारा **युनजत्**=योग से युक्त करें। योगयुक्त होने से ही मानव का कल्याण सिद्ध होता है। यह योगी अकेला ही योग व समाधि का आनन्द लेने की अपेक्षा अपने विशाल परिवार के अन्य व्यक्तियों को भी योगमार्ग पर जाने के लिये यत्न करता है।

भावार्थ—योगी वह है जिसने संसार को अपने साथ युक्त किया है। यह सभी को योगी बनाने का यत्न करता है।

ऋषिः—**वसुक्र ऐन्द्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

योग व भोग

अत्रेदु मे मंससे सत्यमुक्तं द्विपाच्च यच्चतुष्पात्संसृजानि।
स्त्रीभिर्यो अत्र वृषणं पृतन्यादयुद्धो अस्य वि भजानि वेदः॥ १०॥

(१) **अत्र इत् उ**=यहाँ योग के जीवन में निश्चय से तू **मे उक्तम्**=मेरे इस कथन को **सत्यं मंससे**-सत्य मानता है **यत्**=कि **द्विपात् च चतुष्पात् च**=दो पाँववाले और चारपावों वाले सभी को **संसृजानि**-मैं ही पैदा करता हूँ। इस प्रकार ये सारे प्राणी तेरे दृष्टिकोण में एक प्रभु के पुत्र होने से एक ही परिवार के हैं। तू इनके साथ अपना एकत्व देखता है। (२) ऐसा न करके, अर्थात् योगमार्ग पर न चल करके **यः**=जो भोगमार्ग पर चलता है, वह **स्त्रीभिः**=स्त्रियों के हेतु से, अर्थात् सांसारिक विलास की खातिर **अत्र**=यहाँ मानव जीवन में **वृषणं**-उस शक्तिशाली प्रभु से **पृतन्यात्**=लड़ाई ठान लेता है, अर्थात् प्रभु का कभी भी ध्यान नहीं करता, उसे प्रभु ध्यान की प्रवृत्ति ही नहीं होती, वह प्रभु ध्यान के दो मुख्य समयों में प्रातःकाल तो निद्रा देवी की गोद में होता है और सायं किसी क्लब में। इस प्रकार उसे प्रभु ध्यान का अवसर ही नहीं होता। ऐसा लगता है कि ध्यान से इसकी लड़ाई ही हो। (३) यह व्यक्ति **अयुद्धः**=काम, क्रोध, लोभ आदि से

चलनेवाले सात्त्विक संग्राम को प्रारम्भ ही नहीं करता। इसके सुधार के लिये प्रभु कहते हैं कि मैं **अस्य** इसके **वेदः** धन को इससे **विभजानि**-विभक्त कर देता हूँ, पृथक् कर देता हूँ। धन के आधिक्य ने ही तो इसे भोगमार्ग का पथिक बना दिया था, धन से पृथक् करके प्रभु उस कारण को ही दूर करना आवश्यक समझते हैं जो इसे भोगासक्त किये हुए था।

भावार्थ—योगी संसार में एकत्व देखता है। भोगी प्रभु को भूल जाता है। प्रभु इसके धन को नष्ट करके इसे ठीक मार्ग पर आ जाने का अवसर प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**वसुक्र ऐन्द्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्रकृति वहन व प्रकृति परित्याग

यस्यानक्षा दुहिता जात्वास कस्तां विद्वाँ अभि मन्याते अन्धाम्।
कतरो मेनिं प्रति तं मुचाते य ईं वहाते य ईं वा वरेयात्॥ ११॥

(१) प्रकृति जड़ है, ज्ञानशून्य है। प्रस्तुत मन्त्र में इसीलिए इसे 'अनक्षा' कहा गया है, यह **अनक्षा**-जड़ प्रकृति **यस्य**-जिसकी **दुहिता**=पूरक (दुह प्रपूरणे) आवश्यकताओं को पूर्ण करनेवाली **जातु आस**-कभी थी और इसीलिए **कः**=आनन्दमय जीवनवाला **विद्वान्** समझदार पुरुष **ताम्**-उस प्रकृति को **अन्धाम्**-भोजन (-पालन करनेवाली) **अभिमन्याते**-मानता है। वस्तुतः 'जब तक प्रकृति को हम शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन और उन साधनों को प्राप्त कराके अपना पालन करनेवाली समझेंगे तब तक' तो यह ठीक ही है यह हमें कुचलनेवाली तभी बनती है जब कि हम इसे भोग्य वस्तु समझकर, शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये नहीं, अपितु मौज के लिए समझने लगते हैं। (२) यदि प्रकृति मेरे लिये दुहिता ही बनी रहती है तो **कतरः**=वह अत्यन्त आनन्दमय प्रभु **तं प्रति**=उस प्रकृति में न फँसनेवाले पुरुष के प्रति **मेनिम्**=वज्र को, क्रियाशीलता को **मुचाते**-प्राप्त कराता है अथवा मेनिम्-आदर को प्राप्त कराता है। उसके प्रति आदर को प्राप्त कराता है **यः**-जो **ईम्**-निश्चय से **वहाते**-इस प्रकृति का वहन करता है **वा**-परन्तु साथ ही **यः**-जो **ईम्**-निश्चय से **वरेयात्**-इसका निबारण करता है। प्रकृति का वहन करता, अर्थात् प्राकृतिक पदार्थों का शरीर यन्त्र के चालन के लिये प्रयोग करना और प्रकृति का निवारण करना, अर्थात् इसके अन्दर फँस न जाना। इस प्रकार प्रकृति के अन्दर रहकर भी उसमें न फँसता हुआ व्यक्ति प्रभु से आदर को प्राप्त करता है।

भावार्थ—हम प्राकृतिक पदार्थों का प्रयोग करें और उनमें आसक्त होकर उनका अतिभोग न कर बैठें।

ऋषिः—**वसुक्र ऐन्द्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

मित्र न कि योषा

कियती योषा मर्यतो वधूयोः परिप्रीता पन्यसा वार्येण।
भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित्॥ १२॥

(१) **मर्यतः**=प्रकृति के पीछे मरनेवाले, उसकी प्राप्ति के लिये अत्यन्त लालायित, **वधूयोः**=प्रकृति को अपनी वधू बनाने की कामनावाले के **वार्येण पन्यसा**=वरणीय सुन्दर स्तोत्र से यह प्रकृति **कियती परिप्रीता**=कितनी प्रसन्न हो सकती है? अर्थात् यदि हम इन प्राकृतिक भोगों के पीछे दौड़ते हैं तो ये प्राकृतिक भोग हमारा देर तक कल्याण नहीं कर सकते। प्रकृति के पीछे मरनेवाले को यह प्रकृति देर तक प्रसन्न नहीं कर सकती। (२) यह तो तभी **भद्रा**-कल्याणकर तथा

वधूः=(वहति कार्यधुरं) व हमारे कार्यों का वहन करनेवाली **भवति**=होती है **यत्**=जब कि **सुपेशाः**=सुन्दर आकृति को जन्म देनेवाली **सा**=वह प्रकृति **जने चित्**=लोगों में निश्चय से **स्वयम्**=अपने आप **मित्रं वनुते**=मित्र को सम्भक्त करती है, प्राप्त होती है। हम प्रकृति के पीछे न मरें, प्रकृति वरण के लिये लालायित न हों, प्रकृति ही हमारा वरण करे। जब प्रकृति हमारा वरण करती है तो यह हमारे कल्याण के लिये होती है और हमारे कार्यों की पूर्ति के लिये होती है, हमारे जीवनों को यह सुन्दर आकार देती है (भद्रा वधू-सुपेशाः)।

भावार्थ—प्रकृति को हम अपना मित्र बनायें, इसे वधू बनाने के लिये लालायित न हों। यह देर तक हमें सन्तुष्ट न कर सकेगी।

ऋषिः—**वसुक्र ऐन्द्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

नति से उन्नति (नम्रत्वेनोन्नमन्तः)

प॒त्तो ज॑गार प्र॒त्यञ्च॑मत्ति शी॒र्ष्णा शिरः॒ प्रति॑ दधौ॒ वरू॑थम्।

आसी॑न ऊ॒र्ध्वामु॒पसि॑ क्षिणाति॒ न्यङ्ङु॑त्ता॒नामन्वे॑ति॒ भूमि॑म्॥ १३॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार प्रकृति को मित्र बनानेवाला व्यक्ति **पत्तः**=(पद् गतौ) गति के दृष्टिकोण से, अर्थात् शरीर यात्रा चलती रहे इसीलिए **जगार**=भोजन करता है। (२) यह **प्रत्यञ्चम्**=प्रत्येक व्यक्ति की ओर जानेवाले भोजन को **अत्ति**=खाता है, अर्थात् यज्ञ में आहुति देकर और इस यज्ञ के द्वारा सभी को कुछ भोजनांश प्राप्त कराके ही भोजन को करता है। अकेला न खाकर सदा यज्ञशेष का सेवन करता है। (२) **वरूथम्**-अपने धन को (wealth) **शीर्ष्णा शिरः**=(per head) प्रति व्यक्ति के लिये **प्रतिदधौ**=धारण करता है। यह राजा को कर के रूप में धन देता है, राजा उस धन का विनियोग सारी प्रजा के हित के लिये करता है। (३) **उपसि आसीनः**=उपासना में स्थित हुआ-हुआ यह व्यक्ति **ऊर्ध्वाम्**=इस (get the upper hand) प्रबल हुई-हुई प्रकृति को **क्षिणाति**=(हिनस्ति) नष्ट करता है, अर्थात् उपासना के द्वारा यह इस प्रकृति को अपने पर प्रबल नहीं होने देता। (४) **न्यङ्**=(नि अञ्च्) सदा नम्रता से गति करता हुआ यह **उत्तानां भूमिं अन्वेति**-उन्नत प्रदेश को, उन्नत स्थिति को प्राप्त करता है। नम्रता से चलता हुआ यह सदा उन्नत होता जाता है। भर्तृहरि के शब्दों में 'नम्रत्वेनोन्नमन्तः' ये लोग नम्रता से उन्नत होते हैं।

भावार्थ—हम यज्ञशेष को खानेवाले बनें, शरीर यात्रा को चलाने के लिये हमारा भोजन हो, प्रकृति को हम अपने पर प्रबल न होने दें और नम्रता से चलते हुए उन्नति को प्राप्त हों।

ऋषिः—**वसुक्र ऐन्द्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

उन्नति का स्वरूप

बृ॒हन्न॑च्छा॒यो अ॑पला॒शो अर्वा॑ त॒स्थौ मा॒ता विषि॑तो अत्ति॒ गर्भः॑।

अ॒न्यस्या॑ व॒त्सं रि॑ह॒ती मि॑माय॒ कया॑ भु॒वा नि द॑धे धे॒नुरूधः॑॥ १४॥

(१) गत मन्त्र की समाप्ति पर कहा था कि 'उत्तान भूमि को प्राप्त करता है'=उन्नत स्थिति को प्राप्त करता है। उस उन्नत स्थिति का चित्रण करते हुए कहते हैं कि—(क) **बृहन्**=(बृहि वृद्धौ) यह वृद्धि को प्राप्त होनेवाला होता है प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति करता है, शरीर के अंग-प्रत्यंगों की शक्ति को बढ़ाता है, (ख) **अच्छायः**=(तमो वर्जितः सा०) अन्धकार से रहित जीवनवाला होता है अथवा 'छादेर्भेदने' भेदन की वृत्तिवाला नहीं होता, तोड़-फोड़ के ही काम नहीं करता

रहता, सदा आलोचक न बना रहकर स्वयं कार्य में प्रवृत्त होता है। (ग) **अपलाशः**-(अ+पलाश unkind, cruel) यह क्रूर नहीं होता। सो यह 'अ+पल+आश' मांस भोजन में प्रवृत्त नहीं होता। अथवा 'अ+पर+आश'-दूसरों के भोजन को खानेवाला नहीं होता, परपिण्डोपजीवी नहीं होता। समाज में parasite बनकर समाज शरीर को हानि पहुँचानेवाला नहीं होता। (घ) **अर्वा**-(going, moving, running) गतिशील होता है, (अर्व् To kill) गतिशीलता के द्वारा बुराइयों का संहार करनेवाला होता है। (ङ) **माता**-निर्माण करनेवाला होकर **तस्थौ**-जीवन में स्थित होता है। सदा निर्माणात्मक कार्यों में रुचिवाला होता है। (च) **विषितः**-(अबद्धः) अनासक्त होकर, शरीर रक्षा के लिये ही **अत्ति**-सांसारिक भोग्य पदार्थों का ग्रहण करता है। कभी स्वाद के लिये नहीं खाता। (छ) **गर्भः**-(गिरति अनर्थान् नि० १०।२३) अनर्थों को नष्ट करनेवाला होता है, वस्तुतः अनासक्तभाव से संसार में चलने का यह स्वाभाविक परिणाम है कि अवाञ्छनीय रोगादि उत्पन्न न हों। (२) **अन्यस्याः** (strange) इस असाधारण वेदवाणी के (अन्या=Not drying up) कभी न सूखनेवाली सरस्वती नदी रूप इस वाणी के **वत्सं (वदति)** उच्चारण करनेवाले को **रिहती**-चाटती हुई, जिस प्रकार गौ चाटकर बछड़े के शरीर को स्वच्छ कर देती है, इसी प्रकार यह वेदवाणी रूप गौ भी अपने वत्स को चाटकर शुद्ध बना देती है। **मिमाय**-यह वेदवाणी उसके जीवन का निर्माण करती है (निर्मिमीते)। (३) **धेनुः**-यह ज्ञानदुग्ध को देनेवाली वेदवाणीरूप गौ **कया भुवा**-बड़े आनन्दमय भाव से **ऊधः निदधे**-ज्ञानकोश को इस वत्स के लिये धारण करती है। ऊधस्-दुग्धकोश होता है, यहाँ वेदवाणीरूप गौ का ऊधस् उसका ज्ञानकोश है। यह वेदवाणी प्रेम से इसे अपने वत्स को प्राप्त कराती है। क्रुद्ध हुई-हुई माता बच्चे को दूध पिलाती है तो दूध उतना गुणकारी नहीं होता। सो यह वेदमाता तो आनन्दमय भाव से युक्त हुई-हुई ही अपने प्रिय को दूध पिलाती है। यह दूध उस 'वत्स' के जीवन का निर्माण करता है।

भावार्थ—वेदवाणी अपने ज्ञानदुग्ध के द्वारा हमारे जीवन का सुन्दरता से पोषण करे।

ऋषिः—**वसुक्र ऐन्द्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

दशम दशक से पूर्व ही

स॒प्त वी॒रासो॑ अध॒रादुदा॑यन्न॒ष्टोत्त॒रात्ता॒त्सम॑जग्मिर॒न्ते।
नव॑ प॒श्चाता॑त्स्थि॒विम॑न्त॒ आय॒न्दश॒ प्राक्सानु॒ वि ति॑र॒न्त्यश्नः॥ १५॥

(१) **सप्त**-सात **वीरासः**-(वि+ईर) विशिष्टरूप से शत्रुओं को कम्पित करनेवाले मरुत्, अर्थात् प्राणा **अधरात्**-नीचे से लेकर **उत् आयन्**-ऊपर तक आते हैं, ये प्राण, प्राणायाम के द्वारा सिद्धि के होने पर शरीर को नीरोग बनाते हैं, जरा ऊपर आकर मन को निर्मल करते हैं, कुछ और ऊपर उठकर ये बुद्धि को बड़ा तीव्र बना देते हैं। इस प्रकार ये प्राण मनुष्य को भी ऊपर उठानेवाले होते हैं। इस प्राण साधना के द्वारा योगदर्शन के शब्दों में 'ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्'-प्रकाश का आवरण क्षीण हो जाता है। 'धारणासु च योग्यता मनसः' मन की धारणाओं में योग्यता उत्पन्न होती है, मन को देश-विशेष में बाँधना सुगम हो जाता है। (२) इस प्राण साधना को ही परिणाम होता है कि **ते अष्ट**-शरीर में मेरुदण्ड के मूल से शिखर तक रहनेवाले वे आठ चक्र **उत्तरातात्**-ऊपर **समजग्मिरन्**-संगत होते हैं। मेरुदण्ड के मूल में मूलाधार चक्र है, शिखर पर सहस्त्रार चक्र। मूलाधार चक्र में ही कुण्डलिनी शक्ति का निवास है। यह प्राणों की उष्णता से कुण्डल को तोड़कर ऊपर उठती है और सुषुमणा नाड़ी में से होती हुई मेरुपर्वत के शिखर पर स्थित सहस्त्रार चक्र के स्थान तक पहुँचती है। (३) **नव**-पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ और वाणी व जिह्वा

के दोनों ओर होने से ये नौ की नौ इन्द्रियाँ, विषयों से व्यावृत्त होकर **स्थिविमन्तः**='स्थानमन्तः' विषयों में न भटकने से स्थित हुई हुई **पश्चात्तात्**=पीछे **आयन्**=आ जाती हैं, यही इन्द्रियों का 'प्रत्याहार' कहलाता है। (४) इस प्रकार प्रत्याहार की साधना करके **दश-प्राक्**=दसवें दशक से पूर्व ही (दशभ्यः प्राक्), अर्थात् मरण से पूर्व ही 'प्राक् शरीर विमोक्षणात्' **अश्नः**-(अशनवतः) बड़ा खानेवाले, अर्थात् न रजनेवाले इस काम के **सानु**-शिखर को **वितिरन्ति**-नष्ट कर डालते हैं। शरीर मोक्ष से पूर्व ही काम के वेग को जीतना आवश्यक है। यदि हम इसे नहीं जीतते तो यह हमारा नाश कर देता है। इसका नाश हमारे जीवन का कारण बनता है। काम के सिर को कुचल देना ही, इसे दबा देना ही, वश में कर लेना ही इसके शिखर का नाश है।

भावार्थ—सप्त प्राण, अष्ट चक्र व नव द्वार हमारे स्वस्थ व स्वाधीन हों और हम मृत्यु से ही पूर्व ही काम-क्रोधोद्भव वेग को जीतनेवाले हों।

ऋषिः-**वसुक्र ऐन्द्रः**॥ देवता-**इन्द्रः**॥ छन्दः-**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

जगतः पितरौ

दुशानामेकं कपिलं समानं तं हिन्वन्ति क्रतवे पार्याय।
गर्भं माता सुधितं वक्षणास्ववेनन्तं तुषयन्ती बिभर्ति॥ १६॥

(१) प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु पिता है, प्रकृति माता है। संसार में सब व्यक्ति **क्रतवे**=यज्ञों के लिये तथा **पार्याय**=कर्मों के पार जाने के लिये, अर्थात् उन यज्ञादि कर्मों में सफलता के लिये **तं हिन्वन्ति**=उस प्रभु को प्राप्त करते हैं जो कि **दशानाम्**-दसों इन्द्रियों के **एकम्**-अद्वितीय **कपिलम्**-(कवृवर्णे, कपिं लाति) रंग के भरनेवाले, अर्थात् उस-उस इन्द्रिय को अमुक-अमुक शक्ति प्राप्त करानेवाले अथवा (कम्प् गतौ) प्रत्येक इन्द्रिय को गतिशील बनानेवाले, अपने-अपने कार्य में समर्थ करनेवाले हैं और **सम् आनम्**=सम्यक्तया प्राणशक्ति का संचार करनेवाले हैं। हृदयस्थ रूपेण प्रभु अपने पुत्र जीव को सदा उत्साह युक्त मनवाला करते हैं और उसे सोत्साह बनाकर प्रत्येक कर्म में सफल करते हैं। 'यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्' इत्यादि केनोपनिषद् के वाक्यों से यह स्पष्ट है कि प्रभु ही इन्द्रियों को कार्य समर्थ बनाते हैं। (२) इस प्रभु से उत्साह व शक्ति को प्राप्त करके **गर्भम्**=(गिरति अनर्थम्) अनर्थों के समाप्त कर देनेवाले, विघ्न-बाधाओं से न घबराकर उन्हें पार कर जानेवाले और अतएव **वक्षणासु**-(वक्ष To grow) आर्थिक, शारीरिक, मानस व बौद्ध सभी प्रकार की उन्नतियों में **सुधितम्**-उत्तमता से स्थापित, ऐसा होते हुए भी **अवेनन्तम्**=इन सांसारिक वस्तुओं की कामना न करते हुए (अकामयमानम्) अथवा 'अ'=प्रभु की ही कामनावाले पुरुष का **माता**=यह निर्माण करनेवाली प्रकृति माता **तुषयन्ती**=जीव की उन्नति से अन्दर ही अन्दर सन्तोष का अनुभव करती हुई **बिभर्ति**=उसका भरण व पोषण करती है। प्रकृति उसे किसी आवश्यक वस्तु की कमी नहीं रहने देती। इन वस्तुओं के ठीक से प्राप्त होते रहने पर ही उन्नति स्थिर रहती है। प्रभु उत्साह देकर मन को उन्नत करते थे तो प्रकृति सब आवश्यक खान-पान का सामान प्राप्त कराके उसके शरीर को पुष्ट करती है और जीव को उन्नत होते हुए देखकर सन्तुष्ट होती है।

भावार्थ—प्रभु हमारे पिता हैं, वे हमारे में उत्साह का संचार करते हैं। प्रकृति माता है, वह हमारे खान-पान का पूरा ध्यान करती है।

ऋषिः—**वसुक्र ऐन्द्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

पीवान् मेष का पचन

पीवानं मेषमपचन्त वीरा न्युप्ता अक्षा अनु दीव आसन्।
द्वा धनुं बृहतीमप्स्वं१न्तः पवित्रवन्ता चरतः पुनन्ता॥ १७॥

(१) १५वें मन्त्र में वर्णित **वीरा**=सात प्राण मनुष्य को **पीवानम्** (stout and strong) अत्यन्त सुदृढ़ शरीरवाला तथा **मेषम्** (मिष्) औरों पर सुखों की वर्षा करनेवाला **अपचन्त**=बनाते हैं। प्राण इसके जीवन का परिपाक इस रूप में करते हैं कि यह सशक्त शरीरवाला बनता है और अपनी शक्ति के द्वारा औरों के कष्टों का निवारण करके उनपर सुखों की वर्षा करता है। (२) **न्युप्ताः**=(निक्षिप्ताः) विषयों से व्यावृत्त होकर मन में ही क्षिप्त हुई हुई अतएव **अक्षाः**=स्थिर इन्द्रियाँ **दीवे**-द्योतन व प्रकाशन की क्रिया में **अनु आसन्**-अनुकूल होती हैं। जब तक इन्द्रियाँ विषयों में फँसी होती हैं तब तक अन्तःप्रकाश का सम्भव ही नहीं होता। विषयों से ये आवृत्त हुई और अन्दर स्थिर हुई और अन्तःप्रकाश चमक उठा। स्थिर इन्द्रियोंवाला पुरुष ही प्रभु के प्रकाश को देखता है। (३) **द्वा**-मस्तिष्क व हृदय ये दोनों मिलकर 'मूर्धानमस्य संसीव्य अथर्वा हृदयं च यत्', **अप्सु अन्तः** सदा कर्मों में रहते हुए **पवित्रवन्ता**=मानस पवित्रतावाले तथा **पुनन्ता**-शरीर को रोगों से रहित व शुद्ध करते हुए **बृहतीं धनुम्**-वृद्धि के कारणभूत धनुष को **चरतः**-बनाते हैं। इस धनुष का एक सिरा मस्तिष्क है और दूसरा सिरा हृदय। धनुष् की इन दोनों कोटियों को परस्पर गुणित कर देने पर ही यह धनुष पूर्ण होता है और कार्य को करने में समर्थ होता है। विद्या व श्रद्धा रूप कोटियोंवाले इस धनुष से चलाया हुआ कर्मरूप तीर अत्यन्त शक्तिशाली होता है। ये कर्म मनुष्य की वृद्धि के कारण बनते हैं। धनुष शोभा के लिये ही नहीं है यह कर्मरूप तीर को चलाने के लिये हैं। ज्ञान व श्रद्धा को प्राप्त करके हमें कर्मशील बनना है। अकर्मण्यता से शरीर व मन के मैलों के फिर से आ जाने का खतरा है।

भावार्थ—प्राणसाधना शरीर शक्ति-सम्पन्न व परहित साधक बनाती है। स्थिर हुई-हुई इन्द्रियाँ अन्तःप्रकाश की अनुकूलता का कारण होती हैं। श्रद्धा व विद्या मिलकर उस धनुष को बनाते हैं जो हमारी वृद्धि का कारण बनता है।

ऋषिः—**वसुक्र ऐन्द्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

मामनुस्मर युध्य च (अमांसभोजन)

वि क्रोशनासो विष्वञ्च आयन्पचाति नेमो नहि पक्षदर्धः।
अयं मे देवः सविता तदाह द्रूवन्न इद्वनवत्सर्पिरन्नः॥ १८॥

(१) **वि क्रोशनासः**-विशिष्टरूप से उस प्रभु का आह्वान करनेवाले और **विष्वञ्चः**=विविध उत्तम कर्मों में गतिवाले व्यक्ति ही **आयन्**=प्रभु के समीप आते हैं। इस संसार में जीवन यात्रा को उत्तमता से चलाने का मार्ग यही है कि हम प्रभु का स्मरण करें (वि क्रोशानसः) और उत्तम कर्मों में लगे रहें (विश्वञ्चः)। प्रभु के स्मरणपूर्वक कार्यों को करना कर्मों की पवित्रता को बनाए रखता है। यह प्रभुस्मरण कर्म करने की शक्ति भी देता है। वस्तुतः अपने जीवन को परिपक्व करने के लिये यही प्रकार है कि 'प्रभुस्मरण पूर्वक कर्मों में लगे रहा जाये'। (२) संसार में उत्पन्न हुए-हुए व्यक्तियों में से **नेमः**-आधे ही **पचाति**-अपने जीवन को परिपक्व करते हैं। कुछ ही व्यक्तियों को जीवन के निर्माण का ध्यान आता है। संसार के विषय कुछ ऐसा विचित्र आकर्षण रखते हैं कि मनुष्य को अपने जीवन की साधना का ध्यान ही नहीं आता, वह विषयों में ही फँसा रह जाता

है। **अर्धः पक्षत्**=आधे लोग अपना परिपाक करते हैं। वे विषय-वासनाओं से अपने जीवन को सुरक्षित रखते हुए अपने परिपाक के लिये यत्नशील होते हैं। (३) इस जीवन में ठीक परिपाक करने के लिये **अयम्**-इस **सविता देवः**-प्रेरणा देनेवाले दिव्यगुणों के पुञ्ज प्रभु ने **तत् आह**=यह बात कही है कि **द्रु-अन्नः**-(द्रु-tree) वानस्पतिक भोजनवाला अथवा **सर्पिरन्नः**=गोघृत आदि का भोजन करनेवाला ही **इत्**=निश्चय से **मे वनवत्**=मेरा उपासन करता है। मांसाहारी प्रभु का उपासक नहीं हो सकता, मांसाहारी अपने मांस के पोषण का ही ध्यान करता है, वह प्रभु की ओर झुकाववाला नहीं हो सकता। प्रभु-भक्त सभी प्राणियों को प्रभु पुत्र समझने के कारण भी उनमें बन्धुत्व का अनुभव करता है और उसके लिये मांस के खाने का सम्भव नहीं रहता। संक्षेप में, जीवन के ठीक परिपाक के लिये मांसाहार अनुकूल नहीं है।

भावार्थ—हम प्रभु स्मरण के साथ अपने विविध कर्त्तव्यों के पालन में लगे रहें। वानस्पति भोजन को अपनाकर अपने जीवन का ठीक से परिपाक करें।

ऋषिः—**वसुक्र** ऐन्द्रः॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

सद्गृहस्थ का धारक प्रभु

अपश्यंग्रामं वहमानमारादचक्रया स्वधया वर्तमानम्।
सिषक्त्यर्यः प्रयुगा जनानां सद्यः शिश्ना प्रमिनानो नवीयान्॥ १९॥

(१) **ग्रामं वहमानम्**=प्राणि समूह को धारण करनेवाले व उन्नतिपथ पर आगे ले चलनेवाले प्रभु को **आरात्**=अपने समीप ही, अपने अन्दर ही **अपश्यम्**=देखता हूँ। वे प्रभु अपनी इस वहन क्रिया में **अचक्रया**=बिना किसी चक्रवाली **स्वधया**=अपनी धारण शक्ति से ही **वर्तमानम्**=प्रवृत्त हैं। प्रभु को किन्हीं सवारियों की आवश्यकता हो, सो बात नहीं है। (२) वह उत्पन्न जगत् का **अर्यः**=स्वामी प्रभु **जनानाम्**=लोगों के **युगा**=युगों को, अर्थात् पति-पत्नी रूप द्वन्द्व को **प्रसिषक्ति**=प्रकर्षेण प्राप्त होता है। जो भी लोग गृहस्थ के भार को पूर्ण कर्त्तव्यभावना के साथ उठाते हैं उन्हें प्रभु का साहाय्य सदा प्राप्त होता है। 'दुःखमित्येव यत्कर्मकायक्लेशभयात्त्यजेत्' इन शब्दों के अनुसार जो व्यक्ति 'कौन इतना बोझ उठायेगा' इस विचार से घबराकर गृहस्थ होने से भागते हैं, वे प्रभु के प्रिय नहीं होते। (३) वे प्रभु **शिश्ना**-भोग प्रधान जीवनवाले अथवा औरों की हिंसा करनेवाले लोगों को **सद्यः**=शीघ्र ही **प्रमिनानः**=हिंसित करते हैं। प्रभु की रक्षा के पात्र वे ही होते हैं जो भोग प्रधान जीवनवाले नहीं तथा जो औरों की हिंसा करनेवाले नहीं। (४) ये प्रभु **नवीयान्**=अतिशयेन स्तुति के योग्य हैं (नु स्तुतौ)। इनका स्तवन हमें जीवन मार्ग का प्रदर्शन कराता है।

भावार्थ—प्रभु ही सारे ब्रह्माण्ड को धारण कर रहे हैं। वे सद्गृहस्थों को प्राप्त होते हैं और विलासी पुरुषों की हिंसा करते हैं। इस प्रभु का स्तवन हमारे सामने एक लक्ष्य-दृष्टि पैदा करता है और हम ब्रह्म जैसा बनने का प्रयत्न करते हैं।

ऋषिः—**वसुक्र** ऐन्द्रः॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

समुद्र जल-सूर्य व मेघ में प्रभु-दर्शन

एतौ मे गावौ प्रमरस्य युक्तौ मो षु प्र सेधीर्मुहुरिन्ममन्धि।
आपश्चिदस्य वि नशन्त्यर्थं सूरश्च मर्क उपरो बभूवान्॥ २०॥

(१) **एतौ**-ये **मे**=मेरी **गावौ**=(गावः इन्द्रियाणि) ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप दो गौवों **प्रमरस्य**=शत्रुओं को प्रकर्षेण नष्ट करनेवाले उस प्रभु से **युक्तौ**=शरीर-शकट के अन्दर जोती गयी हैं। प्रभु

ने मेरे इस शरीर शकट को सुचारुरूपेण चलाने के लिये इसमें ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप दो बैल (गावौ) जोते हैं। प्रभु ने ये इन्द्रियाँ दी हैं जिससे हम जीवन यात्रा में आगे और आगे चल सकें। (२) **मा उ सु प्रसेधीः**-हे प्रभो! आप इनको मेरे इस-रथ से (मा अपगमय) अलग न करिये। ये इसमें ठीक से जुती ही रहें। इनका कार्य ठीक प्रकार से चलता रहे। इन इन्द्रियों (ख) के ठीक (सु) होने को ही तो 'सुख' कहते हैं, इनका विकृत (दुः) होना ही दुःख है। इस प्रकार इन्हें मेरे से अपगत न करके **मुहुः** और अधिक **उन्ममन्धि** उत्कृष्ट हर्ष से युक्त करिये। (३) **अस्य** इस स्तोता को **आपः चित्** ये समुद्र के विस्तृत जल भी **अर्थम्** उस गन्तव्य प्रभु को **विनशन्ति**-(attain, To reach) प्राप्त कराते हैं, अर्थात् इन समुद्र के विस्तृत जलों में उसे प्रभु की महिमा दिखती है। **च** और **मर्कः**-शोधीयता अपने संतापयुक्त किरणों के द्वारा सब मलों को दग्ध करके शोधन का करनेवाला **सूरः**-सूर्य भी प्रभु को प्राप्त करानेवाला होता है। सूर्य में भी उसे प्रभु की महिमा दिखती है। यह **बभूवान्**-सब प्रकार के अन्नादि की उत्पत्ति का कारणभूत **उपरः**-मेघ भी उस प्रभु को प्राप्त करानेवाला होता है।

भावार्थ—हमारी इन्द्रियाँ ठीक से कार्य करती रहें और हम समुद्र जलों में, सूर्य में तथा मेघों में प्रभु की विभूति को देखनेवाले हों।

ऋषिः-**वसुक्र ऐन्द्रः**॥ देवता-**इन्द्रः**॥ छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

'कर्म ज्ञान व उपासना' का समन्वय

अयं यो वज्रः पुरुधा विवृत्तोऽवः सूर्यस्य बृहतः पुरीषात्।
श्रव इदेना परो अन्यदस्ति तदव्यथी जरिमाणस्तरन्ति॥ २१॥

(१) **सूर्यस्य**-सूर्य के **बृहतः**-विशाल **पुरीषात्**-उदक से **अवः**-नीचे, अर्थात् द्युलोक में सूर्य स्थित है, इस सूर्य की किरणों से अन्तरिक्ष में विशाल जल की मेघरूप में स्थापना होती है, उससे नीचे इस पृथ्वीलोक पर **अयम्**-यह **यः**-जो **वज्रः** क्रियाशीलतारूप वज्र प्रभु ने दिया है। यह वज्र इन्द्र से **पुरुधा विवृत्तः**-नाना प्रकार से प्रवृत्त होता है। इस क्रियाशीलता से जीव नाना प्रकार के कर्म किया करता है। कर्ममेघ से ही वह 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र' कहलाने लगता है। इस प्रकार जीव प्रभु से शक्ति को प्राप्त करके विविध कार्य करता है। यही उसका कर्मकाण्ड को अपनाना है। (२) **एना**-इस कर्मकाण्ड से **परः**-उत्कृष्ट **अन्यत्**-दूसरा **इत्**-निश्चय से **श्रवः**-ज्ञान **अस्ति** है। ये व्यक्ति कर्म के साथ ज्ञान को अपनाते हैं। ज्ञान ही तो उनके कर्मों की पवित्रता का कारण होता है। (३) **तत्**-सो इस प्रकार कर्म व ज्ञान को अपनाकर **अव्यथी**-ये व्यथा से रहित होते हैं। कोई भी कर्मशील व्यक्ति भूखा नहीं मरता। यदि कर्म के साथ वह ज्ञान को भी अपनाता है और इस प्रकार अपने कर्मों को पवित्र कर लेता है, तब तो उसके पीड़ित होने का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। (४) इस प्रकार ज्ञानपूर्वक कर्मों के द्वारा **जरिमाणः** प्रभु का स्तवन करनेवाले ये लोग **तरन्ति** भवसागर को तैर जाते हैं। सब पापों से परे होने के कारण इन्हें फिर इस जन्म-मरण चक्र में नहीं आना पड़ता।

भावार्थ—हम 'कर्म ज्ञान व स्तवन' को अपनाकर इस भवसागर को तैरनेवाले हों।

ऋषिः-**वसुक्र ऐन्द्रः**॥ देवता-**इन्द्रः**॥ छन्दः-**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

वृक्ष में बद्ध गौ

वृक्षेवृक्षे नियता मीमयद्गौस्ततो वयः प्र पतान्पूरुषादः।
अथेदं विश्वं भुवनं भयात इन्द्राय सुन्वदृषये च शिक्षत्॥ २२॥

(१) **वृक्षे वृक्षे**-प्रत्येक शरीररूप वृक्ष में हृदयस्थ प्रभु से **गौः**-वेदवाणी **नियता**-बद्ध की गई है और वह **मीमयत्** वेदवाणी रूप गौ शब्द करती है। यह ठीक है कि इस शब्द को सब कोई सुनता नहीं है। (२) **ततः** इन वेदवाणी के शब्दों से **पूरुषादः**-(पुरुषात् अदन्ति ब्रह्म चरन्ति)-उस प्रत्येक शरीर में वास करनेवाले प्रभु से ज्ञान प्राप्त करनेवाले **वयः**-(वय् गतौ way) मार्ग पर चलनेवाले प्रशस्तेन्द्रिय पुरुष **प्रपतान्** प्रकृष्ट मार्ग से जाते हैं, उन्नतिपथ पर आगे बढ़ते हैं। (३) **अथ**=अब **इदम्**=यह **विश्वम्**=सब **भुवनम्**=लोक **भयाते**-उस प्रभु से भय करता है। उसके भय से ही 'अग्नि तपती है, सूर्य चमकता है, मेघ, वायु व मृत्यु भी उस प्रभु के शासन में ही अपने-अपने कार्य को करते हैं'। (४) **इन्द्राय**-उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिये **सुन्वत्**-अपने शरीर में सात्त्विक आहार से सोम (-वीर्य) का अभिषव करता है। इस सोम के शरीर में पान करने से ही वह उस सोम 'परमात्मा' को पानेवाला बनता है **च**=और **ऋषये**-उस प्रभु के दर्शन के लिये, ऋषि बनने के लिये **शिक्षत्**-विद्या का उपादान करता है। यह विद्या ही तो उसे ब्रह्म का साक्षात्कार करानेवाली होती है 'परा (विद्या) यया तदक्षरमधिगम्यते'। प्रभु दर्शन इस प्रकार ऋषियों की तीव्र बुद्धि से ही हो सकता है 'दृश्यते त्वग्र्या बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः'।

भावार्थ—हम हृदयस्थ प्रभु से उच्चारित वेदवाणी को सुनें। प्रभु के भय से सदा उत्कृष्ट मार्ग पर चलें। उस प्रभु के दर्शन के लिये सोम का रक्षण करें और शिक्षा का उपादान करते हुए ऋषि बनें।

ऋषिः—**वसुक्र ऐन्द्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

ज्ञान प्राप्ति में सर्वप्रथम

देवानां माने प्रथमा अतिष्ठन्कृन्तत्रादेषामुपरा उदायन्।
त्रयस्तपन्ति पृथिवीमनूपा द्वा बृबूकं वहतः पुरीषम्॥ २३॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार ऋषि बननेवाले लोग **देवानाम्**=पृथिवीस्थ ग्यारह, अन्तरिक्षस्थ ग्यारह और द्युलोकस्थ ग्यारह, इस प्रकार कुल तेंतीस देवों के **माने**-मापने में, ज्ञान प्राप्त करने में **प्रथमाः अतिष्ठन्**=प्रथम स्थान में स्थित होते हैं, अर्थात् ये लोग देवों का ऊँचे से ऊँचा ज्ञान प्राप्त करते हैं, इनके ज्ञान से ही तो इन्हें महादेव का ज्ञान प्राप्त होगा। (२) इस प्रकार ज्ञान के द्वारा **कृन्तत्रात्**=वासनाओं के काटने के द्वारा **एषाम्**=इनके **उपराः**=निचले प्रदेश (Lower regions) **उद् आयन्**=ऊर्ध्वगतिवाले होते हैं। सबसे नीचे मूलाधार चक्र हैं, यहाँ स्थित कुण्डलिनी शक्ति ऊर्ध्वगतिवाली होती हुई सर्वोत्कृष्ट देश में पहुँचती है। (३) अब **त्रयः अनूपाः**=इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि ये तीनों शरीर में क्रम से प्रविष्ट होकर व्याप्त होनेवाले **पृथिवीम्**-शरीर को **तपन्ति**=खूब दीप्त करते हैं। इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि सभी ज्ञान की वृद्धि के द्वारा शरीर को प्रकाशमय बनाते हैं। (४) **द्वा**=प्राण और अपान ये दोनों **पुरीषम्**=शरीर का पालन व पोषण करनेवाले **बृबूकम्**=जल को, रेतःरूप में स्थित अप् तत्त्व को **वहतः**=धारण करनेवाले होते हैं। प्राणापान की साधना से रेतःकणों की ऊर्ध्वगति होती है, इन रेतःकणों का शरीर में ही धारण होता है। शरीर में धारित रेतःकण सब प्रकार की उन्नति के कारण बनते हैं।

भावार्थ—हम देवों का ज्ञान प्राप्त करें। चक्रों की ऊर्ध्वगति करते हुए शरीर को दीप्त करें, प्राणसाधना द्वारा रेतःकणों को शरीर में ही धारण करें।

ऋषिः—**वसुक्र ऐन्द्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

जीवनौषध

सा ते जीवातुरुत तस्य विद्धि मा स्मैतादृगप गूहः समर्ये।
आविः स्वः कृणुते गूहते बुसं स पादुरस्य निर्णिजो न मुच्यते॥ २४॥

(१) **सा**=गत मन्त्र में वर्णित वीर्य की ऊर्ध्वगति ही **ते जीवातुः**-तेरी जीवनौषध है। **उत**-और **तस्य विद्धि**-उसको तू अच्छी तरह जान, अर्थात् वीर्य की ऊर्ध्वगति के महत्त्व को तू अच्छी तरह समझ ले। (२) **एतादृग्**-ऐसा तू वीर्य रक्षा के महत्त्व को समझनेवाला तू **अर्ये**-उस संसार के स्वामी प्रभु में **मा स्म**-मत **सं अपगूहः** अपने को संवृत कर (गूह संवरणे), अर्थात् प्रभु से अपने को छिपाने की कोशिश मत कर। प्रभु के सदा सामने रह। (३) यह सदा प्रभु के सामने रहनेवाला व्यक्ति **स्वः**-आत्म प्रकाश को, सुख को **आविः कृणुते**=प्रकट करता है। इसका जीवन प्रकाशमय व सुखमय होता है। यह **बुसं गूहते**-यह रेतस् के रूप में रहनेवाले अप् तत्त्व को अपने में संवृत व सुरक्षित करता है। (४) **अस्य निर्णिजः**-इस अपने जीवन को शुद्ध करनेवाले का **स पादुः**-वह आचरण (पद गतौ चर गतौ) **न मुच्यते** कभी इससे छूटता नहीं, यह सदा अपने जीवन में प्रभु का स्मरण करता है और वीर्यरक्षा पर बल देता है।

भावार्थ—वीर्यरक्षा ही जीवनौषध है, इसके लिये प्रभु का अविस्मरण आवश्यक है।

सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से हुआ है कि हम सुन्नन् यजमान बनें। (१) अदेवयु पुरुष परस्पर लड़कर नष्ट हो जाते हैं, (२) भौतिकता के साथ युद्ध जुड़े हुए हैं, (३) ऐश्वर्यों का यज्ञों में विनियोग करनेवालों का प्रभु रक्षण करते हैं, (४) प्रभु की व्यवस्था को कोई रोक नहीं सकता, (५) शराबियों पर प्रभु का वज्रपात होता है, (६) वे सर्वव्यापक प्रभु हमारे शत्रुओं का नाश करनेवाले हैं, (७) इन्द्रियाँ गौवें हैं और मन ग्वाला व आत्मा स्वामी है, (८) इस चित्त को काबू करनेवाला योगी सारे संसार को अपना परिवार समझता है, (९) योगी एकत्व को देखता है तो भोगी प्रभु को भूल जाता है, (१०) हम कभी प्राकृतिक पदार्थों का अतियोग न करें, (११) प्रकृति को हम अपना मित्र बनाएँ न कि पत्नी, (१२) इस बात को न भूलें कि नम्रता से ही उन्नति होती है, (१३) वेदवाणी अपने ज्ञानदुग्ध से हमारे जीवन का सुन्दर पोषण करती है, (१४) हमारा प्रयत्न यह हो कि हम दशम दशक से पूर्व ही काम के वेग को जीत लें, (१५) प्रभु व प्रकृति को अपना पिता व माता जानें, (१६) प्राणसाधना द्वारा शरीर आदि का ठीक परिपाक करें, (१७) प्रभु स्मरण पूर्वक कर्मों में लगे रहें, (१८) प्रभु सद्गृहस्थों को प्राप्त होते हैं, (१९) इस प्रभु की महिमा समुद्र जल, सूर्य व मेघ में होती है, (२०) कर्म ज्ञान व उपासना का समन्वय ही हमें तरायेगा, (२१) प्रत्येक शरीर में वेदवाणी रूप गौ बद्ध है, (२२) उसके द्वारा हम ज्ञान प्राप्ति में सर्वप्रथम हों, (२३) वीर्यरक्षा को ही जीवनौषध समझें, (२४) हमारा यही प्रयत्न हो कि हमारे जीवन में वासनाओं की प्रबलता न होकर प्रभु का आगमन हो।

[२८] अष्टाविंशं सूक्तम्

ऋषिः—**इन्द्रवसुक्रयोः संवाद ऐन्द्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

वह श्वशुर

विश्वो ह्य१न्यो अरिराजगाम ममेदह श्वशुरो ना जगाम।
जक्षीयाद्धाना उत सोमं पपीयात्स्वाशितः पुनरस्तं जगायात्॥ १॥

(१) **विश्वः**=सारे **हि**=ही **अन्यः**=दूसरे **अरिः**='काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर' आदि शत्रु तो **आजगाम**=मेरे जीवन में खूब ही आये हैं, पर **मम**=मेरे **श्व-शुरः**=सर्व प्रथम प्राप्त होनेवाला नायक प्रभु तो **इत्**=निश्चय से **अह**=ही **न आजगाम**=नहीं आये हैं। काम-क्रोध आदि का तो खूब जोर रहा, पर प्रभु का दर्शन नहीं हुआ। (२) जिस समय जीव इस प्रकार उपालम्भ भरे शब्दों में प्रभु के न आने की बात कहता है तो प्रभु कहते हैं कि जब जीव यह चाहता है कि वासनाएँ उसे न सताएँ और वह आत्मदर्शन करनेवाला बने तो उसे चाहिए कि—(क) **धाना**=भृष्ट यवों को, भुने जौ को **जक्षीयात्**=खाये। उन वनस्पति भोजनों को ही करे क्योंकि वानस्पतिक भोजन मनुष्य की बुद्धि को सात्त्विक बनाते हैं। (ख) **उत**=और मनुष्य को चाहिए कि **सोमं पपीयात्**=सोम का पान करे। शरीर में **सोम**=वीर्य को सुरक्षित रखे अथवा ताजे गोदुग्ध का पान करे (सोमः पयः श० १२।७।३।१३)। (ग) इस प्रकार जौ व दूध आदि उत्तम भोजनों से **स्वाशितः**=उत्तम भोजनवाला व उत्तम तृप्तिवाला यह **पुनः**=फिर **अस्तं जागयात्**=अपने घर को आनेवाला हो, अर्थात् उन इधर-उधर भटकनेवाली चित्तवृत्तियों को काबू करके प्रातः-सायं अवश्य ध्यानावस्थित हों।

भावार्थ—जौ-दूध का प्रयोग तथा चित्तवृत्तिविरोध का अभ्यास ही हमें प्रभु-दर्शन करायेगा।

ऋषिः—**इन्द्रवसुक्रयोः संवाद ऐन्द्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

सुतसोम का रक्षण

स रो॑रु॒वद् वृ॑ष॒भस्ति॒ग्मशृ॑ङ्गो॒ वर्ष्म॑न्तस्थौ॒ वरि॑म॒न्ना पृ॑थि॒व्याः।
विश्वे॑ष्वेनं वृ॒जने॑षु पामि॒ यो मे॑ कु॒क्षी सु॒तसो॑मः पृ॒णाति॑॥ २॥

(१) **स**=वह, गत मन्त्र के अनुसार जौ व गोदुग्ध का प्रयोग करनेवाला तथा चित्तवृत्ति के निरोध का अभ्यासी पुरुष, **रोरुवद्**=खूब ही प्रभु के नामों का उच्चारण करता है। इस नामोच्चारण से वह अपने में प्रभु की शक्ति के संचार को करता हुआ **वृषभः**=शक्तिशाली बनता है औरों पर सुखों की वर्षा करनेवाला होता है। **तिग्मशृंगः**=तीक्ष्ण ज्ञान की रश्मियोंवाला होता है, इसकी इन प्रचण्ड ज्ञानरश्मियों में सब मल भस्मीभूत हो जाते हैं। अब यह **पृथिव्याः**=अन्तरिक्ष के, हृदयान्तरिक्ष के **वर्ष्मन्**=वरिष्ठ उन्नत प्रदेश में, द्वेषादि मलों के विध्वंस से निर्मल बने हुए प्रदेश में तथा **वरिमन्**=विशाल प्रदेश में **आतस्थौ**=सर्वथा स्थित होता है। यह अपने हृदय को निर्मल व विशाल बनानेवाला होता है। इसका शरीर शक्तिशाली बना है (वृषभः), मस्तिष्क—ज्ञानरश्मियों से उज्ज्वल, हृदय उत्कृष्ट व विशाल। (२) प्रभु कहते हैं कि इस प्रकार के जीवनवाला **यः**=जो कोई भी **सुतसोमः**=अपने अन्दर सोम=वीर्य को उत्पन्न करनेवाला **मे कुक्षी**=मेरी इन कोखों को **पृणाति**=पालित व सुरक्षित करता है, अर्थात् मेरे दिये हुए इस शरीर की कोखों में सोमरक्षण के द्वारा किसी प्रकार के रोग को उत्पन्न नहीं होने देता। **एनम्**=इसको **विश्वेषु**=सब **वृजनेषु**=संग्रामों में **पामि**=मैं सुरक्षित करता हूँ। काम क्रोधादि शत्रुओं के साथ चलनेवाले संग्रामों में इसे हारने नहीं देता।

भावार्थ—प्रभु सुतसोम पुरुष का रक्षण करते हैं।

ऋषिः—**इन्द्रवसुक्रयोः संवाद ऐन्द्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

वृषभ-परिपाक

अद्रि॑णा ते म॒न्दिन॑ इन्द्र॒ तूया॒न्त्सुन्व॑न्ति॒ सोमा॒न्पिब॑सि॒ त्वमे॑षाम्।
पच॑न्ति ते वृष॒भाँ अत्सि॒ तेषां॑ पृ॒क्षेण॒ यन्म॑घवन्हू॒यमा॑नः॥ ३॥

(१) गत मन्त्र में प्रभु ने जीव को सुतसोम बनने के लिये कहा था। उसका उत्तर देते हुए

वह कहता है कि हे **इन्द्र**-सोम का पान करनेवाले प्रभो! **ते मन्दिनः** तेरे स्तोता लोग **अद्रिणा** (अद्रिर्वज्रः) क्रियाशीलता के द्वारा अथवा (न दीर्यते) धर्म मार्ग से न विदृत होने के द्वारा **तूयान्**=विलम्ब न करनेवाले, अर्थात् शीघ्रता से कार्यों को करने की शक्ति को देनेवाले **सोमान्**-सोमों को, शक्ति कणों को **सुन्वन्ति** उत्पन्न करते हैं। **एषाम्** इन सोमकणों का **त्वम्** आप ही **पिबसि**=पान करते हो, अर्थात् इन सोमकणों की मेरे शरीर में ही रक्षा आपकी कृपा से होती है। आपका स्मरण मुझे वासना से ऊपर उठाता है और वासना से ऊपर उठने के कारण मैं सोम को सुरक्षित करने में समर्थ होता हूँ। (२) इस प्रकार **ते** तेरे ये भक्त **वृषभान् पचन्ति** अथवा परिपाक शक्तिशाली पुरुष के रूप में करते हैं, शक्तिशाली बनकर ये औरों पर सुखों की वर्षा करनेवाले होते हैं। (३) हे प्रभो! आप **तेषाम्**-उनके मार्ग में आनेवाले विघ्नों का **अत्सि**=संहार करते हैं (अद्=to destroy)। परन्तु यह विघ्नों का संहार आप कब करते हैं? **यत्**-जब कि **पृक्षेण**=(पृची संपर्के) आपके साथ सम्पर्क से, हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **हूयमानः**-पुकारे जाते हैं। ये भक्त प्रातः-सायं आपके साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करते हैं और शक्तिशाली बनकर, विघ्नों को दूर करते हुए, आगे बढ़ते हैं।

भावार्थ—क्रियाशीलता के द्वारा हम वासना से बचें। सोम के रक्षण से अपने को शक्तिशाली बनाएँ। प्रभु सम्पर्क से शक्तिशाली बनकर, विघ्नों को दूर करते हुए, हम आगे बढ़ें।

ऋषिः—**इन्द्रवसुक्रयोः संवाद ऐन्द्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

मूकं करोति वाचालम्

इ॒दं सु मे॑ जरित॒रा चि॑किद्धि प्रती॒पं शापं॑ न॒द्यो॑ वहन्ति।

लो॒पा॒शः सिं॒हं प्र॒त्यञ्च॑मत्साः क्रो॒ष्टा व॑रा॒हं निर॑तक्त कक्षा॑त्॥ ४॥

(१) हे **जरितः**-स्तोता! तू **मे**-मेरे विषय में **इदम्**-इस बात को **सु आचिकिद्धि**-अच्छी प्रकार पूरी तरह से समझ ले कि मेरी कृपा के होने पर अथवा एक व्यक्ति के जीवन में मेरा सम्पर्क होने पर **नद्यः**=नदियाँ **शापम्**=जल को **प्रतीपम्**-उलटा स्रोत की ओर **वहन्ति**-ले जानेवाली होती हैं। (२) **लोपाशः**-लुप्यमान (लुप् छेदने) तृणों को खानेवाला मृग **प्रत्यञ्चं सिंहम्**=अपनी ओर आते हुए शेर पर भी **अत्साः**-आक्रमण करता है वही बात प्रभु भक्त के जीवन में होती है कि वह हरिण से शेर बन जाता है। निर्बल 'शक्ति का पुञ्ज' बन जाता है। निर्बलता का स्थान शक्ति ले लेती है। (३) **क्रोष्टा**=गीदड़ **वराहम्** सूकर को **कक्षात्**-उसके छिपने के स्थान से निरन्तर बाहर निकालता है। 'गीदड़' कायरता का प्रतीक है। यह अब कायर न रहकर वीर बनता है और इतना वीर कि सूकर को भी उसके गुफा में से निकाल लाता है। इस प्रकार प्रभु सम्पर्क हमारी भीरुता को दूर करके हमें वीर बनाता है। (४) संक्षेप में, प्रभु भक्ति मनुष्य को—(क) असम्भव से असम्भव कार्यों को भी सम्भव कर देने के क्षम बनाती है। (ख) उसकी निर्बलता को नष्ट कर उसे शक्ति का पुञ्ज बनाती है। (ग) उसकी कायरता को दूर करके उसे वीर बना देती है।

भावार्थ—प्रभु-भक्त के लिये कुछ असम्भव नहीं रहता, वह शक्ति का पुञ्ज व वीर बनता है।

ऋषिः—**इन्द्रवसुक्रयोः संवाद ऐन्द्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु का मैं 'पाक' हूँ प्र और उसका 'पाक'

क॒था त॑ ए॒तद॒हमा चि॑केतं॒ गृत्स॑स्य॒ पाक॑स्त॒वसो॑ मनी॒षाम्।

त्वं नो॑ वि॒द्वाँ ऋ॑तु॒था वि वो॑चो॒ यमर्धं॑ ते मघवन्क्षे॒म्या धूः॥ ५॥

(१) गत मन्त्र में प्रभु सम्पर्क से होनेवाले अद्भुत परिणाम का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में जीव

कहता है कि हे इन्द्र! **ते** आपके **एतत्**=इस अद्भुत बल को **अहम्**=मैं **कथम्**=कैसे **आचिकेतम्**=जान पाऊँ, मैं कैसे इसे अपने जीवन में अनुभव कर पाऊँ? क्रियात्मक बात तो यही है कि मैं आपकी उस शक्ति को अपने जीवन में देखनेवाला बनूँ। (२) **गृत्सस्य**=मेधावी, गुरु, गुरुओं के भी गुरु, **तवसः**=शक्ति के दृष्टिकोण से अत्यन्त बढ़े हुए आपका मैं **पाकः**=बच्चा ही तो हूँ। आपके द्वारा ही मैं परिपक्तव्य प्रज्ञावाला हूँ। आपने ही मेरा परिपाक करना है। (३) हमारे परिपाक के लिये ही **त्वम्**-आप **विद्वान्**-हमारी शक्ति व स्थिति को जानते हुए **ऋतुथा**=समयानुसार **नः**=हमें **मनीषाम्**-बुद्धि को, बुद्धिगम्य ज्ञान को **विवोचः**=विशेषरूप से कहते हैं। इस ज्ञान के द्वारा ही तो आपने हमारा परिपाक करना है। (४) आप तो ज्ञान देते हैं, परन्तु हम उस ज्ञान को पूरी तरह से ग्रहण नहीं कर पाते, परन्तु हे **मघवन्**-सम्पूर्ण ऐश्वर्यों के स्वामिन् प्रभो! हम **ते**-आपके **यं अर्धम्**-जिस आधे भी ज्ञान को ग्रहण करते हैं, वह ही हमारे लिये **क्षेम्या**=अत्यन्त कल्याणकर **धूः**-wealth सम्पत्ति होता है। इस ज्ञान का थोड़ा भी अंश हमारा कल्याण करता है। जितना भी अधिक इसे हम अपनाएँगे, उतना ही यह हमारे लिये अधिकाधिक कल्याणकर होगा।

भावार्थ—हम प्रभु के पाक-सन्तान हैं। प्रभु हमें ज्ञान देते हैं। उस ज्ञान को हम जितना अपनाएँगे उतने ही कल्याण को भी प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—**इन्द्रवसुक्रयोः संवाद ऐन्द्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अ-शत्रु

एवा हि मां तवसं वर्धयन्ति दिवश्चिन्मे बृहत उत्तरा धूः।
पुरू सहस्रा नि शिशामि साकमशत्रुं हि मा जनिता जजान॥ ६॥

(१) **एवा**=इस प्रकार गत मन्त्र में वर्णित प्रकार से बुद्धि के देने के द्वारा **हि**=निश्चय से **तवसम्**-वृद्धिशील मुझको **वर्धयन्ति**-प्रभु की प्रेरणाएँ बढ़ाती हैं और उस प्रेरणा के अनुसार चलने से **मे**=मेरा **धूः**-(wealth) धन **बृहतः दिवः चित्**-इस विशाल द्युलोक से भी **उत्तरा**=उत्कृष्ट होता है। सबसे नीचे इस पृथ्वीलोक-शरीर का धन है, यह धन है 'स्वास्थ्य'। इससे ऊपर अन्तरिक्ष-लोक हृदय का धन 'निर्मलता है, द्वेषादि का अभाव। इससे भी ऊपर द्युलोक=मस्तिष्क का धन है, अपरा विद्या व पराविद्या। प्रकृति विद्या के नक्षत्र व ब्रह्मविद्या का सूर्य मेरे मस्तिष्क रूप द्युलोक में चमकता है। इससे ऊपर मेरा धन 'एकत्वदर्शन' के रूप में होता है, मैं उस अद्वैत स्थिति में पहुँचता हूँ जिसके उपनिषद् में 'शान्तं शिवं अद्वैतम्' कहा है। ज्ञान का यह परिणाम होना ही चाहिए। (२) इस स्थिति में पहुँचा हुआ मैं **साकम्**=एक साथ ही **पुरू सहस्रा**=अनेक हजारों वासनारूप शत्रुओं को **निशिशामि**=(हिनस्मि) हिंसित करता हूँ, अपने तीर का निशाना बनाता हूँ। वासनाओं का विनाश करता हूँ। (३) इस प्रकार **जनिता**=उस उत्पादक प्रभु ने **मा**=मुझे **हि**=निश्चय से **अशत्रुम्**-शत्रुरहित **जजान** कर दिया है। वस्तुतः अन्तःशत्रुओं के नाश से बाह्य शत्रुओं का नाश अपने आप ही हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु के दिये हुए ज्ञान से मेरी वृद्धि होती है, मैं 'स्वास्थ्य नैर्मल्य व उज्ज्वलता' रूप धनों से भी उत्कृष्ट 'एकत्वदर्शन' रूप धन को प्राप्त कर पाता हूँ। वासनाओं को नष्ट करके 'अशत्रु' हो जाता हूँ।

ऋषिः—**इन्द्रवसुक्रयोः संवाद ऐन्द्रः**॥ देवता **इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

तवस-उग्र-वृषा

एवा हि मां तवसं जज्ञुरुग्रं कर्मन्कर्मन्वृषणमिन्द्र देवाः।
वधीं वृत्रं वज्रेण मन्दसानोऽप व्रजं महिना दाशुषे वम्॥ ७॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **एवा**-इस प्रकार **हि**=निश्चय से **देवाः**-सब प्राकृतिक शक्तियाँ तथा विद्वान् लोग **माम्**-मुझे **तवसम्**-बढ़ा हुआ **जज्ञुः**-बनाते हैं। सब प्राकृतिक पदार्थों के यथोचित प्रयोग से तथा विद्वानों के सत्संग से मैं अपनी सब शक्तियों को बढ़ानेवाला बनता हूँ। ये देव **उग्रम्**-मुझे तेजस्वी बनाते हैं तथा **कर्मन् कर्मन्**-प्रत्येक कर्म में **वृषणम्**-ये मुझे शक्तिशाली बनाते हैं। (२) शक्तिशाली बनकर मैं **वज्रेण**-क्रियाशीलता के द्वारा **वृत्रम्**-ज्ञान की आवरणभूत वासना को **वधीम्** नष्ट करता हूँ। वासना को नष्ट करने का उपाय क्रिया में लगे रहना ही है। (३) **मन्दसानः**-वृत्र के विनाश से प्रसन्नता का अनुभव करता हुआ मैं **दाशुषे**=उस सम्पूर्ण पदार्थों के देनेवाले प्रभु के लिये **महिना**-महिमा के द्वारा, अर्थात् उस प्रभु की अर्चना के द्वारा **व्रजम्**-इन्द्रियरूप गौवों के समूह को **अप वम्**-(अप अवृ) विषय वृत्तियों से दूर करके सुरक्षित करता हूँ। प्रभु के स्तवन से विषय-वासनाओं की निवृत्ति होती है, ये इन्द्रियों को बाँधनेवाली नहीं होती।

भावार्थ—प्रभु उपासन से हम इन्द्रियरूप गौवों का रक्षण करनेवाले होते हैं।

ऋषिः-**इन्द्रवसुक्रयोः संवाद ऐन्द्रः**॥ देवता-**इन्द्रः**॥ छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

परशु से वन का व्रश्चन (वन-दहन)

देवास॒ आय॑न्पर॒शूँर॑बिभ्र॒न्वना॑ वृ॒श्चन्तो॑ अ॒भि वि॒ड्भिरा॑यन्।

नि सु॒द्र्वं१॒॑ दध॑तो व॒क्षणा॑सु यत्रा॒ कृपी॑ट॒मनु॒ तद्द॑हन्ति॥ ८॥

(१) **देवासः**-देववृत्ति के लोग **आयन्**-(इ गतौ) गति करते हैं। देव अकर्मण्य नहीं होते। वस्तुतः अकर्मण्यता देवत्व को नष्ट कर देती है। (२) ये देव **परशून् अबिभ्रन्**=परशुओं को धारण करते हैं। 'परान् श्यति' इस व्युत्पत्ति से शत्रुरूप वैषयिक वृत्तियों को नष्ट करनेवाले ये परशु हैं। देव इन परशुओं का धारण करते हुए वासनाओं को नष्ट करते हैं। **वना**-वासनाओं के जंगलों को **वृश्चन्तः**-काटते हुए और इस प्रकार अपने जीवन को पवित्र बनाते हुए **विड्भिः** प्रजाओं के साथ **अभि आयन्**-लौकिक व वैदिक उभयविध कर्मों में सम्मिलित होते हैं। (३) **सुद्रुवम्**-उत्तम (द्रु) गतिवाले अपने को **वक्षणासु**-सब प्रकार की उन्नतियों में **निदधतः**=स्थापन करते हुए ये देव उस शरीर में निवास करते हैं **यत्रा**=जहाँ कि **कृपीटं अनु**=जल-रेतःकणों के अनुसार **तद्**=उस वासना वन को **दहन्ति**-जला देते हैं। शरीर में रेतःकणों का रक्षण करते हैं और जितना-जितना इनका रक्षण कर पाते हैं उतना-उतना ही वासनाओं को भस्मीभूत करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—देव लोग गतिशील होते हैं, असंगरूप परशु को धारण करते हुए वासना वन को काटते हैं और रेतःरक्षण के अनुपात में इन वासनाओं को जला देते हैं।

ऋषिः-**इन्द्रवसुक्रयोः संवाद ऐन्द्रः**॥ देवता-**इन्द्रः**॥ छन्दः-**पादनिचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

शश से शेर बन जाना (वासना दहन से पूर्व और पीछे)

श॒शः क्षु॒रं प्र॒त्यञ्चं॑ जगा॒राद्रिं॑ लो॒गेन॒ व्य॑भेदमा॒रात्।

बृ॒हन्तं॑ चिदृ॒हते॑ रन्धयानि॒ वय॑द्व॒त्सो वृ॑ष॒भं शूशु॑वानः॥ ९॥

(१) गत मन्त्र में वासना वन के दहन का उल्लेख था। इस दहन के होने पर **शशः**-एक खरगोश के तुल्य निर्बल व्यक्ति भी इतना शक्तिशाली बन जाता है कि **प्रत्यञ्चम्**-आक्रमण के लिये सामने आनेवाले, **क्षुरम्**-तीक्ष्ण नखदंष्ट्रावाले शेर इत्यादि को भी **जगाम्**-निगल जाता है। खरगोश क्या, वह तो शेर से भी अधिक शक्तिशाली बन जाता है। (२) इस वासना वन के दहन

पर मैं इतना शक्तिशाली बन जाता हूँ कि **आरात्**=दूर स्थित भी **आद्रिम्**=पर्वत को **लोगेन**=एक मट्टी के ढेले से **व्यभेदम्**=विदीर्ण कर देता हूँ। वासनाक्रान्त व्यक्ति एक मट्टी के ढेले की तरह था तो दग्धवासन पुरुष पर्वत से भी दृढ़ बन जाता है। (३) वासनाओं के नष्ट होने पर **ऋहते**=ह्रस्व-अल्पकाय पुरुष के लिये **बृहन्तं चित्**=अत्यन्त विशालकाय को भी **रन्धयानि**=वशीभूत कर देता हूँ अथवा (rend) विदीर्ण कर देता हूँ। वासना दहन से पहले हमारी स्थिति अल्प थी, इनके दहन को करके हम बड़ों को भी वशीभूत करनेवाले हो जाते हैं। (४) यह दग्धवासन व्यक्ति **शूशुवानः**=निरन्तर अपनी शक्ति को बढ़ाता हुआ **वत्सः**=बछड़े जैसा होता हुआ भी **वृषभम्**=एक शक्तिशाली वृषभ को **वयत्**=आक्रमण के लिये प्राप्त होता है। वत्स होता हुआ वृषभ को जीतनेवाला बनता है।

भावार्थ—वासना दहन से पूर्व जो शशधा वह दहन के बाद शेर बन जाता है, मट्टी का ढेला, पर्वत बन जाता है, ऋहत्-बृहत् हो जाता है और वत्स वृषभ में परिणत हो जाता है।

ऋषिः—**इन्द्रवसुक्रयोः संवाद ऐन्द्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

सुपर्ण, सिंह, महिष, गोधा

सुपर्ण इत्था नखमा सिषायावरुद्धः परिपदं न सिंहः।
निरुद्धश्चिन्महिषस्तर्ष्यावान्गोधा तस्मा अयथं कर्षदेतत्॥ १०॥

(१) **इत्था**=इस प्रकार से **सुपर्णः**=अपना उत्तमता से पालन व पूरण करनेवाला व्यक्ति **नखम्**-(ख-दोष) निर्दोषता को **आसिषाय**=अपने साथ बाँधता है (आबबन्ध)। वासना दहन से जीवन निर्दोष तो बनता ही है। (२) इस समय **अवरुद्धः**=विषय-वासनाओं में जाने से रुका हुआ **सिंहः**=(हिनस्ति) अरुद्ध स्थिति में मनुष्य को नष्ट कर देनेवाला यह मन ('अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्') **न परिपदम्**=चारों ओर जानेवाला व भटकनेवाला नहीं होता। (३) **निरुद्धः चित्**=निरुद्ध वृत्तिवाला यह मन निश्चय से **महिषः**=उस प्रभु की पूजा करनेवाला होता है (मह पूजायाम्) **तर्ष्यावान्**=प्रभु प्राप्ति की प्रबल पिपासावाला होता है। मन एक मात्र प्रभु-प्रवण हो जाता है। (४) अब **गोधाः**=वेदवाणियों का धारण करनेवाला प्रभु **तस्मै**=उसके लिये **एतत् अयथम्**=इस अयथा योग को **कर्षत्**=दूर कर देते हैं। यथायोग के स्थान में जो अयोग व अतियोग की वृत्ति आ जाती है, उस वृत्ति को प्रभु दूर करनेवाले होते हैं। मनुष्य प्रभु कृपा से सदा मध्यमार्ग को अपनानेवाला बनता है।

भावार्थ—सुपर्ण बनकर हम निर्दोष बनें, हमारा मन भटके नहीं, हमारा मन प्रभु प्राप्ति की प्रबल प्यासवाला हो। हम प्रभु कृपा से मध्यमार्ग को अपनाएँ।

सूचना—यहाँ मन्त्र में सुपर्णादि शब्दों का प्रयोग काव्य के सौन्दर्य को बढ़ानेवाला है। उनका यौगिक अर्थ न होने पर अर्थ विचित्र-सा प्रतीत होने लगता है।

ऋषिः—**इन्द्रवसुक्रयोः संवाद ऐन्द्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

सात्त्विक अन्न

तेभ्यो गोधा अयथं कर्षदेतद्ये ब्रह्मणः प्रतिपीयन्त्यन्नैः।
सिम उक्ष्णोऽवसृष्टाँ अदन्ति स्वयं बलानि तन्वः शृणानाः॥ ११॥

(१) **गोधाः**=वेदवाणी का धारण करनेवाला प्रभु **तेभ्यः**=उनके लिये **एतत्**=इस **अयथम्**=अयथार्थता को अयथायोग को **कर्षत्**=खेंचकर बाहर कर देता है, दूर कर देता है, ये जो **ब्रह्मणः**=

ज्ञान के **अन्नैः** अन्नों से **प्रतिपीयन्ति** एक-एक बुराई को हिंसित करनेवाले होते हैं। 'ब्रह्म के अन्न' सात्त्विक अन्न हैं, इनके सेवन से सत्त्वशुद्धि के द्वारा मनुष्य अयोग व अतियोग से बचकर सदैव यथायोग करनेवाला बनता है। (२) ये अयथायोग से बचनेवाले व्यक्ति **सिमः**- (सर्वान्) सब **उक्ष्णः**-शक्तिशाली अथवा वीर्यवर्धक अन्नों का, **अवसृष्टान्**-(अनुज्ञातान्) उन अन्नों का जिनकी कि वेद में अनुज्ञा दी गई है, **अदन्ति**-भक्षण करते हैं, उन्हीं अन्नों का सेवन करते हैं जो सात्त्विक हैं। (३) इस प्रकार सात्त्विक अन्नों के सेवन से ये **तन्वः**=शरीर के **बलानि** बलों का **शृणानाः**-(शृणानाः) परिपाक करते हैं। सात्त्विक अन्न के सेवन से उनकी शरीर की सब शक्तियाँ सुन्दर बनती हैं।

भावार्थ—प्रभु कृपा से हम वस्तुओं का यथायोग करनेवाले होते हैं। ज्ञानवर्धक अन्नों का सेवन करते हैं, उन्हीं पौष्टिक अन्नों का जिनकी कि वेद में अनुज्ञा दी गई है। इस प्रकार ये अपने शरीर के बलों का ठीक परिपाक करते हैं।

ऋषिः-**इन्द्रवसुक्रयोः संवाद ऐन्द्रः**॥ देवता-**इन्द्रः**॥ छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

ज्ञानी वीर

एते शमीभिः सुशमी अभूवन्ये हिन्विरे तन्व१ः सोम उक्थैः।

नृवद्वदन्नुप नो माहि वाजान्दिवि श्रवो दधिषे नाम वीरः॥ १२॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार सात्त्विक अन्नों का प्रयोग करनेवाले **एते** ये व्यक्ति **शमीभिः** शान्तभाव से किये जानेवाले कर्मों से **सुशमीः**-उत्तम कर्मों वाले **अभूवन्** होते हैं। वे व्यक्ति, **ये**=जो **उक्थैः**-प्रभु के स्तोत्रों के द्वारा **सोम**=सोम के सुरक्षित होने पर **तन्वः**=शरीरों को **हिन्विरे**=बढ़ाते हैं। प्रभुस्तवन से हमारा जीवन वासनामय नहीं होता और वासनाओं के अभाव में सोम का रक्षण होता है। यह सुरक्षित सोम-वीर्य शरीर के वर्धन का कारण बनता है। (२) हे प्रभो! **नृवत्**=एक नेता की तरह **वदन्**-उपदेश देते हुए आप **नः** हमारे **वाजान्** बलों को **उपमाहि**-समीपता से बनानेवाले होइये। एक नेता जैसे अपने अनुयायियों को ठीक मार्ग का उपदेश देता है, उसी प्रकार प्रभु हमें ठीक मार्ग का उपदेश देते हुए हमें कहते हैं कि तू **दिवि**=(मूर्ध्नो धीः) अपने मस्तिष्क रूप द्युलोक में **श्रवः**-ज्ञान को **दधिषे**=धारण करता है और **वीरः नाम**=वीर नामवाला होता है, अर्थात् तेरा आदर्श यही होना चाहिए कि 'मस्तिष्क में ज्ञान और भुजाओं में वीरता'। 'ज्ञानी वीर' ही आदर्श मनुष्य है।

भावार्थ—सात्त्विक अन्नों के सेवन से हम शान्तभाव से कर्मों को करनेवाले हों। प्रभु स्तवन से शरीर में सोम को सुरक्षित करें। हम प्रभु के उपदेश के अनुसार चलते हुए ज्ञानी वीर बनें।

सूक्त का प्रारम्भ इस प्रकार हुआ है कि चित्तवृत्ति के निरोध के अभ्यास से हम प्रभुदर्शन करें। (१) प्रभु उसीका रक्षण करते हैं, जो सोम का रक्षण करता है, (२) सोमरक्षण से शक्तिशाली बनकर, विघ्नों को दूर करते हुए हम आगे बढ़ें, (३) प्रभु कृपा हमें मृग से मृगपति बना देती है, (४) हम प्रभु के ही तो पुत्र हैं, (५) प्रभुदत्त ज्ञान से वासनाओं को नष्ट करके हम 'अशत्रु' बन जाते हैं, (६) तवस उग्र व वृषा बनते हैं, (७) असंगरूप परशु से हम वासनावन को काटनेवाले होते हैं, (८) इससे हम शश से शेर बन जाते हैं, (९) प्रभु कृपा से हम सदा मध्यमार्ग से चलते हैं, (१०) सात्त्विक अन्नों का सेवन करते हैं और (११) 'ज्ञानी वीर' बनते हैं, (१२) सात्त्विक अन्नों के सेवन करनेवाले का जीवन उन्नत होता है।

[२९] एकोनत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**वसुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

क्षपावान् (संयत भोजनवाला)

वने न वा यो न्यधायि चाकञ्छुचिर्वां स्तोमो भुरणावजीगः।
यस्येदिन्द्रः पुरुदिनेषु होता नृणां नर्यो नृतमः क्षपावान्॥ १ ॥

(१) **यः**—जो मनुष्य **चाकन्**=(कामयमानः) कामना करता हुआ, चाहता हुआ **वने न**=उपासनीय के समान उस प्रभु में **वा**=निश्चय से **न्यधायि**=स्थापित होता है। उस प्रभु को अपना आधार बनाता है, उसकी उपासना में आनन्द का अनुभव करता है। इसीलिए **शुचिः**=पवित्र जीवनवाला होता है। हम प्रभु से दूर होते हैं, तभी पाप की ओर झुकाववाले होते हैं। प्रभु की समीपता हमारे जीवनों को पवित्र बनाये रखती है। (२) इस पवित्रता व प्रभु के उपासन के लिये ही, हे **भुरणौ**=पालन करनेवाले अश्विनी देवो, प्राणापानो! **वाम्**=आपका **स्तोमः**=स्तवन **अजीगः**=इसको प्राप्त होता है। यह प्राणापान का स्तवन करता हुआ प्राणापान की महिमा को अनुभव करता है और प्राणसाधना में तत्पर होता है। (३) वह मनुष्य **यस्य**=जिसका **इन्द्रः**=परमात्मा **इत्**=ही **पुरुदिनेषु**=बहुसंख्यक दिनों में, उन दिनों में जिनमें कि वह रोगों से अपने शरीर को सुरक्षित करने व मन में किन्हीं भी न्यूनताओं को न आने देने का ध्यान करता है, **होता**=इस जीवनयज्ञ के चलानेवाले हैं। प्रभु कृपा से इस जीवन-यात्रा को पूर्ण होता हुआ देखता है। इसीलिए उसे किसी भी उत्कर्ष का व्यर्थ अभिमान नहीं होता। (४) ऐसा निरभिमानी मनुष्य **नृणां नर्यः**=मनुष्यों में अधिक से अधिक नरहितकारी कर्मों का करनेवाला होता है। **नृतमः**=अत्यन्त उत्तम मनुष्य होता है। ऐसा तब बन पाता जब वह **क्षपावान्**=(क्षप् to fast, to be an abstinent) भोजन में बड़ा संयमी होता है। सब 'शरीर, मन व बुद्धि' की उन्नतियों का मूल भोजन की सात्त्विकता है।

भावार्थ—जो भोजन में संयमवाला होता है वह उत्तम मनुष्य बनता है। प्राणसाधना करता हुआ प्रभु में स्थित होता है।

ऋषिः—**वसुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ससवान्

प्र ते अस्या उषसः प्रापरस्या नृतौ स्याम नृतमस्य नृणाम्।
अनु त्रिशोकः शतमावहन्नॄन्कुत्सेन रथो यो असत्ससवान्॥ २ ॥

(१) हे प्रभो! **ते**=आपकी **अस्याः उषसः**=इस उषाकाल के तथा **अपरस्याः**=आनेवाली भी उषा के **प्रनृतौ**=प्रकृष्ट भवन में **प्रस्याम**=प्रकर्षेण हों। आप प्रत्येक उषःकाल में जिधर भी हमें ले चलनेवाले हों, उधर ही हम चलें। आप जो नाच नचायें, वही हमें रुचिकर हो। आप **नृणां नृतमस्य**=मनुष्यों के सर्वोत्तम नेता हैं। आपका नेतृत्व ही हमारा संचालक हो। (२) **अनु**=ऐसा होने पर ही, इसके बाद ही **कुत्सेन**=(कुथ हिंसायाम्) सब बुराइयों के संहार से **त्रिशोकः**='शरीर, मन व बुद्धि' तीनों की दीप्ति **नॄन्**=मनुष्यों को **शतं आवहत्**=सौ वर्ष तक ले चलनेवाली होती है। जब हम प्रभु की इच्छा के अनुसार जीवन को चलाते हैं, तो तीनों दीप्तियों को प्राप्त करते हैं और ये तीनों दीप्तियाँ हमारे जीवनों को सौ वर्ष तक ले चलने का कारण बनती हैं। (३) **यः रथः**=(रथः अस्य अस्ति इति रथः) इस प्रकार जो भी उत्तम शरीररूप रथवाला व्यक्ति **असत्**=होता है वह **ससवान्**=सस्य को ही खानेवाला होता है, यह वानस्पतिक भोजन को ही करता है।

वानस्पतिक भोजन सात्त्विक है, यही उपादेय है

भावार्थ—प्रभु की आज्ञा में चलें। सस्यभोजी बनें। इस प्रकार शरीर, मन व बुद्धि को दीप्त करनेवाले 'त्रिशोक' बनें।

ऋषिः—**वसुक्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अन्न व धन

कस्ते मद इन्द्र रन्त्यो भूद्दुरो गिरो अभ्युग्रो वि धाव।
कद्वाहो अर्वागुप मा मनीषा आ त्वा शक्यामुपमं राधो अन्नैः॥ ३॥

(१) हे **इन्द्र**-परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ते मदः**=आपकी प्राप्ति का मद **कः**=अनिर्वचनीय आनन्द का देनेवाला है और **रन्त्यः**-रमणीय **भूत्**-है। आपको प्राप्त करनेवाला व्यक्ति एक अवर्णनीय सुख का अनुभव करता है और उसे सारा संसार सुन्दर ही सुन्दर प्रतीत होता है। (२) **अभ्युग्रः**=आप अतिशयेन तेजस्वी हो। **दुरः**-मेरे इन्द्रिय द्वारों को तथा **गिरः**=वाणियों को **विधाव**=विशेषरूप से शुद्ध कर दीजिये। प्रभु की तेजस्विता मेरी सब मलिनताओं को नष्ट करनेवाली होती है। (३) हे प्रभो! **कद्**=कब आपकी कृपा होगी और मेरा **वाहः**-यह इधर-उधर मुझे भटकानेवाला मन (वरु=To carry away) **अर्वाक्**=अन्तर्मुख होगा। कब यह मेरा मन बाह्य विषयों से निवृत्त होकर अन्दर ही स्थित होनेवाला होगा? कद्-कब **मा**-मुझे **मनीषा**-बुद्धि **उप**=आपके समीप पहुँचानेवाली होगी? (४) हे प्रभो! आप 'इन्द्रिय शुद्धि, मन की अन्तर्मुखी वृत्ति तथा मनीषा की प्राप्ति' के द्वारा मुझे इस योग्य बनाइये कि **उपमम्**=अन्तिकतम-अत्यन्त समीप हृदय में ही निवास करनेवाले **त्वा**=आपको **आ-शक्याम्**=प्राप्त होने में समर्थ होऊँ और साथ ही **अन्नैः**-अन्नों के साथ **राधः**-संसार के कार्यों के साधक धन को भी प्राप्त कर सकूँ। जीवनयात्रा में प्रभु प्राप्ति हमें मार्गभ्रष्ट नहीं होने देती तो यह 'अन्न व धन' हमें आगे बढ़ने के योग्य बनाते हैं। यह ठीक है कि उतना ही धन वाञ्छनीय है, जितना कि 'राधः'=कार्यसिद्धि के लिये आवश्यक है। कार्यसिद्धि से अधिक धन सदा हानिकर हो जाता है।

भावार्थ—हम प्रभु प्राप्ति के लिये यत्नशील हों। प्रभु हमारी इन्द्रियों को शुद्ध करें, मन को अन्तर्मुख करें तथा बुद्धि को प्राप्त करायें। हम अन्न व धन को तो प्राप्त करें ही, साथ ही हमारा लक्ष्य प्रभु प्राप्ति हो।

ऋषिः—**वसुक्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु जैसे बनकर प्रभु को पाना

कदु द्युम्नमिन्द्र त्वावतो नॄन्कया धिया करसे कन्न आगन्।
मित्रो न सत्य उरुगाय भृत्या अन्ने समस्य यदसन्मनीषाः॥ ४॥

(१) हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **कद् उ**=कब निश्चय से **द्युम्नम्**=ज्योति को **करसे**=आप करते हैं। कब आपकी कृपा से मेरा जीवन ज्योतिर्मय होगा? और कब **कया**=आनन्द को देनेवाली **धिया**=ज्ञानपूर्विका क्रियाओं से **नॄन्**-हम मनुष्यों को **त्वावतः**=अपने जैसा (त्वत्सदृशान् सा०) करसे=करते हैं? अर्थात् कब वह समय मेरे जीवन में आयेगा जब कि मैं ज्ञानपूर्वक क्रियाओं में एक आनन्द का अनुभव करूँगा और इन क्रियाओं के द्वारा मैं आप जैसा बनने के लिये यत्नशील होऊँगा? प्रभु के समान दयालु व न्यायकारी बनता हुआ ही तो मैं प्रभु का सच्चा उपासक होता हूँ। **कत्**=कब **नः**=हम उपासकों को **आगन्**-आप प्राप्त होंगे? वस्तुतः आप जैसा बनकर ही तो

मैं आपको प्राप्त होने का अधिकारी होता हूँ। (२) हे **उरुगाय** खूब ही स्तवन करने के योग्य प्रभो! आप **मित्रः न**=मित्र के समान हैं। हमारे साथ स्नेह करनेवाले (मिद् स्नेहने) तथा हमें 'प्रमीतेः जायते'=रोगों व पापों से बचानेवाले हैं। **सत्यः**=आप सत्यस्वरूप हैं। आप ही **भृत्ये**=हमारे भरण-पोषण के लिये होते हैं। आपने ही अन्नों के द्वारा हमारे भरण की व्यवस्था की है। (३) **यद्**=जो आपने यह भी अद्भुत व्यवस्था की है कि **समस्य**=सब की **मनीषाः**=बुद्धियाँ **अन्ने**=अन्न में **असन्**=हैं। जैसा अन्न कोई खाता है वैसा ही उसकी बुद्धि बन जाती है, 'आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः' आहार की शुद्धि पर ही अन्तःकरण की शुद्धि निर्भर करती है। इस बुद्धि के द्वारा आप हमारा रक्षण करते हैं। इस प्रकार प्रभु ने अन्न के द्वारा ही हमारे 'अन्नमय, प्राणमय, मनोमय व विज्ञानमय' कोशों के निर्माण की व्यवस्था करके हमारे पालन का सुन्दर प्रबन्ध किया है।

भावार्थ—बुद्धि-वर्धक अन्नों का प्रयोग करते हुए हम ज्ञानपूर्वक कर्मों से प्रभु जैसा बनकर, प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—**वसुक्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

भवसागर के पार

प्रेरय सूरो अर्थं न पारं ये अस्य कामं जनिधाइव ग्मन्।
गिरश्च ये ते तुविजात पूर्वीर्नर इन्द्र प्रतिशिक्षन्त्यन्नैः॥ ५॥

(१) हे प्रभो! आप **सूरः न**=सूर्य के समान हैं, 'आदित्यवर्णम्' शब्द से आपका स्मरण होता है। सूर्य की तरह ही आप हमारे हृदयाकाशों को प्रकाशित करनेवाले तथा कर्मों में प्रेरित करनेवाले हैं। आप **अर्थम्**=धर्म, अर्थ, काम व मोक्षरूप पुरुषार्थों की **प्रेरय**=प्रेरणा दीजिये तथा इन पुरुषार्थों के द्वारा **पारं** प्रेरय=इस भवसागर व अश्मन्वती नदी के पार प्राप्त कराइये। धर्मपूर्वक धन को कमाकर उचित आनन्दों का सेवन करते हुए ही हम मोक्ष के अधिकारी हो सकते हैं। यही मार्ग है, इस भवसागर को तैरने का। (२) प्रभु उन व्यक्तियों को भवसागर से तैराते हैं **ये**=जो **अस्य**=इस प्रभु की **कामम्**=कामना को, इच्छा को, **जनिधा इव**=विकास को धारण करनेवाले की तरह **ग्मन्**=प्राप्त होते हैं, अर्थात् प्रभु की कामना के अनुसार कर्मों को करते हैं। प्रभु ने वेद में जिस प्रकार आदेश दिया है, उसी प्रकार जो अपना आचरण बनाते हैं वे ही व्यक्ति प्रभु के प्रिय होते हैं और इन्हें ही प्रभु भवसागर से तैरानेवाले होते हैं। ये व्यक्ति की **जनि**=विकास का **धा**-धारण करते हैं। 'जनिधा' का अर्थ पत्नी का धारण करनेवाला, अर्थात् पति भी है। यहाँ 'परीमे गाम् अनेषत' इन वेद शब्दों के अनुसार वेदवाणी से परिणय करनेवाले ये वेदवाणी के पति ही 'जनिधा' हैं। वेदोपदिष्ट कर्मों के करने से ये सचमुच 'जनिधा' होते हैं। (३) हे **तुविजात**=इस महान् ज्ञान को उत्पन्न करनेवाले, **इन्द्र**=प्रभो! ये **च नरः**=और जो लोग **ते**=आपकी **पूर्वीः**=हमारे जीवनों का पूरण करनेवाली **गिरः**=वेदवाणियों को **अन्नैः**=सात्त्विक अन्नों के सेवन के द्वारा, शुद्ध अन्तःकरणवाले होकर **प्रतिशिक्षन्ति**=एक-एक करके सीखते हैं, उन्हें आप पारं प्रेरय=भवसागर के पार प्राप्त कराइये।

भावार्थ—हम सात्त्विक अन्नों के सेवन से वेदवाणियों को शुद्ध अन्तःकरणों से समझें। वेदोपदिष्ट प्रभु की इच्छाओं के अनुसार कार्य करें। प्रभु हमें भवसागर से पार उतारेंगे।

ऋषिः—**वसुक्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

'पूर्ण मदः पूर्ण मिदम्'

मात्रे नु ते सुमिते इन्द्र पूर्वी द्यौर्मज्मना पृथिवी काव्येन।
वराय ते घृतवन्तः सुतासः स्वाद्मन्भवन्तु पीतये मधूनि॥ ६॥

(१) प्रभु जीव से कहते हैं—हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **मात्रे ते**-अपने जीवन का निर्माण करनेवाले तेरे लिये, **मज्मना** (मज शुद्धौ) शोधक **काव्येन**-ज्ञान से, **द्यौः पृथिवी** द्युलोक तथा पृथिवीलोक **नु**-निश्चय से **सुमिते** बड़ी उत्तमता से बनाये गये हैं और **पूर्वी** ये तेरा पूरण करनेवाले हैं। द्युलोक से लेकर पृथ्वीलोक तक सारा ब्रह्माण्ड प्रभु की देदीप्यमान ज्योति से पूर्णता को लिये हुए बनाया गया है। यहाँ किसी भी प्रकार की कमी नहीं है 'पूर्णमदः पूर्णमिदं'। कमी उन्हीं को लगती है जो जीवन के निर्माण की रुचिवाले न होकर भोगमार्ग में बह जाते हैं। भोगवृत्तिवाले के लिये संसार में कमी ही कमी है, पर निर्माणरूपि व्रती पुरुष को संसार में कमी नहीं दिखती। (२) हे **स्वाद्मन्**-(सु आ अद्मन्) सदा उत्तम भोजन खानेवाले जीव! **वराय**=(वृणोति इति) ठीक चुनाव करनेवाले तेरे लिये भोग की उपेक्षा जीवन के निर्माण को पसन्द करनेवाले तेरे लिये, **सुतासः**-भोजन से उत्पन्न सोमकण **घृतवन्तः**-मलों के क्षरणवाले तथा ज्ञान की दीप्ति को बढ़ानेवाले **भवन्तु**-हों। सात्त्विक भोजन से उत्पन्न शीतवीर्य के कण शरीर में ही सुरक्षित रहकर शरीर को रोगक्रान्त नहीं होने देते और साथ ही मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर ये ज्ञानाग्नि को दीप्त करते हैं। (३) ये सोमकण **पीतये**-रक्षण के लिये हों। इनकी रक्षा से हम शरीर व मन के रोगों से ऊपर उठें। **मधूनि** भवन्तु ये अत्यन्त मधुर हों। ये हमारे स्वभाव व जीवन में माधुर्य को लाने का कारण बनें। सोम रक्षा के अभाव में ही स्वभाव में चिड़चिड़ापन आता है और हम द्वेष, ईर्ष्या व क्रोध के वश हो जाते हैं। सोम के सुरक्षित होने पर द्वेष का स्थान प्रेम ले-लेगा, ईर्ष्या के स्थान को मुदिता ले-लेगी और क्रोध करुणा से आक्रान्त होकर नष्ट हो जाएगा।

भावार्थ—जीवन का निर्माण करनेवाले के लिये यह संसार पूर्ण है, भोगवादी इसमें अपूर्णता को देखता है। सुरक्षित सोम हमें क्षीणमल, दीप्तज्ञान व मधुर-स्वभाव बनाता है।

ऋषिः—**वसुक्रः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

क्रतु-पौंस्य

आ मध्वो अस्मा असिचन्नमत्रमिन्द्राय पूर्णं स हि सत्यराधाः।
स वावृधे वरिमन्ना पृथिव्या अभि क्रत्वा नर्यः पौंस्यैश्च॥ ७॥

(१) **अस्मा इन्द्राय** इस प्रभु की प्राप्ति के लिये इस **पूर्णं अमत्रम्**-सब प्रकार की कमियों से रहित शरीररूप पात्र को **मध्वः**-मुझ से, सोम से **असिचन्**-सिक्त करते हैं। शरीर 'अमत्र' है, (अम गतौ, त्रा-पालने) गति के द्वारा इसका पालन होता है। यह शरीर पूर्ण है, उन्नति के लिये सब आवश्यक साधन इसमें जुटाये हुए हैं इसमें प्रभु ने आहार से रसादि के क्रम से वीर्य की उत्पत्ति की व्यवस्था की है। यह वीर्य यहाँ 'मधु' कहा गया है, यह सुरक्षित होकर जीवन को मधुर बनाता है। इसका शरीर में ही सेचन होने पर शरीर नीरोग बनता है और बुद्धि तीव्र होती है और इस प्रकार स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन वाले बनकर हम प्रभु दर्शन के योग्य होते हैं। (२) इस प्रकार शरीररूप पात्र को मधु से सिक्त करनेवाला **सः**-वह **हि**-निश्चय से **सत्यराधाः**=सत्य को सिद्ध करनेवाला अथवा सत्य सम्पत्तिवाला होता है। **स**-वह **पृथिव्याः**- पृथिवी के **वरिमन्**=विस्तृत प्रदेश में **आवावृधे**-सब प्रकार से बढ़ता है। (३) यह **अभि**=दोनों ओर, अन्दर और बाहर, अन्दर तो **क्रत्वा**-प्रज्ञान से **च**-और बाहर **पौंस्यैः**-वीरता पूर्ण कर्मों से बढ़ा हुआ यह **नर्यः**-सदा नरहित करनेवाला होता है। अपने में ज्ञान और शक्ति का समन्वय करके यह लोकहित के कार्यों में व्यस्त रहता है।

भावार्थ—हम शरीर को सोम से सिक्त करें वीर्यरक्षण द्वारा इसे पुष्ट बनायें। ज्ञान व शक्ति सम्पन्न होकर लोकहित के कार्यों में प्रवृत्त रहें।

ऋषिः—**वसुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

रथी व सारथि

व्यानळिन्द्रः पृतनाः स्वोजा आस्मै यतन्ते सख्याय पूर्वीः।
आ स्मा रथं न पृतनासु तिष्ठ यं भद्रया सुमत्या चोदयासे॥ ८॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार **मधुः सोम**=वीर्य से शरीर को सिक्त करनेवाला **स्वोजाः**=उत्तम ओजवाला **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **पृतनाः**=शत्रु-सैन्यों को **व्यानट्**=विशेषरूप से घेरनेवाला, उन्हें पराभूत करनेवाला बनता है। (२) इस प्रकार काम-क्रोधादि शत्रुओं को पराभूत करनेवाले **पूर्वीः**=अपना पूरण करनेवाले लोग **अस्मै सख्याय**=इस प्रभु की मित्रता के लिये **आयतन्ते**=सर्वथा प्रयत्न करते हैं। (३) प्रभु की मित्रता को प्राप्त करके प्रभु से यही चाहते हैं कि **न**=जैसे **पृतनासु**=संग्रामों में **रथम्**=रथ पर सारथि स्थित होता है उसी प्रकार हे प्रभो! आप भी **स्म**=निश्चय से **रथम्**=हमारे इस शरीर-रथ पर **आतिष्ठ**=आरूढ़ होइये। उस रथ पर **यम्**=जिसको कि **भद्रया सुमत्या**=कल्याणी सुमति से **चोदयासे**=प्रेरित करते हैं।

भावार्थ—प्रभु मेरे रथ के सारथि हों, मैं अपनी जीवनयात्रा की दिशा प्रभु के निर्देश से चुनूँ।

सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से होता है कि मैं संयत भोजनवाला बनूँ। (१) सस्यभोजी होऊँ, (२) प्रभु मेरी वाणियों व इन्द्रिय द्वारों को शुद्ध कर दें, (३) प्रभु जैसा बनकर मैं प्रभु को पाऊँ, (४) प्रभु कृपा से भवसागर के पार हो जाऊँ, (५) निर्माता के लिये संसार में न्यूनता नहीं, (६) क्रतु और पौंस्य को सिद्ध कर मैं भी पूर्ण बनूँ, (७) प्रभु मेरे रथ के सारथि हों और मेरी यात्रा सुन्दरता से पूर्ण हो।

तृतीयोऽनुवाकः

[३०] त्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**कवष एलूषः** ॥ देवता—**आप अपान्नपाद्वा** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

यात्रापूर्ति क्रम

प्र देवत्रा ब्रह्मणे गातुरेत्वपो अच्छा मनसो न प्रयुक्ति।
महीं मित्रस्य वरुणस्य धासिं पृथुज्रयसे रीरधा सुवृक्तिम्॥ १॥

(१) प्रस्तुत मन्त्रों का ऋषि 'कवष ऐलूष' है। 'कवष' शब्द का अर्थ है 'ढाल'। जैसे एक योद्धा ढाल से अपने पर होनेवाले वार की रक्षा करता है इसी प्रकार यह अपने पर होनेवाले वासनाओं के आक्रमण से अपने को बचाता है। ढाल का संकेत 'ऐलूष' शब्द में मिलता है। 'इडा' स्तुति को कहते हैं। स्तुति के द्वारा 'स्यति' अपने पापों का अन्त करता है, सो ऐडूष=ऐलूष कहलाता है। यह कवष ऐलूष **गातुः**=इस जीवन में यात्री बनता हुआ **ब्रह्मणे**=ब्रह्म की प्राप्ति के लिये **देवत्रा**=देवों में **प्र एतु**=प्रकर्षेण आये। ब्रह्म की प्राप्ति के लिये यही तो चाहिये कि हम अपने में दैवी सम्पत्ति को बढ़ाने का प्रयत्न करें। जितना हम अपने में दिव्यगुणों का वर्धन करेंगे उतना ही उस परमदेव के समीप पहुँचते जाएँगे। (२) इन दिव्यगुणों के वर्धन के लिये यह कवष ऐलूष **अपः**=रेत:कणों की **अच्छा**=और **प्र एतु**=प्रकर्षेण आये। शरीर में रेत:कणों की रक्षा के लिये पूर्ण प्रयत्न करे। इन रेत:कणों के रक्षण से ही इसका शरीर नीरोग होता है और मन वासनाओं से शून्य। (३) रेत:कणों की रक्षा के लिये आवश्यक है कि मन सांसारिक विषयों की ओर न जाये। इसी बात को मन्त्र में इस तरह कहते हैं कि **मनसो न प्रयुक्ति**=मन के किसी भी विषय में

प्रयुक्ति-आसक्त न होने के द्वारा। मन को विषयों से ऊपर उठाकर ही हम रेत:कणों के रक्षण में समर्थ होते हैं। ये सुरक्षित रेत:कण हमारे मनों को सद्गुणों से अलंकृत करते हैं। (४) मन को विषयों में आसक्त न होने देने के लिये **मित्रस्य**=मित्र देवता के और **वरुणस्य**-वरुणदेव के**महीं धासिम्** महनीय अन्न को (एतु) प्राप्त हो। हम उस अन्न का प्रयोग करें, जो हमें सबके साथ स्नेह करनेवाला तथा द्वेष के निवारण करनेवाला बनाये (मित्र-वरुण)। अन्न से ही तो मन का निर्माण होता है जैसा अन्न खायेंगे वैसा ही मन बनेगा। सात्त्विक अन्न के सेवन से मन सात्त्विक होगा। तभी हम वासनाओं से न आक्रान्त होने पर सोम का रक्षण कर पायेंगे। (५) इस सात्त्विक अन्न के सेवन के द्वारा मनो निरोध करते हुए 'कवष ऐलूष' को चाहिए कि वह **पृथुज्रयसे**-विशाल वेगवाले उस प्रभु के लिये, मन से भी अधिक वेगवान् उस प्रभु के लिये **सुवृक्तिम्** उत्तमता से दोषवर्जनरूप स्तुति को **रीरधा**=सिद्ध करे। यह प्रभु स्तवन भी उसे लक्ष्य स्थान पर पहुँचानेवाला होगा।

भावार्थ—इस प्रस्तुत मन्त्र में एक बड़ा सुन्दर कार्यकारणभाव का क्रम देखते हैं कि—(क) हम अपने को यात्री समझते हुए ब्रह्म को अपना लक्ष्य स्थान जानें, (२) इसके लिये अपने में दिव्य गुणों का वर्धन करें, (ख) दिव्यगुणों के वर्धन के लिये रेत:कणों का रक्षण करें, (ग) उसके लिये मन को विषयों में आसक्त न होने दें, (घ) इसके लिये सात्त्विक भोजन करें और उस प्रभु के लिये दोषवर्जनरूप स्तुति को सिद्ध करें।

ऋषि:—**कवष एलूष:**॥ देवता—**आप अपान्नपाद्वा**॥ छन्द:—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वर:—**धैवत:**॥

अध्वर्यु-हविष्मान्

अध्वर्यवो हुविष्मन्तो हि भूताऽच्छाप ईतोशतीरुशन्त:।

अव याश्चष्टे अरुण: सुपर्णस्तमास्यध्वमूर्मिमद्या सुहस्ता:॥ २॥

(१) उस प्रभु की प्राप्ति के लिये **अध्वर्यव:**-(अ+ध्वर्+यु) अपने साथ हिंसा को न जोड़नेवाले और **हि**-निश्चय से **हविष्मन्त:**-हविवाले **भूत**-होइये। प्रभु की प्राप्ति के मार्ग पर चलनेवाला व्यक्ति हिंसा की वृत्ति से ऊपर उठता है और वह सदा दानपूर्वक अदन करनेवाला होता है। (२) **उशती**=हित को चाहनेवाले **अप:**-रेत:कणों की **अच्छा**=ओर **उशन्त:**-प्रबल इच्छावाले होते हुए **इत**=आओ, अर्थात् तुम्हारे अन्दर इन रेत:कणों के रक्षण की प्रबल भावना हो। इन रेत:कणों ने ही तो तुम्हारा रक्षण करना है। (३) ये सोमकण (=अप:) वे हैं **या:**=जिनको **सुपर्ण:**=अपना उत्तमता से पालन व पूरण करनेवाला **अरुण:**=तेजस्वी पुरुष **अवचष्टे**=(To observe) बड़े ध्यान से देखता है, अर्थात् इनके रक्षण का पूर्ण प्रयत्न करता है। (४) हे **सुहस्ता:**=उत्तम हाथोंवाले, कार्यों को कुशलता से करनेवाले अथवा (हन् हिंसागत्यो:=हस्त) उत्तमता से वासनाओं का हनन करनेवाले पुरुषो! **अद्या**=आज ही **तम्**=उस **ऊर्मिम्**=सोम संघात को, वीर्यकण समूह को **आस्यध्वम्**-अधिष्ठित करो, अर्थात् उनके शरीर में ही रक्षण के लिये यत्नशील होवो।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति के लिये हम—(क) हिंसा से ऊपर उठें, (ख) यज्ञशेष का सेवन करें और (ग) सोम का रक्षण करनेवाले बनें।

ऋषि:—**कवष एलूष:**॥ देवता—**आप अपान्नपाद्वा**॥ छन्द:—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वर:—**धैवत:**॥

वह 'समुद्र व अपां नपात्'

अध्वर्यवोऽ प ईता समुद्रमपां नपातं हुविषा यजध्वम्।

स वो ददर्दूर्मिमद्या सुपूतं तस्मै सोमं मधुमन्तं सुनोत॥ ३॥

(१) **अध्वर्यवः**=(अध्वर् यु) अपने साथ अहिंसा के सम्पृक्त करनेवालो! **अपः**=रेतःकणों के प्रति **इता**=जाओ, अर्थात् शरीर में इन रेतःकणों को सुरक्षित करनेवाले बनो। (२) रेतःकणों के रक्षण के लिये उस प्रभु के साथ **हविषा**=हवि के द्वारा, दानपूर्वक अदन के द्वारा **यजध्वम्**=अपना सम्पर्क बनाओ, जो प्रभु **समुद्रम्**-सदा मोद व हर्ष के साथ निवास करनेवाले हैं तथा **अपां नपातम्**=इन रेतःकणों का पतन न होने देनेवाले हैं। (३) **स**=वे प्रभु **वः**=तुम्हें **अद्या**=आज **सुपूतम्**-अत्यन्त पवित्रता के साधनभूत **ऊर्मिम्**=सोम-संघात को **ददत्**=दें। प्रभु कृपा से ही यह **सोमम्**=वीर्य प्राप्त होता है और यह हमारे जीवन को पवित्र बनाता है। (४) **तस्मै**=उस प्रभु की प्राप्ति के लिये **मधुमन्तम्**=अत्यन्त माधुर्यवाले इस सोम का **सुनोत**-उत्पादन करो। उत्तम आहार के सेवन से शरीर में सोम की उत्पत्ति होती है, यह सोम हमारे जीवन को मधुर बनाता है और शरीर में सुरक्षित होकर, ज्ञानाग्नि को दीप्त करता हुआ, हमें प्रभु-दर्शन के योग्य बनाता है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से, वासनाओं से बचने के द्वारा सोमरक्षण होता है और सोमरक्षण से बुद्धि सूक्ष्म होकर प्रभु दर्शन का साधन बनती है।

ऋषिः-**कवष एलूषः**॥ देवता-**आप अपान्नपाद्वा**॥ छन्दः-**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

अनिध्म अग्नि

यो अनिध्मो दीदयदप्स्व१न्तर्यं विप्रास ईळते अध्वरेषु।
अपां नपान्मधुमतीरपो दा याभिरिन्द्रो वावृधे वीर्याय॥ ४॥

(१) **यः**=जो प्रभु रूप अग्नि **अनिध्मः**=काष्ठों के बिना प्रज्वलित होनेवाली है और **अप्सु अन्तः**=प्रजाओं के हृदयों में (आपो नारा इति प्रोक्ताः आपो वै नर सूनवः) **दीदयत्**=देदीप्यमान है। **यम्**=जिसको **विप्रासः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले विद्वान् लोग **अध्वरेषु**=हिंसा रहित कर्मों में **ईडते**=उपासित करते हैं। वह **अपां नपात्**=हमारे रेतःकणों को न नष्ट होने देनेवाला है। (२) यह 'अपां न पात्' प्रभु **मधुमतीः**=हमारे जीवनों को मधुर बनानेवाले **अपः**=रेतःकणों को **दाः**=हमारे लिये देते हैं। वस्तुतः रेतःकणों के रक्षण से शरीर ही स्वस्थ बनता हो यह बात नहीं है, इनके रक्षण के परिणाम रूप मन भी स्वस्थ बनता है और मन में किसी प्रकार के राग-द्वेष की भावना उत्पन्न नहीं होती, हमारे मन बड़े मधुर बने रहते हैं। (३) ये रेतःकण वे हैं **याभिः**=जिनसे **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **वीर्याय**=शक्तिशाली कर्मों के करने के लिये **वावृधे**=बढ़ता है। वीर्य की स्थिरता ही मनुष्य के अन्दर उत्साह आदि गुणों का संचार करती है और उसे शक्तिशाली कर्मों को करने के लिये समर्थ करती है।

भावार्थ—प्रभु अग्नि हैं, इनके उपासन से वीर्य का रक्षण होकर हम आगे बढ़ने के योग्य होते हैं।

ऋषिः-**कवष एलूषः**॥ देवता-**आप अपान्नपाद्वा**॥ छन्दः-**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

मोद व हर्ष

याभिः सोमो मोदते हर्षते च कल्याणीभिर्युवतिभिर्न मर्यः।
ता अध्वर्यो अपो अच्छा परेहि यदासिञ्चा ओषधीभिः पुनीतात्॥ ५॥

(१) गत मन्त्र में 'आपः' शब्द से 'सोम-कणों' का उल्लेख है। ये सोमकण वे हैं **याभिः**=जिनसे **सोमः**=सोमकणों का रक्षण करनेवाला और अतएव सौम्य स्वभाव पुरुष अथवा (स उमा) उमा, अर्थात् ब्रह्मविद्या से युक्त पुरुष **मोदते**=एक पूर्ण स्वास्थ्य के मौदिक सुख को प्राप्त करता है **च**=और

हर्षते अध्यात्म आनन्द का अनुभव करता है, उसी प्रकार अनुभव करता है **न**-जैसे कि **मर्यः**-एक मनुष्य **कल्याणीभिः युवतिभिः** मंगल स्वभाववाली युवतियों से। यदि घर में पत्नी, बहिन, ननद व भतीजी आदि सभी युवतियाँ प्रसन्न स्वभाव की तथा मुस्कराते हुए चेहरेवाली हों तो युवक पुरुष को प्रसन्नता का अनुभव होता है। इसी प्रकार सोम के रक्षण से एक आन्तरिक आनन्द की प्राप्ति होती है। (२) हे **अध्वर्यो**-अपने साथ अहिंसात्मक कर्मों को जोड़नेवाले पुरुष! तू **ताः अपः**-उन रेतःकणों की **अच्छा** ओर आनेवाला हो। सदा इन रेतःकणों का रक्षण कर। इस रक्षण के लिये ही **परा-इहि** सदा विषयों से दूर होने का प्रयत्न कर। मन को विषयों में न लगने देना ही वह उपाय है जो कि मनुष्य को सोम के रक्षण के योग्य बनाता है। (३) **यदा**-जब **आसिञ्चा** तू इन रेतःकण रूप जलों से शरीर को समन्तात् सींच डालता है तो **ओषधीभिः पुनीतात्**-रोगमात्र की ओषधियों से ही अपने को पवित्र कर लेता है। इन वीर्यकणों में वह शक्ति है जो सब रोगकृमियों का संहार कर देती है, **ओष**-दहन को **धि**-आहित करती है एवं हमारा जीवन नीरोग हो जाता है, न केवल शरीर के दृष्टि से ही हम नीरोग हो जाते हैं, अपितु मानसदृष्टि से भी। तभी तो वस्तुतः हमारे जीवन में मोद व हर्ष आ पाते हैं।

भावार्थ—वीर्यरक्षण से हम शरीर व मन के दृष्टिकोण से स्वस्थ हों और यह स्वास्थ्य हमें मोद व हर्ष का अनुभव कराये।

ऋषिः—**कवष एलूषः**॥ देवता—**आप अपान्नपाद्वा**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

मानस व बौद्धिक स्वास्थ्य

एवेद्यूने युवतयो नमन्त यदीमुशन्नुशतीरेत्यच्छ।
सं जानते मनसा सं चिकित्रेऽध्वर्यवो धिषणापश्च देवीः॥ ६॥

(१) **यद्**-जब **ईम्**-निश्चय से **उशतीः**-हित की कामनावाले, अर्थात् सदा अपने रक्षक का हित करनेवाले इन (आपः) रेतःकणों की **अच्छ**-ओर **उशन्**-चाहता हुआ युवक **एति**-प्राप्त होता है, तो **एवा इत्**-ऐसा होने पर ही **यूने**-उस युवक के लिये **युवतयः** युवतियाँ **नमन्त**=आदरवाली होती हैं। रेतःकणों के रक्षण से युवक का शरीर इतना सुन्दर प्रतीत होता है कि सब युवतियाँ उसकी ओर आकृष्ट होती हैं, उसके सौन्दर्य की प्रशंसा करती हैं, उनमें उसके प्रति आदर का भाव होता है। (२) **च**-और ये **देवीः**-सब रोगों के जीतने की कामनावाले **आपः**-रेतःकण **संजानते**-संज्ञानवाले होते हैं। अपने रक्षक में उत्तम ज्ञान को पैदा करनेवाले होते हैं और **मनसा**-मन के दृष्टिकोण से **संचिकित्रे**=इसकी उत्तम चिकित्सा करते हैं, अर्थात् इसके मन में किसी प्रकार के विकार को नहीं रहने देते एवं रेतःकणों के रक्षण से जहाँ बुद्धि में दीप्ति आकर ज्ञानवृद्धि होती है वहाँ मन में पवित्रता का संचार होता है। (३) इस प्रकार ये दिव्यगुणोंवाले रेतःकण **अध्वर्यवः**-अपने रक्षक के साथ 'अ+ध्वर+यु'-अहिंसा को जोड़नेवाले हैं और **धिषणा** ये बुद्धि ही बुद्धि हैं, अर्थात् इनका रक्षण बुद्धि को तीव्र बनानेवाला है।

भावार्थ—रेतःकणों का रक्षण शरीर के स्वास्थ्य के साथ मन व बुद्धि के स्वास्थ्य को देनेवाला है।

ऋषिः—**कवष एलूषः**॥ देवता—**आप अपान्नपाद्वा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

मधुमान् ऊर्मि

यो वो वृताभ्यो अकृणोदु लोकं यो वो मह्या अभिशस्तेरमुञ्चत्।
तस्मा इन्द्राय मधुमन्तमूर्मिं देवमादनं प्र हिणोतनापः॥ ७॥

(१) हे **आपः**=रेत:कणो! **यः**=जो भी युवक **वृताभ्यः**=वरण किये गये, स्वीकार किये गये **वः**=आपके लिये **लोकम्**=शरीर में स्थान को **अकृणोत्**=बनाता है, अर्थात् जो आपको शरीर में ही सुरक्षित करता है और **यः**=जो **वः**=आपको **मह्याः**=इस पृथिवी के **अभिशस्ते**=हिंसन से, अर्थात् पार्थिव भोगों में आसक्ति के कारण विनाश से **अमुञ्चत्**=मुक्त करता है, पार्थिव भोगों में फँसकर कभी तुम रेत:कणों का नाश नहीं होने देता। (२) **तस्मा**=(तस्मै) उस **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **मधुमन्तम्**=अत्यन्त माधुर्यवाली **ऊर्मिम्**=तरंग को **प्रहिणोत**=प्रकर्षेण प्राप्त कराओ, अर्थात् इसके जीवन को उत्साह-सम्पन्न करो, परन्तु इस उत्साह से उसका जीवन माधुर्यमय हो। इसमें स्फूर्ति हो, स्फूर्ति के साथ मधुरता हो। यह माधुर्य व स्फूर्ति से युक्त होकर सब कार्यों को करनेवाला हो। यह ऊर्मि **देवामादनम्**=देवों को हर्षित करनेवाली हो, अर्थात् इसके इस मधुर उत्साह को देखकर इसके माता, पिता, आचार्य आदि सब देव प्रसन्न हों। **अनात**=इसकी यह मधुमान् ऊर्मि उस देवाधिदेव परमात्मा को भी प्रसन्न करनेवाली हो, इसके कारण यह प्रभु का भी प्रिय बने।

भावार्थ—जो रेत:कणों का रक्षण करता है वह रक्षित रेत:कणों के कारण मधुर व उत्साह सम्पन्न जीवनवाला होता है, इससे मधुर उत्साह सम्पन्न जीवन से यह सब देवों को प्रीणित करनेवाला होता है।

ऋषिः—**कवष एलूषः**॥ देवता—**आप अपान्नपाद्वा**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

उत्साह, ज्ञान व निर्मलता

प्रास्मै हिनोत मधुमन्तमूर्मिं गर्भो यो वः सिन्धवो मध्व उत्सः।
घृतपृष्ठमीड्यमध्वरेष्वापो रेवतीः शृणुता हवं मे॥ ८॥

(१) हे **सिन्धवः**=स्यन्दनशील रेत:कणो! **यः**=जो **वः**=आपका **गर्भः**=गर्भरूपेण मध्य में रहनेवाला **मध्वः उत्सः**=माधुर्य का चश्मा है, उस **मधुमन्तं ऊर्मिम्**=मधुर उत्साह तरंग को **अस्मै**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **प्रहिणोत**=प्रकर्षेण प्राप्त कराओ। आपके रक्षण से इसका जीवन माधुर्य का स्रोत ही बन जाए। उस माधुर्य में उत्साह तरंगति होता हो, अर्थात् आपका रक्षक स्फूर्ति-सम्पन्न माधुर्य को प्राप्त करे। (२) हे **आपः**=रेत:कणो! आप **रेवतीः**=सब प्रकार की रयि से सम्पन्न हो। आप से उत्पन्न ऊर्मि=उत्साह तरंग **घृतपृष्ठम्**=ज्ञान की दीप्ति व ईर्ष्यादि मानस मलों के क्षरण के पृष्ठ पर है और अतएव **ईड्यम्**=स्तुति के योग्य है। रेत:कणों से ज्ञान दीप्त होता है, मानस मल दूर होते हैं, जीवन को ये प्रशस्त बनाते हैं। (३) सो हे रेत:कणो! आप **अध्वरेषु**=इन जीवन के अहिंसात्मक यज्ञों में **मे**=मेरी **हवम्**=पुकार को **शृणुत**=सुनो, अर्थात् तुम मेरे अन्दर सुरक्षित रहते हुए मेरे जीवन में माधुर्य का संचार करो, मेरी ज्ञानदीप्ति व निर्मलता का आधार बनो, आपके रक्षण से मेरा जीवन सब आवश्यक रयि से सम्पन्न हो। यही मेरी प्रार्थना है। रेत:कणों के रक्षण से यह पूर्ण हो।

भावार्थ—रेत:कणों का रक्षण हमें उत्साह सम्पन्न ज्ञानी व निर्मल वृत्ति बनाता है।

ऋषिः—**कवष एलूषः**॥ देवता—**आप अपान्नपाद्वा**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

त्रि-तन्तु

तं सिन्धवो मत्सरमिन्द्रपानमूर्मिं प्र हेत य उभे इयर्ति।
मदच्युतमौशानं नभोजां परि त्रितन्तुं विचरन्तमुत्सम्॥ ९॥

(१) हे **सिन्धवः**=शरीर में रुधिर के साथ सर्वत्र स्यन्दनशील रेत:कणो! **तं ऊर्मिम्** उस तरङ्ग को **प्रहेत**=हमें प्रकर्षेण प्राप्त कराओ जो **मत्सरम्**-(मादयितारं) जीवन के अन्दर उल्लास को उत्पन्न करनेवाली है, **इन्द्रपानम्**=जितेन्द्रिय पुरुष का रक्षण करनेवाली है। (२) उस ऊर्मि को प्राप्त कराओ **यः**-जो **उभे**=शरीर व मस्तिष्क दोनों को गतिमय बनाती है। जिसके कारण शरीर में गतिशीलता बनी रहती है और मस्तिष्क कहीं कुण्ठित नहीं होता। (३) उस ऊर्मि को प्राप्त कराओ जो कि 'मदच्युतं' शब्द की यह भावना भी सुन्दर है कि 'अभिमान को हमारे से दूर करनेवाली है'। **मदच्युतम्**=हमारे जीवनों में मद व हर्ष को टपकानेवाली है, **औशानम्**-उस प्रभु की प्राप्ति की कामना को हमारे में उत्पन्न करनेवाली है, **नभोजाम्**-मस्तिष्क रूप द्युलोक में प्रकाश के प्रादुर्भाव को करनेवाली है, **परि**-(सर्वतः) सब दृष्टिकोणों से **त्रितन्तुम्**-शरीर, मन व बुद्धि तीनों का विस्तार करनेवाली है, **विचरन्तम्**=विशेषरूप से जीवन को क्रियाशील बनानेवाली है, **उत्सम्**-उत्स्यन्दनं (= देवानां प्रति ऊर्ध्वं गन्तारं सा०) हमें उत्कृष्ट गतिवाला करके दिव्य गुणों को प्राप्त करानेवाली है।

भावार्थ—रेत:कणों का रक्षण हमें उन्नतवाला, सुन्दर शरीर व मस्तिष्कवाला निरभिमान प्रभु-प्रवण, क्रियाशील व ऊर्ध्व गतिवाला बनाता है।

ऋषिः—**कवष एलूषः**॥ देवता—**आप अपान्नपाद्वा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अपा-वन्दना

आवर्वृततीरध नु द्विधारा गोषुयुधो न नियवं चरन्तीः।
ऋषे जनित्रीर्भुवनस्य पत्नीरपो वन्दस्व सवृधः सयोनीः॥ १०॥

(१) प्रभु अपने पुत्र जीव से कहते हैं कि—हे **ऋषे**-तत्त्वद्रष्टः! तत्त्वज्ञान की प्राप्ति की रुचिवाले! तू **अपः**=शरीर में रेत:कणों के रूप से रहनेवाले इन जलों का **वन्दस्व**=वन्दन कर। इनकी स्तुति करता हुआ तू इनके महत्त्व को समझ और इनकी रक्षा के लिये यत्नशील हो। ये रेत:कण **भुवनस्य जनित्रीः**-सब प्राणियों को जन्म देनेवाले हैं। इन्हीं से सब शरीरों का जन्म होता है। **पत्नीः**=ये उत्पन्न शरीरों का रक्षण करनेवाले हैं। ये ही उन्हें रोगादि से बचाकर सुरक्षित करते हैं। **संवृधः**=ये सदा वृद्धि के साथ होते हैं। इनके कारण ही सब प्रकार की उन्नतियाँ हुआ करती हैं। **सयोनीः**=(योनिः गृहम्) ये ही मनुष्य को पुनः अपने घर में प्राप्त करनेवाले हैं, इनके रक्षण से ही उन्नति करता हुआ जीव ब्रह्म को प्राप्त करता है। ब्रह्मलोक ही जीव का मूल निवास-स्थान है। वीर्यरक्षण हमें इस निवास स्थान पर पहुँचने में सहायक होता है। (२) **आवर्वृततीः**-शरीर में ही समन्तात् होते हुए ये रेत:कण **अध**-अब **नु**-(ननु) निश्चय से **द्विधाराः**-शरीर व मस्तिष्क दोनों का धारण करनेवाले होते हैं अथवा इहलोक व परलोक दोनों का पोषण करनेवाले होते हैं। (३) **गोषुयुधः न**=(गावः इन्द्रियाणि) इन्द्रियों के निमित्त युद्ध करनेवालों की तरह ये रेत:कण **नियवम्**-(यु मिश्रणामिश्रणयोः) दुरितों के अमिश्रण व भद्रों के मिश्रण को **चरन्तीः**-(चर गतौ) प्राप्त करनेवाले होते हैं। इन रेत:कणों के रक्षण के होने पर ये रेत:कण इन्द्रियों में आ जानेवाली कमियों को दूर करते हैं। इन्द्रियों को वैषयिकरण से ये ऊपर उठाते हैं। सब नैर्मल्य इन्हीं पर निर्भर करता है।

भावार्थ—रेत:कण इहलोक व परलोक दोनों को सुन्दर बनानेवाले हैं। इस लोक में वृद्धि का कारण होते हुए ये परलोक में हमें ब्रह्मरूप गृह में प्राप्त कराते हैं, अर्थात् हमारे मोक्ष का साधन बनते हैं।

ऋषिः—**कवष एलूषः**॥ देवता—**आप अपान्नपाद्वा**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

'सुखद' रेतःकण

हिनोता नो अध्वरं देवयज्या हिनोत ब्रह्म सनये धनानाम्।
ऋतस्य योगे वि ष्यध्वमूधः श्रुष्टीवरीर्भूतनास्मभ्यमापः॥ ११॥

(१) हे **आपः**=रेतःरूप में शरीरस्थ जलो! **नः**—हमारे जीवन में **अध्वरम्**=हिंसारहित यज्ञादि कर्मों को **हिनोता**=प्रेरित करिये। **देवयज्या**=देवों के संगतिकरण, विद्वानों के मेल को **हिनोत**=प्राप्त कराइये। देवों के सम्पर्क में आकर के ही हम तेजस्वी बनेंगे, इनके संग में रहते हुए हम हिंसादि अशुभ कर्मों में प्रवृत्त न होंगे। (२) **ब्रह्म**=ज्ञान को या स्तुति को हमारे में प्रेरित करिये। वीर्यरक्षण से हमारी ज्ञानाग्नि दीप्त हो और हमारा मन प्रभु-स्तुति के प्रति झुकाववाला हो। (३) हे रेतःकणो! आप **धानानां सनये**=धनों की प्राप्ति के लिये हमें प्रेरित करिये, अर्थात् आपके रक्षण से हमारे जीवनों को धन्य बनानेवाले धनों को हम प्राप्त करनेवाले बनें। वीर्यरक्षण के अभाव में ही मनुष्य अन्याय मार्ग से धन कमाने लगता है। (४) **ऋतस्य योगे**=हमारे जीवनों में ऋत का योग होने पर, अर्थात् जब हम धनादि के कमाने के लिये कभी अनृत का प्रयोग न करें तो आप **ऊधः**=वेदवाणी रूप गौ के ऊधस् को, ज्ञानकोश को **विष्यध्वम्**=वियुक्त करो, खोलनेवाले बनो। हमारे लिये यह वेदवाणीरूप गौ खूब ही ज्ञानदुग्ध को देनेवाली हो। (५) हे **आपः**=रेतःकणो! इस प्रकार आप **अस्मभ्यम्**=हमारे लिये **श्रुष्टीवरीः**=(सुखवत्यः सा०) सुख को देनेवाले **भूतन**=होइये। रेतःकणों के रक्षण से हमारा जीवन सुख ही सुखवाला हो।

भावार्थ—रेतःकणों का रक्षण हमें 'अध्वर, देवयज्या, ब्रह्म, धन प्राप्ति, ऋत, ज्ञान व सुख' की ओर ले चलता है।

ऋषिः—**कवष एलूषः**॥ देवता—**आप अपान्नपाद्वा**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

भद्र क्रतु व अमृत

आपो रेवतीः क्षयथा हि वस्वः क्रतुं च भद्रं बिभृथामृतं च।
रायश्च स्थ स्वपत्यस्य पत्नीः सरस्वती तद् गृणते वयो धात्॥ १२॥

(१) **आपः**=हे रेतःकणों के रूप से शरीर में स्थित जलो! आप **रेवतीः**=रयिवाले हो, अन्नमयादि सब कोशों की सम्पत्ति आपके अन्दर है। **हि**=निश्चय से **वस्वः**=निवास के लिये सब आवश्यक तत्त्वों का **क्षयथा**=(क्षि=निवास) अपने में धारण करते हो। जीवन के सब वसु आप में स्थित हैं। (२) **च**=और **भद्रम्**=कल्याणकारक व सुखजनक **क्रतुम्**=ज्ञान को व शक्ति को आप **बिभृथ**=धारण करते हो। ये रेतःकण ऊर्ध्व गतिवाले होकर ज्ञानाग्नि का ईंधन बनते हैं। तत्त्वज्ञान को प्राप्त करके हम अपने कल्याण व सुख को सिद्ध करनेवाले होते हैं। **अमृतं च**=ज्ञान के साथ आप अमरता को भी धारण करते हो 'मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्'। वीर्यकण सुरक्षित होकर रोगकृमियों का विध्वंस करते हैं और हमारा जीवन नीरोग बनता है। रोगरूप मृत्युओं के शिकार न होकर हम अमर बनते हैं। (३) हे रेतःकणो! आप **स्वपत्यस्य रायः च**=उत्तम सन्तानवाले धन के भी **पत्नीः**=रक्षक हो। आपके द्वारा जहाँ हम धन कमाने की योग्यता प्राप्त करते हैं, वहाँ हमारे सन्तान भी उत्तम होते हैं। रेतःकणों का रक्षण उत्तम सन्तान को तो प्राप्त कराता ही है, साथ ही हमारी शक्ति व बुद्धि में वृद्धि होकर हम धन भी कमानेवाले बनते हैं। (४) **सरस्वती**=अब ज्ञान स्वरूप परमात्मा **तद् गृणते**=उन रेतःकणों का स्तवन करनेवाले पुरुष के लिये

वयः उत्कृष्ट जीवन को **धात्**-धारण करता है। रेत:कणों का स्तवन यही है कि हम उनका रक्षण करनेवाले बनें और इनका रक्षण करने पर हमारा ज्ञान व बल बढ़ता है, परिणामत: हमारा जीवन उत्तम बनता है। ज्ञान स्वरूप परमात्मा का अर्चन वीर्यरक्षण से ही होता है, क्योंकि ये सुरक्षित रेत:कण ही तो ज्ञानाग्नि के ईंधन हैं।

भावार्थ—सुरक्षित रेत:कण हमें 'श्रेयो ज्ञान' तथा अमरता (नीरोगता) प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**कवष एलूषः**॥ देवता—**आप अपान्नपाद्वा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

'घृतं-पयांसि-मधूनि'

प्रति यदापो अदृश्रमायतीर्घृतं पयांसि बिभ्रतीर्मधूनि।
अध्वर्युभिर्मनसा संविदाना इन्द्राय सोमं सुषुतं भरन्तीः॥ १३॥

(१) हे **आपः**-रेत:कणो! **यद्**-जब मैं आपको **आयतीः**-शरीर में सर्वत्र गति करते हुए, अर्थात् शरीर में रुधिर के साथ व्याप्त होते हुए **प्रति अदृश्रम्**-प्रतिदिन देखता हूँ, अर्थात् जब आपका अपव्यय न होकर शरीर में ही रक्षण होता है तो मैं देखता हूँ कि आप **घृतम्**-ज्ञानदीप्ति व मलों के क्षरण को, बुद्धि की तीव्रता व मानस निर्मलता को, **पयांसि**-सब प्रकार के आप्यायन को, शरीर की शक्तियों के वर्धन को तथा **मधूनि**-मधुर वचनों व व्यवहारों को **बिभ्रतीः**-धारण करते हुए हो। वीर्यरक्षण से जहाँ (क) हमारी बुद्धि बढ़ती है, वहाँ (ख) मन निर्मल होता है, (ग) हमारे शरीर की सब शक्तियों का आप्यायन होता है और (घ) हमारे जीवन में माधुर्य की वृद्धि होती है। (२) हे रेत:कणो! आप **अध्वर्युभिः**=अध्वर-हिंसारहित यज्ञों को अपने साथ जोड़नेवाले पुरुषों के साथ **मनसा संविदानाः**-मन से संज्ञानवाले होवो। अध्वर्युओं के साथ आपका मेल हो। दूसरे शब्दों में जो भी व्यक्ति अध्वर्यु बनता है उसके साथ आपका मेल होता है। यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगा हुआ पुरुष इनका रक्षण करनेवाला बनता है। ये आपः=रेत:कण **इन्द्राय**-जितेन्द्रिय पुरुष के लिये **सुषुतं सोमम्**=इस उत्तमता से उत्पादित सोम को **भरन्तीः**-पुष्ट करनेवाले होते हैं। सोम शक्ति-सम्पन्न बनकर यह व्यक्ति सोम्य व शान्त स्वभाव का होता है। (३) यहाँ मन्त्र के पूर्वार्ध में रेत:कणों के रक्षण के लाभों का देना है। 'घृतं, पयांसि, मधूनि'-ये शब्द उन लाभों का वर्णन इस रूप में कर रहे हैं कि ज्ञान दीप्त होगा, मन निर्मल होगा, शरीर की शक्तियों का आप्यायन होगा तथा वचन व व्यवहार में मिठास आ जायेगी। उत्तरार्ध में रेत:कणों के रक्षण के उपाय 'अध्वर्युभिः' तथा 'इन्द्राय' शब्दों से सूचित किये गये हैं। 'यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगे रहना' यह रेत:रक्षण के लिये आवश्यक है। दूसरा उपाय जितेन्द्रियता है, अजितेन्द्रिय के लिये वीर्यरक्षण का सम्भव नहीं। 'खाली न रहें, जितेन्द्रिय बनने का प्रयत्न करें' यही रास्ता है जिस पर कि चलकर हम वीर्यरक्षण कर पाते हैं।

भावार्थ—वीर्यरक्षण के लाभ हैं—ज्ञानदीप्ति, मानस नैर्मल्य, शक्तियों का आप्यान व माधुर्य। वीर्यरक्षण का उपाय है—यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगे रहना और जितेन्द्रिय बनने का प्रयत्न करना।

ऋषिः—**कवष एलूषः**॥ देवता—**आप अपान्नपाद्वा**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

रेवतीः आपः

एमा अग्मन्रेवतीर्जीवधन्या अध्वर्यवः सादयता सखायः।
नि बर्हिषि धत्तन सोम्यासोऽपां नप्त्रा संविदानास एनाः॥ १४॥

(१) **इमाः**-ये रेत:कणों के रूप में स्थित जल **आ अग्मन्**-हमें सर्वथा प्राप्त हुए हैं।

रेवती:-ये रयिवाले हैं, शरीर के सब कोशों को ये सम्पत्ति से परिपूर्ण करनेवाले हैं। **जीवधन्या:**-ये हमारे जीवन को धन्य बनानेवाले हैं, सब कमियों को दूर करके ये प्रीणित करनेवाले हैं। (२) इस प्रकार रयिवाले तथा प्रीणित करनेवाले इन रेत:कणों को हे **अध्वर्यव:**=अपने साथ हिंसारहित कर्मों के जोड़नेवाले **सखाय:**=प्रभु की मित्रता को धारण करनेवाले लोगो! **सादयता**=अपने शरीरों के अन्दर स्थापित करो। इन्हें नष्ट मत होने दो। (३) हे **सोम्यास:**-सोम का, वीर्य का सम्पादन करनेवालो! आप **अपांनप्त्रा**=इन रेत:कणों को नष्ट न होने देनेवाले उस प्रभु के साथ **संविदानास:**-संज्ञानवाले होते हुए, अर्थात् प्रात:-सायं उस प्रभु के चरणों में उपस्थित होनेवाले बनकर **एना:** इन रेत:कणों को **बर्हिषि** वासनाशून्य हृदय के होने पर **निधत्तन**-अन्दर शरीर में ही धारण करनेवाले बनो। रेत:कणों के रक्षण के लिये प्रभु का उपासन आवश्यक है। प्रभु के उपासन से हृदय वासनाशून्य बनता है और ऐसा होने पर ही रेत:कणों के रक्षण का सम्भव होता है।

भावार्थ—रेत:कण ही शरीर के सब कोशों को रयि से पूर्ण करते हैं। इनके रक्षण के लिये आवश्यक है कि हम (क) यज्ञात्मक कर्मों में लगे रहें, (ख) प्रभु का उपासन करनेवाले बनें।

ऋषि:—**कवष एलूष:**॥ देवता—**आप अपान्नपाद्वा**॥ छन्द:—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वर:—**धैवत:**॥

देवयज्या

आग्मन्नाप उशतीर्बर्हिरेदं न्यध्वरे असदन्देवयन्तीः।
अध्वर्यवः सुनुतेन्द्राय सोममभूदु वः सुशका देवयज्या॥ १५॥

(१) **उशती:**=हमारे हित की कामना करते हुए **आप:**=रेत:कण **इदं बर्हि:**=इस वासनाशून्य हृदय को **आ आग्मन्**-सर्वथा प्राप्त हुए हैं। (२) **देवयन्ती:**=हमारे रोगादि शत्रुओं को जीतने की कामना करते हुए ये रेत:कण **अध्वरे**-इस हिंसारहित जीवनयज्ञ में **वि असदन्**=निश्चय से शरीर के अन्दर स्थित हुए हैं। जब जीवन क्रूर भावों से शून्य होता है तो इन रेत:कणों का रक्षण सुगम होता है। सुरक्षित रेत:कण रोगकृमियों को नष्ट करते हैं और हमें स्वस्थ बनाते हैं। (३) इसलिए **अध्वर्यव:**=अध्वर-यज्ञ को अपने साथ जोड़नेवाले व्यक्तियों **इन्द्राय**-उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिये **सोमं सुनुत**=सोम का, इन रेत:कणों का अभिषव करो। इनको अपने शरीर में उत्पन्न करो। जिससे **व:**=तुम्हारे लिये **देवयज्या**=उस देव के साथ संगतिकरण, अर्थात् उस प्रभु की प्राप्ति **उ**-निश्चय से **सुशका अभूत्**-सुगमता से हो सकनेवाली हो। इस सोम के, वीर्य के रक्षण से उस सोम की, प्रभु की प्राप्ति सुगम हो ही जाती है।

भावार्थ—सुरक्षित रेत:कण रोगों को नष्ट करते हैं और हमारे लिये प्रभु प्राप्ति को सुगम कर देते हैं।

सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से होता है कि 'हम यात्री हैं और ब्रह्म प्राप्ति हमारा लक्ष्य है' (१) प्रभु प्राप्ति के लिये हम हिंसा से ऊपर उठें और यज्ञशेष का सेवन करें, (२) प्रभु का उपासन हमें वीर्यरक्षण में समर्थ करता है, (३) इस वीर्यरक्षण से हमारा जीवन मधुर बनता है, (४) वीर्यरक्षण से हम शरीर व मन के दृष्टिकोण से स्वस्थ बनते हैं, (५) रेत:कणों का रक्षण बुद्धि को तीव्र करता है, (६) जीवन को यह उत्साह सम्पन्न बनाता है, (७) इससे हम ज्ञानी व निर्मल वृत्तिवाले बनते हैं, (८) एवं वीर्यरक्षण 'त्रितन्तु' है, 'शरीर, मन व मस्तिष्क' तीनों की शक्तियों का विस्तार करता है, (९) यह वीर्यरक्षण इहलोक व परलोक दोनों को सुन्दर बनाता है, (१०) ये रेत:कण सुख के देनेवाले हैं, (११) ये 'क्रतु' व 'अमृत' को धारण करते हैं, (१२) ये घृत पयस् व मधु को अपने में लिये हुए हैं, (१३) रेवती हैं, (१४) इनके द्वारा प्रभु प्राप्ति सुगमता

से हो पाती है, (१५) हमें देवों से दिये जानेवाला ज्ञान प्राप्त हो।

[३१] एकत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**कवष ऐलूषः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

देव-मैत्री

आ नो॑ दे॒वाना॒मुप॑ वेतु॒ शंसो॒ विश्वे॑भिस्तु॒रैरव॑से॒ यज॑त्रः।
तेभि॑र्व॒यं सु॑ष॒खायो॑ भवेम॒ तर॑न्तो॒ विश्वा॑ दु॒रि॒ता स्या॑म॥ १॥

(१) **नः**-हमें **देवानां शंसः**-देवों का ज्ञान, अर्थात् देवों से दिये जानेवाला ज्ञान **उपवेतु**-समीपता से प्राप्त हो। हम देवों के समीप, ज्ञान-ज्योति से दीप्त गुरुओं के समीप उपस्थित हों। हम उन्हें पुकारें (उपहूतो वाचस्पतिः), वे वाचस्पति हमें समीप उपस्थित होने की स्वीकृति दें (उपास्मान् वाचस्पतिर्ह्वयताम्) इन आचार्यों के चरणों में बैठकर हम ज्ञान को प्राप्त करें। (२) यह ज्ञान **विश्वेभिः**-सब **तुरैः**-बुराइयों के संहार के द्वारा **अवसे**=रक्षण के लिये **यजत्रः**=संगतिकरण योग्य है। इस ज्ञान को हमें इसलिये प्राप्त करना चाहिये कि यह सब बुराइयों को समाप्त करनेवाला है। (३) सो **वयम्**-हम **तेभिः**-उन देवों के साथ **सुषखायः**-उत्तम मित्रतावाले **भवेम**=हों। इनके सम्पर्क में रहते हुए हम उत्तम ज्ञान को प्राप्त करें। (४) ज्ञान को प्राप्त करते हुए हम **विश्वा**=सब **दुरिता**=बुराइयों को **तरन्तः**-तैरते हुए **स्याम**=हों। सब बुराइयों के हम पार हो जायें। बुराइयों को छोड़कर अच्छाइयों को प्राप्त करनेवाले हों।

भावार्थ—देवों के सम्पर्क से ज्ञान प्राप्त करें। यह ज्ञान हमारी न्यूनताओं को दूर करे। ज्ञानियों की मित्रता से हम दुरितों को तैर जायें।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

यज्ञार्थ-धन

परि॑ चि॒न्मर्तो॒ द्रवि॑णं ममन्यादृ॒तस्य॑ प॒था नम॒सा विवा॑सेत्।
उ॒त स्वेन॒ क्रतु॒ना सं व॑देत॒ श्रेयां॑सं॒ दक्षं॒ मन॑सा जगृभ्यात्॥ २॥

(१) **मर्तः**-मनुष्य **परिचित्**-सब ओर से ही, अर्थात् पूर्ण पुरुषार्थ से **द्रविणम्**=धन को **ममन्यात्**=(कामयेत्) चाहे। धन की कामना तो करे, परन्तु **ऋतस्य पथा**=ऋत के मार्ग से ही धन को कमाने की अभिलाषा करे। धन को कमाता हुआ **नमसा** नमन के द्वारा **विवासेत्**=उस प्रभु की परिचर्या करे। यह प्रभु स्मरण उसे अन्याय मार्ग से धन कमाने से रोकेगा। 'अग्ने नय सुपथा राये, भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम'। (२) **उत**-और इस प्रकार प्रभु स्मरण के साथ न्याय्य मार्ग से धनों को कमाता हुआ यह व्यक्ति **स्वेन क्रतुना**=अपने यज्ञों के साथ **संवदेत**=संवादवाला हो। अपने जीवन को यह यज्ञमय बनाये। धनों का विनियोग यह यज्ञों में ही करे। (३) इन यज्ञों को करता हुआ यह **मनसा**=मन से **श्रेयांसम्**=अतिशयेन कल्याणकर **दक्षम्**=प्रवृद्ध उस प्रभु को **जगृभ्यात्**=ग्रहण करे। यज्ञों को करते हुए, मन से प्रभु स्मरण करना इसलिए आवश्यक है कि हम उन यज्ञों के अहंकारवाले न हो जाएँ। यह प्रभु स्मरण हमें कल्याण को प्राप्त करानेवाला होगा तथा सब प्रकार से हमारी वृद्धि का कारण बनेगा, श्रेयान्=(दक्ष)।

भावार्थ—हम धन कमायें। धनों का विनियोग यज्ञों में करें। उन यज्ञों को प्रभु कृपा से होता हुआ जानकर अहंकारवाले न हों।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

ध्यान व स्वास्थ्य

अधायि धीतिरससृग्रमंशास्तीर्थे न दस्ममुप यन्त्यूमाः ।

अभ्यानश्म सुवितस्य शूषं नवेदसो अमृतानामभूम ॥ ३ ॥

(१) **धीतिः**—ध्यान **अधायि**—धारण किया गया, अर्थात् प्रभु ध्यान को हमने जीवन का एक नैत्यिक कार्य बना लिया। (२) और **तीर्थे**=तीर्थों में, पात्रों में **अंशाः**=अंश **अससृग्रम्**=बनाये गये, अर्थात् हमने उपार्जित धन में से पात्रों में, योग्य व्यक्तियों में धनांश को प्राप्त कराया। यही धनों का यज्ञों में विनियोग है। (३) इस प्रकार करने पर **ऊमाः**=(अवितारः) पात्रों में दिये गये ये धनांश हमारे रक्षक होते हैं। ये रक्षक धनांश **दस्मम्**=विनाश को **न उपयन्ति**=नहीं प्राप्त होते हैं, अर्थात् यह धनांशों का यज्ञों में विनियोग सदा चलता रहता है, इसमें कभी विच्छेद नहीं होता। (४) इसके परिणामरूप हम **सुवितस्य**=उत्तम आचरण के **शूषम्**=सुख को **अभ्यानश्म**=प्राप्त करनेवाले हों। यज्ञ की वृत्ति हमें दुष्टाचरण से बचाती है और परिणामतः दुःखों से छुड़ाती है। (५) सुवित के सुख को अनुभव करते हुए हम **अमृतानाम्**=नीरोगताओं के **नवेदसः**=(न वेत्तारः, वेत्तार एव) जाननेवाले **अभूम**=हों। हम जीवन में सदा स्वस्थ हों।

भावार्थ—हमारा जीवन प्रभु ध्यान से समवेत हो, हम पात्रों में धनों के देनेवाले हों, ये धनांशों के दान सतत चलते रहें, सदाचरण के सुख का हम अनुभव करें और पूर्ण नीरोग हों।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

आत्मशासन

नित्यश्चाकन्यात्स्वपतिर्दमूना यस्मा उ देवः सविता जजान ।

भगो वा गोभिर्यमेमनज्यात्सो अस्मै चारुश्छदयदुत स्यात् ॥ ४ ॥

(१) मनुष्य को चाहिये कि वह **नित्यः**=सदा **चाकन्यात्**—उस प्रभु की कामना करे। प्रभु प्राप्ति के लिये कामना ही सर्वोत्तम कामना है। इस कामना की पूर्ति के लिये **स्वपतिः**=वह अपना पति बने, अपना रक्षण करनेवाला हो। विषय-वासनाओं के आक्रमण से अपने को बचायें। **दमूनाः**=(दान्तमनाः) अपने मन का दमन करनेवाला हो। दान्त मन ही हमारा बन्धु है, अजित मन तो हमारा नाश करनेवाला होता है। 'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः येनात्मैवात्मना जितः, अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्ततात्मैव शत्रुवत्'। (२) यह स्वपति व दमूना वह व्यक्ति होता है **यस्मै**=जिसके लिये **उ**=निश्चय से **सविता देवः**=वह प्रेरक प्रकाशमय प्रभु **जजान**=अपने को प्रकट करता है। **वा**=और **भगः**=ऐश्वर्य की अधिष्ठात्री देवता **गोभिः**=गौ इत्यादि पशुओं से **एनम्**=इसको **अनज्यात्**=अलंकृत करता है, अर्थात् इसके पास गवादि धन की किसी प्रकार से कमी नहीं होती। **अर्यमा**=(अर्यमेति तमाहुर्योददाति) दान की अधिष्ठात्री देवता भी **ईम्**=निश्चय से **एनम्**=इसको **अनज्यात्**=अलंकृत करती है, अर्थात् यह धनों का खूब दान देनेवाला बनता है। (३) अब **सः**=वह **चारुः**=सुन्दर ही सुन्दर प्रभु **अस्मै**=इसके लिये **छदयत्**=शरण को देनेवाला **उत**=निश्चय से **स्यात्**=होता है।

भावार्थ—जब मनुष्य प्रभु की कामनावाला होकर आत्मशासन करता है तो प्रभु उसके लिये प्रकाशित होते हैं, इसे आवश्यक धन व दान की वृत्ति प्राप्त कराते हैं और अन्ततः यह उस सुन्दरतम प्रभु की शरण में होता है।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

शान्तिकर शक्तियाँ

इयं सा भूया उषसामिव क्षा यद्ध क्षुमन्तः शवसा समायन्।
अस्य स्तुतिं जरितुर्भिक्षमाणा आ नः शग्मास उप यन्तु वाजाः ॥ ५ ॥

(१) **यद् ह**-जब निश्चय से **क्षुमन्तः**-भूखवाले, अर्थात् जिनकी जाठराग्नि बुझ नहीं गई और जाठराग्नि के ठीक होने के कारण ही **शवसा**-बल व शक्ति के साथ **समायन्**=गतिवाले होते हैं, तब **इयं सा क्षा**-यह वह प्रसिद्ध पृथिवी **उषसां इव**=उषःकालों की तरह **भूयाः**-हो, अर्थात् जिस प्रकार उषःकाल के द्वारा अन्धकार का नाश होकर उत्तरोत्तर प्रकाश की वृद्धि होती चलती है, उसी प्रकार हमारे जीवनों में उत्तरोत्तर ज्ञान का प्रकाश बढ़ता चले। इस प्रकार के जीवन को बनाने के लिये यह आवश्यक ही है कि हमारा शरीर का स्वास्थ्य ठीक हो, हम शक्ति-सम्पन्न हों और गतिशील क्रियामय जीवनवाले हों। (२) **अस्य**=इस क्रियात्मक जीवन से **जरितुः**=स्तुति करनेवाले की **स्तुतिं भिक्षमाणाः**-स्तुति की प्रार्थना करते हुए, अर्थात् इस प्रकार की स्तुति को सदा कर सकने की कामनावाले **शग्मासः**=अत्यन्त सुख को करनेवाले, 'peace, plenty and power' वाले **वाजाः**-बल व ज्ञान **नः**-हमें **उपयन्तु**-समीपता से प्राप्त हों, अर्थात् हम शान्तिकर सुखों से युक्त बलों को प्राप्त करें, परन्तु वे बल हमें प्रभु की क्रियात्मक स्तुति से सम्पन्न करनेवाले हों।

भावार्थ—हमारी जाठराग्नि ठीक हो, शक्ति से युक्त होकर हम क्रियामय जीवनवाले हों। हमारे जीवन में उत्तरोत्तर प्रकाश की अभिवृद्धि हो। हमें सुखकर शक्तियों की प्राप्ति हो और हम प्रभु-स्तवन से कभी दूर न हों।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**पादनिचृत्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सुमति व भरण

अस्येदेषा सुमतिः पप्रथानाऽभवत्पूर्व्या भूमना गौः।
अस्य सनीळ्ळा असुरस्य योनौ समान आ भरणे बिभ्रमाणाः ॥ ६ ॥

(१) गत मन्त्र में प्रतिपादित हुई **एषा**=यह **अस्य**=इस स्तोता की **सुमतिः**=कल्याणीमति **इत्**-निश्चय से **पप्रथाना**=निरन्तर विस्तृत होनेवाली हो। इस सुमति में कमी न आकर वृद्धि ही हो। (२) यह कल्याणीमति (क) **पूर्व्या**=पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम हो। इस मति से शरीर रोगों से सुरक्षित रहे और मन में वासनाओं के कारण न्यूनता न आ जाये। यह सुमति (ख) **भूमना**-'बहुत्वेन युक्त' हो, अर्थात् अपने परिवार को विस्तृत करनेवाली हो, वसुधा को ही अपना परिवार बनानेवाली हो। (ग) **गौः**=यह सुमति तत्त्वज्ञान को प्राप्त करानेवाली हो। तात्त्विक ज्ञान तो यही है कि हम सब उस प्रभु के पुत्र हैं और परस्पर भाई-भाई हैं, एक दूसरे के वर्धन में ही हमारी अभिवृद्धि है। (३) इस प्रकार एक परिवार के बनकर हम **अस्य असुरस्य**=इस प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवाले (असून् रातिं) प्रभु के **योनौ**=गृह में **सनीडः**=समान रूप से रहनेवाले हम हों, और इस **समाने**-सबके लिये साधारण अथवा सबको सोत्साहित करनेवाले (सं आनयति) **आभरणे**=सब दृष्टिकोणों से पोषित करनेवाले घर में **बिभ्रमाणाः**=सब शक्तियों का भरण व पोषण करनेवाले हम हों। प्रभु की शरण में रहते हुए हम 'शरीर, मन व मस्तिष्क' की शक्तियों से युक्त हों। उस प्रभु रूप गृह में निवास करते हुए हमारा पोषण ही पोषण हो। हम सभी को उस प्रभु के पुत्र रूप में जानें और मिलकर परस्पर वर्धन करनेवाले हों।

भावार्थ—हम सदा प्रभु रूप गृह में निवास करें, यह निवास हमारी शक्तियों का पोषण करे।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

'वन-वृक्ष'

किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
संतस्थाने अजरे इतऊती अहानि पूर्वीरुषसो जरन्त॥७॥

(१) प्रभु के नाम तीनों लिङ्गों में होते हैं। सो 'किम्' शब्द भी तीनों ही लिङ्गों में प्रभु का प्रतिपादक है। इसकी मूलभावना 'आनन्दमयता' की है। वे **किम्**=आनन्दमय प्रभु **स्विद्**=निश्चय से **वनम्**=उपासनीय हैं 'तद्धि तद्वनं नाम, तद्वनमित्युपासितात्यम्'। उपासनीय होने से प्रभु का नाम ही 'वनम्' हो गया है 'वन संभक्तौ'। **उ**=और **स**=वे **कः**=आनन्दमय प्रभु **वृक्षः**=(वृश्चति इति) हमारे भव-बन्धनों को काटनेवाले हैं। 'उपासना' कारण है, 'भव-बन्धनों का काटना' उसका कार्य है। इसी से उपासना का पहले तथा बन्धनच्छेद का उल्लेख पीछे हुआ है। (२) ये प्रभु वे हैं **यतः**=जिनसे **द्यावापृथिवी**=ये द्युलोक व पृथिवीलोक, द्युलोक से लेकर पृथिवीलोक तक सब लोक-लोकान्तर **निष्टतक्षुः**=बनाये गये हैं। ये दोनों लोक **संतस्थाने**=सम्यक्तया अपनी मर्यादा में स्थित हैं, ये डाँवाडोल हो जानेवाले व अमर्याद गतिवाले होकर नष्ट-भ्रष्ट करनेवाले नहीं हैं। **अजरे**=कभी जीर्ण नहीं होते। 'पृथ्वी की उपजाऊँ शक्ति कम होती जा रही हो' ऐसी बात नहीं अथवा 'वायुमण्डल में अम्लजन की मात्रा कम होती जा रही हो' ऐसी बात भी नहीं। 'सूर्य क्षीण होता जा रहा हो' ऐसा कुछ नहीं है। सब चाक्रिक व्यवस्थाओं के कारण 'जो है' वह उतना ही बना रहता है। ये सब लोक जीर्ण होनेवाले नहीं। मनुष्य निर्मित चीजे जीर्ण होती हैं, प्रभु की सृष्टि अजीर्ण है। ये द्युलोक व पृथ्वीलोक **इत ऊती**=इस लोक से हमारा रक्षण करनेवाले हैं। यदि हम इनका ठीक प्रयोग करते हैं तो हमारा भौतिक संसार ठीक बना रहता है, शरीर स्वस्थ रहता है। (३) इस प्रकार स्वस्थ शरीरवाले बनकर ये ज्ञानी पुरुष **अहानि**=जीवन के प्रत्येक दिन **पूर्वीः उषसः**=उषाकाल के पूर्वभागों में (early in the morning) **जरन्त**=उस 'वन व वृक्ष' नामक प्रभु का स्तवन करते हैं। इस प्रभु ने ही तो उन द्युलोक व पृथिवीलोक को बनाया है जिनके कारण हमारी ऐहिक उन्नति बड़ी सुन्दरता से हो पाती है। इस प्रभु के स्तवन से अध्यात्म उन्नति होती है और हमारे बन्धनों का उच्छेद होता है। प्रकृति ऐहिक उन्नति में सहायक होती है तो प्रभु पारलौकिक व अध्यात्म उन्नति का कारण बनते हैं।

भावार्थ—प्रकृति के ठीक प्रयोग से हम इधर से अपना रक्षण करें और प्रभु-स्तवन से उधर के कल्याण को साधें। प्रभु का बनाया हुआ यह संसार हमें भौतिक स्वास्थ्य देगा और प्रभु-स्मरण अध्यात्म-स्वास्थ्य का कारण बनेगा।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

इन्द्रियों की पवित्रता व पवित्र जीवन

नैतावदेना परो अन्यदस्त्युक्षा स द्यावापृथिवी बिभर्ति।
त्वचं पवित्रं कृणुत स्वधावान्यदीं सूर्यं न हरितो वहन्ति॥८॥

(१) मनुष्य अपनी अल्पज्ञता से कई बार इस संसार में ऐसा उलझ जाता है कि उसे परलोक का ध्यान ही नहीं रहता। उपनिषद् में इन्हीं के लिये कहा गया है कि 'अयं लोकोनास्ति पर इति मानी, पुनः पुनर्वशमापद्यते मे', 'यही लोक है, परलोक नहीं है' ऐसा माननेवाला फिर-फिर मृत्युचक्र

में पड़ता है। वेद कहता है कि यह उनकी धारणा गलत है **न एतावत्** केवल यही लोक नहीं है। **एना**-(एनेभ्यः) इन दृश्यमान लोक-लोकान्तरों से **परः** उत्कृष्ट **अन्यत्**=दूसरा आत्मतत्त्व **अस्ति** है। **उक्षा**-वस्तुतः वह आत्मतत्त्व ही इस संसार-शकट का वहन करनेवाला है, सब पर सुखों का सेचन करनेवाला है और **सः**-वह ही **द्यावापृथिवी**-द्युलोक व पृथ्वीलोक को, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को **बिभर्ति**=धारण करता है। (२) आत्मतत्त्व को 'स्व' कहते हैं, इस आत्मतत्त्व का धारण 'स्वधा' है। **स्वधावान्**-इस आत्मतत्त्व के धारणवाला व्यक्ति **त्वचम्**- (Touch) इन्द्रियों के विषयों के साथ सम्पर्क को, मात्रा स्पर्शों को **पवित्रं कृणुत**=पवित्र कर लेता है, अर्थात् यह इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण जीवन की उन्नति के लिये ही करता है। यह उन सम्पर्कों में आसक्त नहीं हो जाता। (३) यह वह समय होता है **यद्**=जब कि **ईम्**=निश्चय से **हरितः**=ये इन्द्रियरूप अश्व इसके लिये **सूर्यम्**-ज्ञान के सूर्य को उसी प्रकार **वहन्ति**-प्राप्त कराते हैं **न**=जैसे कि हरितः-सूर्य किरण रूप अश्व सूर्यम्=सूर्य को वहन्ति=इस पृथ्वी पर प्राप्त कराते हैं, अर्थात् विषयों में अनासक्त इन्द्रियाँ ज्ञानवृद्धि का कारण बनती हैं।

भावार्थ—इस भौतिक संसार से परे इसका संचालक आत्मतत्त्व भी है। इस आत्मतत्त्व का ज्ञान हमारे जीवनों को पवित्र करता है। इस जीवन में इन्द्रियाँ हमें ज्ञान के सूर्य को प्राप्त करानेवाली होती हैं।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**आर्चीस्वराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

आधिदैविक आपत्तियों का दूरीकरण

स्तेगो न क्षामत्यैति पृथ्वीं मिहं न वातो वि ह वाति भूम।
मित्रो यत्र वरुणो अज्यमानोऽग्निर्वने न व्यसृष्ट शोकम्॥ ९॥

(१) पिछले मन्त्र के अनुसार जीवन के पवित्र होने पर **स्तेगः**=सूर्यरश्मियों का **संघात क्षाम्** इस निवास के योग्य **भूमिम्**=पृथ्वी को **न अति एति**-अतिशयेन प्राप्त नहीं होता, अर्थात् सूर्य की प्रचण्ड रश्मियों से अत्युष्णता होकर यह पृथ्वी निवास के अयोग्य नहीं हो जाती। अत्युष्णता व अतिशीत रूप आधिदैविक आपत्तियाँ मनुष्य को नहीं सताती। (२) **वातः**=वर्षा को लानेवाले वायु में **मिहम्**-वर्षा को **भूम**-इस पृथ्वी पर **ह**=निश्चय से **न विवाति**=अतिशयेन नहीं प्राप्त कराती। वर्षा, मर्यादितरूप में होकर, अन्नवृद्धि व रोगाभाव का कारण बनती है। अतिवृष्टि व अनावृष्टिरूप आधिदैविक आपत्तियों से हम बचे रहते हैं। (३) **अग्निः**=आग **वने**=वनों में **शोकम्** अपनी दीप्ति को **न व्यसृष्ट**=नहीं विसृष्ट करती, अर्थात् वनों में आगें नहीं लगती रहतीं। वन राष्ट्र के महान् धन हैं, अग्नि इनका विनाश नहीं कर देती। (४) 'आगें लगना' स्वयं एक आधिदैविक आपत्ति है। यह आधिदैविक आपत्ति भी उस स्थान में नहीं आती **यत्र**-जहाँ कि **मित्रः**-स्नेह की देवता व **वरुणः** निर्द्वेषता की देवता **अज्यमानः**=विशेषरूप से व्यक्त होती है। जहाँ लोग परस्पर प्रेम व द्वेष के अभाव के साथ वर्तते हैं।

भावार्थ—प्रेम व निर्द्वेषता का राज्य होने पर अत्युष्णता, अतिवृष्टि व अग्निदाह आदि आधिदैविक आपत्तियों का कष्ट नहीं होता।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

(sterile) का (fertile) हो जाना (वन्ध्यात्वविनाश)

स्तरीर्यत्सूत सद्यो अज्यमाना व्यथिरव्यथीः कृणुत स्वगोपा।
पुत्रो यत्पूर्वः पित्रोर्जनिष्ट शम्यां गौर्जगार यद्ध पृच्छान्॥ १०॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार मनुष्य जब राग-द्वेष से ऊपर उठकर वर्तते हैं तो **यत्**-जो **स्तरीः**-

वन्ध्या गौ होती है वह भी **अज्यमाना**=निषिच्यमानरेतस्का होने पर, रेतस् के आधान होने पर, **सद्यः**-शीघ्र ही **सूत**-बछड़े को जन्म देनेवाली होती है। पवित्राचरण के होने पर वन्ध्यात्व का विनाश हो जाता है। (२) **स्वगोपाः**=अपना गोपन-रक्षण करनेवाला व्यक्ति जब यह वासनाओं से अपने को आक्रान्त नहीं होने देता तो **व्यथिः अव्यथीः कृणुत**=दुःखियों को दुःखरहित कर देता है। आधिदैविक कष्टों के निवारण से सब का जीवन सुखी हो जाता है। (३) **यत्**-जब यह **स्वगोपाः**-आत्मरक्षक व्यक्ति **पित्रोः**=माता-पिता का **पूर्वः पुत्रः**=प्रथम स्थान में स्थित होनेवाला पुत्र **जनिष्ट**-होता है, अर्थात् जब यह उन्नततम जीवनवाला होता है तो **यत् ह**=जब भी निश्चय से **पृच्छान्**-इससे पूछते हैं तो **गौः**=इसकी वाणी **शम्याम्**=शान्ति को देनेवाले वचनों को ही **जगार**=उद्‌गिरण करती है। यह शान्त वचन ही बोलता है, कभी तेजी में कोई बात नहीं कहता एवं आधिदैविक आपत्तियाँ तभी दूर होती हैं जब कि हम जीवन को उन्नत बनाते हैं और शान्त मधुर ही शब्द बोलते हैं।

भावार्थ—हम आत्मरक्षण करें, माता-पिता के उत्तम पुत्र बनें, शान्त वाणी बोलें तो राष्ट्र में गौवें वन्ध्या न होंगी और सब कष्ट दूर हो जायेंगे।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

नृषद् पुत्र 'कण्व'

उत कण्वं नृषदः पुत्रमाहुरुत श्यावो धनमादत्त वाजी।
प्र कृष्णाय रुशदपिन्वतोधर्ऋतमत्र नकिरस्मा अपीपेत्॥ ११॥

(१) **उत**=और **कण्वम्**-कण-कण करके उत्तमता का संचय करनेवाले को, अतएव मेधावी को **नृषदः**=सब मनुष्यों में निवास करनेवाले प्रभु का **पुत्रम्**=पुत्र **आहुः**=कहते हैं। प्रभु 'नृषद्' हैं, यह मधुरवाणी बोलनेवाला, आत्मरक्षण करनेवाला व्यक्ति प्रभु का सच्चा पुत्र है। (२) **उत**=और **श्यावः**=(श्यैङ् गतौ) खूब क्रियामय जीवनवाला यह **वाजी**=शक्तिशाली बनता है और **धनम्**=धन को **आदत्त**=प्राप्त करता है। क्रियाशीलता धन प्राप्ति का साधन होती है और शरीर के अंगों को सबल बनाये रखती है। (३) **ऊधः**=ऊधस्, अर्थात् ऊधः स्थानीय दूध **कृष्णाय**=मन को विषयों से वापिस खैंच (आकृष्ट) करके, संसार के रंग में न रंगे जानेवाले के लिये **रुशत्**=देदीप्यमान रूप को **प्र अपिन्वत**=प्रकर्षेण सिक्त करता है। दूध का प्रयोग तथा विषयों में अनासक्ति मनुष्य को दीप्त रूप प्राप्त कराता है। (४) **अत्र**=इस जीवन में **ऋतम्**=ऋत, सत्य व यज्ञ **अस्मै**=इस व्यक्ति के लिये **नकिः अपीपेत्**=क्या वर्धन नहीं करता? ऋत के द्वारा इसके जीवन में सब आवश्यक वस्तुओं का आप्यायन होता है।

भावार्थ—मेधावी पुरुष प्रभु का सच्चा पुत्र होता है। गतिशीलता से यह धन व शक्ति का संग्रह करता है। दूध का प्रयोग इसे दीप्तरूप देता है। सत्य व यज्ञ इसे सब आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त कराते हैं।

सूक्त के प्रारम्भ में प्रार्थना है कि हमें देवों की मैत्री प्राप्त हो। (१) यज्ञार्थ हम धनों का संग्रह करें, (२) हमारे जीवनों में ध्यान व स्वास्थ्य हो, (३) हम आत्मशासन करनेवाले हों, (४) हमें शान्तिकर शक्तियों की प्राप्ति हो, (५) सुमति बनी रहे, (६) प्रभु को हम उपास्य व भव-बन्धनों का काटनेवाला जानें, (७) हमारे जीवन पवित्र हों, (८) यह जीवन की पवित्रता 'अत्युष्णता, अतिवृष्टि, अग्निदाह' आदि आपत्तियों से बचायेगी, (९) मधुर जीवन के होने पर वन्ध्यात्व विनष्ट हो जाएगा, (१०) हम उस अन्तःस्थित प्रभु के सच्चे पुत्र होंगे, (११) अच्छे से अच्छे मार्ग की ओर हम बढ़ें।

[३२] द्वात्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**कवष ऐलूषः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

उत्तमोत्तम मार्ग की ओर

प्र सु ग्मन्ता धियसानस्य सक्षणि वरेभिर्वराँ अभि षु प्रसीदतः।
अस्माकमिन्द्र उभयं जुजोषति यत्सोम्यस्यान्धसो बुबोधति॥ १ ॥

(१) पति पत्नी को सम्बोधन करके कहते हैं कि **धियसानस्य**=ध्यान करने के स्वभाववाले के **सक्षणि**=सेवन में, सम्पर्क में **प्र**-प्रकर्षेण **सुग्मन्ता**-अच्छी तरह से आप जानेवाले होवो। आपका सम्पर्क ध्यान की वृत्तिवाले लोगों के साथ हो, भोग प्रधान वृत्तिवालों का सम्पर्क आपको भी भोग-प्रवण ही तो बना देगा। (२) इस प्रकार ध्यान-प्रवण लोगों के सम्पर्क में रहकर **वरेभिः वरान्**-अच्छे से भी अच्छे मार्गों के **अभि**=ओर **सु**-उत्तमता से **प्रसीदतः**-(proceed) आप आगे बढ़ो। प्रभु ध्यान करनेवाले लोगों का सम्पर्क हमें उत्तम मार्ग पर आगे बढ़ायेगा, जबकि भोग-प्रवण लोगों का सम्पर्क हमारे ह्रास का ही कारण बनेगा। (३) प्रभु कहते हैं कि **इन्द्रः**=ध्यान वृत्ति के लोगों के सम्पर्क में रहनेवाला जितेन्द्रिय पुरुष **अस्माकम्**-हमारा **उभयम्**=दोनों सन्ध्या कालों में प्रातः-सायं निरन्तर **जुजोषति**=प्रीतिपूर्वक सेवन करता है। इसकी भी रुचि ध्यान की बनती है और इस ध्यान में यह कभी भी विच्छेद नहीं होने देता। (४) यह कर ऐसा तभी पाता है **यत्**-जब कि **सोम्यस्य अन्धसः**-सोम के लिये, वीर्य शक्ति के लिये हितकर अन्धसः=अन्न को ही यह **बुबोधति**-जानता है। यह सोम्य अन्नों के सिवाय अन्य अन्नों का पदार्थों का यह कभी प्रयोग नहीं करता। इसीका परिणाम है कि इसकी मनोवृत्ति सुन्दर बनी रहती है।

भावार्थ—ध्यानवृत्ति पुरुषों के सम्पर्क से हम उत्तमोत्तम मार्गों का आक्रमण करनेवाले हैं। दोनों संधिवेलाओं में प्रभु का ध्यान करें। सोम्य अन्नों का ही सेवन करें।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

दिव्य-प्रकाश (Divine light)

वीन्द्र यासि दिव्यानि रोचना वि पार्थिवानि रजसा पुरुष्टुत।
ये त्वा वहन्ति मुहुरध्वराँ उप ते सु वन्वन्तु वग्वनाँ अराधसः॥ २ ॥

(१) हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **दिव्यानि रोचना**=दिव्य दीप्तियों को (Divine light) **वियासि**-विशेषरूपेण प्राप्त होता है। जितेन्द्रियता ही वस्तुतः दिव्य प्रकाश की प्राप्ति का साधन होती है। (२) हे इन्द्र! तू **पार्थिवानि (रोचना) वियासि**=पार्थिव दीप्तियों को भी विशेषरूप से प्राप्त होता है। स्वास्थ्य के कारण शरीर पर प्रकट होनेवाला सौन्दर्य ही 'पार्थिव रोचन' है। इसमें कमी आने पर चेहरा मुरझाया-सा प्रतीत होता है। (३) हे इन्द्र! तू **रजसा**=(रजः कर्मणि) कर्म के द्वारा अथवा 'रजः अन्तरिक्षम्' अपने हृदयान्तरिक्ष के द्वारा **पुरुष्टुत**-बहुतों से स्तुत होता है। कर्मों के कारण व हृदयान्तरिक्ष की निर्मलता के कारण तेरी सब प्रशंसा करते हैं। (४) हे प्रभो **ये**=जो भी व्यक्ति **त्वा वहन्ति**=आपका धारण करते हैं और **मुहुः**=फिर **अध्वरान् उप**=हिंसारहित यज्ञात्मक कर्मों के समीप निवास करते हैं, अर्थात् जो आपका स्मरण करते हैं और यज्ञों में लगे रहते हैं **ते**-वे **वग्वनान्**=केवल वाणी का सेवन करनेवाले (वच् वन), बात करनेवाले, परन्तु **अराधसः**=कार्यों को न सिद्ध करनेवाले पुरुषों को **सुवन्वन्तु**-उत्तमता से जीतनेवाले हों (वन् win)। 'बातें करना और कामों को न करना' यह अवनति का मार्ग है और इसके विपरीत 'प्रभु

का हृदय में स्मरण करना और यज्ञों में लगे रहना' ही उन्नति का मार्ग है।

भावार्थ—प्रभु-स्मरणपूर्वक हम कर्मों में लगे रहें, इसी से हमें दिव्य प्रकाश प्राप्त होगा, स्वास्थ्य की दीप्ति मिलेगी और कर्मों की भावना व हृदय की पवित्रता से प्रशस्त जीवनवाले होंगे।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'भक्त', 'पुत्र', 'जाया' व 'भद्र पुरुष' का लक्षण

तदिन्मे छन्त्सद्वपुषो वपुष्टरं पुत्रो यज्जानं पित्रोरधीयति।

जाया पतिं वहति वग्नुना सुमत्पुंस इद्भद्रो वहतुः परिष्कृतः ॥ ३ ॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **तत्**=वह **इत्**=ही **मे**=मेरा है, वही मेरा सच्चा भक्त अपत्य है, जो कि **वपुषः वपुष्टरम्**=अच्छे से अच्छे शरीर की **छन्त्सत्**=कामना करता है। प्रभु का सच्चा भक्त सन्तान वही है कि जो शरीर को अधिक से अधिक स्वस्थ रखने का ध्यान करता है। प्रभु ने परमार्थ-साधन के लिये यह शरीर दिया है, यदि इस शरीर को ही हम विकृत कर लेते हैं तो प्रभु के निर्देश का पालन न करते हुए हम उस प्रभु की अवज्ञा कर रहे होते हैं। (२) **पुत्रः**=पुत्र वही है **यत्**=जो **पित्रोः**=माता-पिता के **जानम्**=विकास को **अधीयति**=प्राप्त करता है। माता-पिता के गुण-कर्मों का अनुकरण करते हुए अपनी शक्तियों का विकास करनेवाला ही सच्चा पुत्र होता है। (३) **जाया**=पत्नी वह है जो **सुमत्**=उत्तम विचारपूर्वक उच्चारण की गई **वग्नुना**=वाणी से **पतिम्**=पति को **वहति**=आवश्यक पदार्थ प्राप्त कराती है। कभी कटु व अप्रीतिकर वचनों को नहीं बोलती। 'जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्'=पत्नी पति के लिये माधुर्यवाली शान्ति को देनेवाली वाणी को बोले। (४) **पुंसः**=मानवजाति का **इत्**=निश्चय से **भद्रः**=भद्र पुरुष वही है जो इस बात का ध्यान करता है कि **वहतुः**=(Marriage) उसका विवाह सम्बन्ध **परिष्कृतः**=बड़ा परिष्कृत हो, वासनात्मक यह सम्बन्ध न हो। पति-पत्नी का परस्पर प्रेम हो और वह प्रेम पुनीत सन्तान को जन्म देनेवाला हो। 'प्रजायै गृहमेधिनाम्'=सन्तान के लिये ही वे गृहस्थ में प्रविष्ट हुए हों और इस प्रकार गृहस्थाश्रम को वे यज्ञ का रूप दे दें।

भावार्थ—हम शरीर को उत्तम बनायें और प्रभु के सच्चे भक्त हों, माता-पिता से जीवन के विकास को सीखकर सच्चे पुत्र बनें, पत्नी के रूप में हों तो विचारपूर्वक मधुरवाणी से पति को प्राप्त हों। गृहस्थ को परिष्कृत बनाकर भद्र पुरुष बनें।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

'माता' व 'जन' का लक्षण

तदित्सधस्थमभि चारु दीधय गावो यच्छासन्वहतुं न धेनवः।

माता यन्मन्तुर्यूथस्य पूर्व्याभि वाणस्य सप्तधातुरिज्जनः ॥ ४ ॥

(१) हे प्रभो! आप **इत्**=निश्चय से **तत्**=उस **सधस्थम्**=आत्मा और परमात्मा के मिलकर बैठने के स्थान 'हृदय' को **चारु**=सुन्दरता से **अभि दीधय**=दीप्त करिये। इस प्रकार हमारे इस हृदय को ज्ञान से दीप्त करिये **यत्**=कि **धेनवः गावः**=विषयों के द्वारा प्रीणित करनेवाली इन्द्रियरूप गौवें **वहतुम्**=हमारे विवाह सम्बन्धों को **न शासन्**=न शासित करनेवाली हों, अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा विषयों के भोग ही वैवाहिक जीवन में प्रधान स्थान न ले लें। हमारा हृदय दीप्त हो और इस प्रकार दीप्त हो कि हमारा वैवाहिक जीवन भी पवित्र बना रहे। (२) **माता**=माता वही है जो कि **मन्तुः**=आज्ञा को माननेवाले पुत्र को **यूथस्य पूर्व्या**=बाल समूह में पूर्व स्थान प्राप्त कराने में उत्तम

है। अचानक किन्हीं पूर्व संस्कारों के कारण बच्चा कहना ही न माननेवाला हो तो माता के लिये उसे उन्नत करना कठिन हो जाता है, परन्तु सामान्य स्थिति में माता का पूर्ण प्रयत्न यही होना चाहिए कि उसका सन्तान बाल समूह में अग्रणी हो। इसी निर्माण में माता का मातृत्व है। (३) **जनः** विकासशील मनुष्य वही है जो **वाणस्य अभि**-स्तुति शब्दों का लक्ष्य करके **सप्तधातुः**-सात छन्दोंवाली वेदवाणी को धारण करता है (धार्यन्ते कर्माणि एभिः इति धातवः छन्दांसि) इन सात छन्दोंवाली वेदवाणी के द्वारा वह प्रभु का गुणगान करता हुआ अपने जीवन के लक्ष्य को ऊँचा बनाता है इसी प्रकार उसके जीवन की शक्तियों का विकास होता है और उसका जन यह नाम अन्यर्थक होता है। 'सप्तधातु' शब्द का अर्थ 'रस, रुधिर, मांस, अस्थि, मेदस्, मज्जा, वीर्य' इन 'सात धातुओंवाला' भी है। विकास के लिये इन सातों धातुओं का ठीक होना आवश्यक है।

भावार्थ—प्रभु हमारे हृदय को ऐसा दीप्त करें कि हमारा गृहस्थ जीवन भी बड़ा पवित्र हो। हम माता बनें तो निर्माण करनेवाली हों। जन हों तो 'सप्तधातु' बनकर जन नाम को अन्वर्थक करें।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**आर्चीभुरिग्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

दुरित-विरेचन

प्र वोऽच्छा रिरिचे देवयुष्पदमेको रुद्रेभिर्याति तुर्वणिः।
जरा वा येष्वमृतेषु दावने परि व ऊमेभ्यः सिञ्चता मधु॥ ५॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **वः**-हे मनुष्यो! तुम्हारे में से **देवयुः**-देव के साथ अपने को जोड़ने की कामनावाला व्यक्ति, प्रभु प्राप्ति की प्रबल इच्छावाला व्यक्ति, **पदं अच्छा**-'पद्यते मुनिभिर्यस्मात् तस्मात् पद उदाहृतः' उस गन्तव्य स्थान, परागति प्रभु का लक्ष्य करके **प्ररिरिचे**-(रेचति-(To give up) बुराइयों को छोड़ता है, दुरितों को अपने से दूर करता है। दुरितों को दूर करके और भद्रों को अपनाकर ही तो हम उस प्रभु के समीप पहुँचनेवाले होते हैं। (२) **एकः**-यह गतिशील (इ गतौ) अथवा औरों की पड़ताल न करता हुआ अपने आप **रुद्रेभिः**=प्राणों के साथ **याति**=उस प्रभु को प्राप्त करता है। प्राणसाधना के द्वारा चित्तवृत्ति का निरोध करता हुआ यह प्रभु का दर्शन करनेवाला बनता है और **तुर्वणिः**=शत्रुओं का संहार करनेवाला होता है 'तुर्व् हिंसायाम्' अथवा त्वरा से शत्रुओं का जीतनेवाला होता है (त्वर् वन्) (३) **येषु अमृतेषु**-जिन विषय-वासनाओं के पीछे न मरनेवाले व्यक्तियों में **जरा**-प्रभु का स्तवन **दावने**=सब उत्तम वस्तुओं के देनेवाला होता है। मनुष्य विषयों से आक्रान्त न हो और प्रभु का स्मरण करनेवाला बने तो उसे योगक्षेम की किसी प्रकार से चिन्ता नहीं रहती। सब आवश्यक वस्तुएँ तो उसे प्राप्त हो ही जाती हैं। (४) प्रभु कहते हैं कि **वः**=तुम्हारी **ऊमेभ्यः**=रक्षा करनेवाले इन देवों के लिये, इन देवों की प्राप्ति के लिये **मधु**-सोम को, वीर्यशक्ति को **परि सिञ्चता**-शरीर में चारों ओर सिक्त करने का प्रयत्न करो। इस मधु के शरीर में सुरक्षित होने पर ही जीवन के सारे माधुर्य निर्भर हैं।

भावार्थ—प्रभु प्राप्ति का मार्ग यही है कि हम दुरितों से दूर हों। प्राणसाधना द्वारा कामादि शत्रुओं को वश में करे। प्रभु-स्तवन को अपनाएँ। सोम को शरीर में ही सुरक्षित करें।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

'देव व्रत पालन इन्द्र विद्वान्'

निधीयमानमपगूळ्हमप्सु प्र मे देवानां व्रतपा उवाच।
इन्द्रो विद्वाँ अनु हि त्वा चचक्ष तेनाहमग्ने अनुशिष्ट आगाम्॥ ६॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार सोम को शरीर में ही सिक्त करनेवाले **मे**-मुझे **देवानां व्रतपाः**-देवों के व्रत का पालन करनेवाला, सत्य के व्रत का पालन करनेवाला **इन्द्रः**-जितेन्द्रिय **विद्वान्**-ज्ञानी पुरुष **उवाच**=उस प्रभु का प्रतिपादन करता है, जो **निधीयमानम्**=प्रत्येक प्राणी व वस्तु के अन्दर निहित=विद्यमान हैं तथा **अप्सु**=सब (आपो नारा इति प्रोक्ताः) मानव प्रजाओं में **अपगूढम्**=हृदयरूप गुहा में छिपकर बैठे हुए हैं। शिष्य की विशेषता यह है कि वह 'ब्रह्मचारी' हो, आचार्य की विशेषता यह कि वह 'सत्यवादी, जितेन्द्रिय व विद्वान्' हो, 'देवानां व्रतपाः, इन्द्र व विद्वान्' हो। ऐसा आचार्य ही शिष्य के लिये प्रभु का उपदेश कर पाता है। (२) हे प्रभो! **इन्द्र विद्वान्**=यह जितेन्द्रिय ज्ञानी पुरुष **हि**=ही **त्वा**=आपको **अनुचचक्ष**=आत्मदर्शन के साथ देखता है। आपका दर्शन किये हुए होने के कारण ही यह औरों के लिये प्रभु का प्रतिपादन कर पाता है। (३) हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **तेन**=इस विद्वान् से **अनुशिष्टः**=अनुशासन व उपदेश किया हुआ **अहम्**=मैं **आगाम्**=आपके समीप आनेवाला बनूँ। अजितेन्द्रिय अन्ध पुरुष के पीछे चलता हुआ तो मैं गर्त में ही गिरूँगा। सो मेरा सम्पर्क सदा जितेन्द्रिय ज्ञानी पुरुषों के साथ ही हो।

भावार्थ—मुझे 'सत्यवादी जितेन्द्रिय ज्ञानी पुरुषों से प्रभु का उपदेश प्राप्त हो। इन प्रभु साक्षात्कार करनेवालों से उपदिष्ट हुआ-हुआ मैं प्रभु को प्राप्त करनेवाला बनूँ'।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**आचीस्वराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

मार्ग-ज्ञान

अक्षेत्रवित्क्षेत्रविदं ह्यप्राट् स प्रैति क्षेत्रविदानुशिष्टः।
एतद्वै भद्रमनुशासनस्योत स्रुतिं विन्दत्यञ्जसीनाम्॥ ७॥

(१) 'क्षीयते गम्यतेऽनेन इति क्षेत्रं-मार्गः' **अक्षेत्रवित्**-मार्ग को न जाननेवाला पुरुष **क्षेत्रविदम्**=मार्ग को जाननेवाले को **हि**=निश्चय से **अप्राट्**=पूछता है और **सः**=वह **क्षेत्रविदा**=मार्गज्ञ से **अनुशिष्टः**=उपदिष्ट हुआ-हुआ **प्रैति**=प्रकर्षेण अपने मार्ग पर चलता है। क्षेत्रवित् के न मिलने पर भटकने की आशंका बनी ही रहती है। (२) **एतद् वै**=यह ही **अनुशासनस्य**=उपदेश का **भद्रम्**=कल्याण है कि **अञ्जसीनाम्**=सरलता से जाने योग्य ऋजु कर्मों के **स्रुतिम्**=मार्ग को **विन्दति**=पा लेता है, अर्थात् क्षेत्रविदों से अनुशिष्ट हुआ-हुआ व्यक्ति अकल्याण के मार्ग का कभी आक्रमण नहीं करता।

भावार्थ—क्षेत्रवित् से उपदेश को प्राप्त करके मनुष्य भद्र मार्ग का ही आक्रमण करता है।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

उत्तम जीवन या जीवन मार्ग

अद्येदु प्राणीदममन्निमाहापीवृतो अधयन्मातुरूधः।
एमेनमाप जरिमा युवानमहेळन्वसुः सुमना बभूव॥ ८॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार क्षेत्रविदों से अनुशिष्ट होकर जब मनुष्य ऋजु मार्ग का आक्रमण करने लगा **अद्य इत् उ**=उस ही दिन निश्चय से **प्राणीत्**=इसने प्रकृष्ट जीवन पाया। इससे पूर्व कुटिल व भोग-प्रधान जीवन कोई जीवन थोड़े ही था! (२) अब यह **इमा अहा**=इन दिनों में निरन्तर, बिना विच्छेद के **अममन्**=(अमन्यत सा०) मनन करनेवाला हुआ। प्रत्येक कार्य को यह विचारपूर्वक करनेवाला बना और इस प्रकार अपने 'मनुष्य'-(मत्वा कर्माणि सीव्यति), 'विचारपूर्वक कर्म करता है' इस नाम को इसने चरितार्थ किया। (३) **अपीवृतः**-तेज से परिवृत हुए-हुए इसने

मातुः-वेदमाता के **ऊधः** ज्ञान दुग्ध के स्रोत का **अधयत्**-पान किया। (स्तुता मया वरदा वेदमाता)। 'वेदवाणी को पढ़ना, उसके अन्दर निहित ज्ञान को अपनाना' यह इसका दैनिक कृत्य हो गया। (४) **एनम्** इस **युवानम्**-दोषों के अभिक्षण व गुणों के मिश्रणवाले युवक को **ईम्** निश्चय से **जरिमा**-स्तुति **आप** प्राप्त हुई। यह प्रातः सायं प्रभु का स्तवन करनेवाला बना। (५) और इस स्तुति का यह परिणाम हुआ कि यह **अहडन्**-घृणा न करनेवाला (हेड्-Hate) सब से प्रेमपूर्वक वर्तनेवाला, **वसुः** (वसति, वासयति) स्वयं उत्तम निवासवाला और औरों के उत्तम निवास का कारण बननेवाला, **सुमनाः** उत्तम मनवाला **बभूव** हुआ। इस संसार में उत्तम व शान्त मनवाला व्यक्ति वही होता है जो कि 'Live and let live' जीने और औरों के जीने में सहायक होने के सिद्धान्त को समझ लेता है।

भावार्थ—उत्तम जीवन यही है कि मनुष्य विचारपूर्वक कर्म करे, स्वाध्यायशील हो, स्तुति करनेवाला, घृणा से परे, सबका वासयिता व सुमना हो।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

कलश-कुरुश्रवण

ए॒तानि॑ भ॒द्रा क॑लश क्रियाम॒ कुरु॑श्रवण॒ दद॑तो म॒घानि॑।
दा॒न इद्वो॑ मघवान॒ः सो अ॑स्त्व॒यं च॒ सोमो॑ हृ॒दि यं बिभ॑र्मि॥ ९॥

(१) हे **कलश** (कलाः शेरते अस्मिन्) 'प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, ज्योति, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक व नाम' रूप १६ कलाओं के आधारभूत! **कुरुश्रवण**-उस पिता प्रभु की वाणी को सुननेवाले व करनेवाले! प्रभु की वाणी को सुनते ही तदनुसार कार्य करनेवाले जीव! **मघानि ददतः**-ऐश्वर्यों के देनेवाले तेरे **एतानि भद्रा**-इन कल्याणों को **क्रियाम** हमने किया है। गत मन्त्र में वर्णित प्रकार से तेरे जीवन को उत्तम बनाया है। (२) हे **मघवानः** ऐश्वर्य सम्पन्न पुरुषो! **वः**-तुम्हारा **अयम्**-यह दान देना **इत्**-सचमुच **दानः**-दान ही **अस्तु**-हो 'दाप् लवने' यह तुम्हारी बुराइयों का लवन करनेवाला हो, उनको नष्ट करनेवाला हो और इस प्रकार बुराइयों को नष्ट करके 'दैप् शोधने' यह तुम्हारे जीवन का शोधन करनेवाला हो। **अयं च सोमः** और यह **सोम**-वीर्यशक्ति भी तुम्हारे जीवन में रोगादि को दूर करके शोधन करनेवाली हो, **यम्**=जिस सोमशक्ति को **हृदि**-तुम्हारे हृदय में **बिभर्मि**=मैं धारण करता हूँ। तुम्हारे हृदय में सम्पूर्ण आहार-विहारों को करते समय यह भावना हो कि मेरे ये आहार विहार सोम का रक्षण करनेवाले हों।

भावार्थ—हम प्रभु की वाणी को सुनें और तदनुसार क्रिया को करें। दान देनेवाले हों, इसी में हमारा कल्याण है। यह दान हमारी बुराइयों को नष्ट करके जीवन का शोधन करे। हमारे हृदय में सोम के रक्षण की भावना हो।

हम उत्तम से उत्तम मार्ग की ओर चलें। (१) दिव्य प्रकाश को प्राप्त करें, (२) 'भद्र पुरुष' बनें, (३) हमारे पर इन्द्रियों का शासन न हो, (४) दुरित का विरेचन हो, (५) विद्वानों से अनुशिष्ट होकर हम भद्र मार्ग पर चलें, (६) ज्ञानी से ही मार्ग का ज्ञान प्राप्त होता है, (७) मार्ग पर चलने से ही सुन्दर जीवन का प्रारम्भ होता है, (८) हमें चाहिए कि प्रभु की वाणी को सुनें और करें। प्रभु कह रहे हैं 'दान दो और सोम का रक्षण करनेवाले बनो, तभी देव हमारा रक्षण करेंगे'।

[३३] त्रयस्त्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**कवष ऐलूषः** ॥ देवता—**विश्वे देवा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**१ धैवतः** ॥

लोकहित के कार्यों में लगे रहना

प्र मा युयुज्रे प्रयुजो जनानां वहामि स्म पूषणमन्तरेण।
विश्वे देवासो अध मामरक्षन्दुःशासुरागादिति घोष आसीत्॥ १ ॥

(१) **मा**=मुझे **जनानां प्रयुजः**=लोगों के कार्य (प्रयुज्=जिनमें लगा रहा जाता है) **प्रयुयुज्रे**=प्रकर्षेण कार्य में लगाये रहते हैं। गत मन्त्र के अनुसार लोकहित के लिये दान देनेवाले लोग यही चाहते हैं कि हमें लोकहित के कार्य सदा व्यस्त रखें। हमें नाममात्र भी अवकाश न हो, हमारा सारा समय कार्यों में लगा रहे और मैं **अन्तरेण**=हृदय मध्य में **पूषणं वहामि स्म**=उस पोषक परमात्मा को धारण करता हूँ। लोकहित के कार्यों में तो लगता हूँ, परन्तु उन सब कार्यों को उस हृदयस्थ प्रभु की शक्ति से ही होता हुआ जानता हूँ, उन कर्मों का मैं किसी प्रकार भी गर्व नहीं करता। सबका पोषण वे प्रभु ही करते हैं, मैंने क्या पोषण करना? (२) **अध**=इस प्रकार लोकहित के इन कार्यों का गर्व न करने पर **विश्वेदेवासः**=सब देव **मां अरक्षन्**=मुझे सुरक्षित करते हैं। वस्तुतः ये लोकहित के कार्य ही यज्ञ कहलाते हैं, यज्ञों से देववृत्ति का रक्षण होता है। (३) इस प्रकार देवरक्षण प्राप्त होने पर जब कभी अशुभवृत्ति हृदय में उठती है तो 'दुःशासुः आगात्'=यह कठिनता से शासन करने योग्य वृत्ति आई **इति**=इस प्रकार **घोषः**=अन्दर की वाणी **आसीत्**=होती है। अन्तःस्थित प्रभु से यह प्रेरणा मिलती है कि यह वृत्ति अशुभ है इससे बचने का पूर्ण प्रयत्न करो।

भावार्थ—हम लोकहित के कार्यों में लगें, इन कार्यों को प्रभु की ओर से होता हुआ जानें। देवों से होनेवाली रक्षा का पात्र बनें। समय-समय पर प्रभु से दी जानेवाली प्रेरणाओं को सुनें।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृद्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

धृति की परीक्षा-'क्षुधा व नग्नता' का कष्ट

सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः। नि बाधते अमतिर्नग्नता जसुर्वेर्न वेवीयते मतिः॥ २ ॥

(१) जिस समय गत मन्त्र के अनुसार मनुष्य लोकहित के कर्मों में, यज्ञात्मक कर्मों में ही लगा रहता है, उस समय एक समय वह भी आता है जिसमें कि मनुष्य सांसारिक दृष्टिकोण से अत्यन्त कष्टमय स्थिति में होता है। ये कष्ट वस्तुतः उसके धैर्य की परीक्षा के लिये आते हैं। यदि इनमें वह उत्तीर्ण हो जाता तो प्रभु की कृपा का पात्र बनता है। उन्हीं कष्टों का अनुभव करते हुए मन्त्र कहता है कि **मा**=मुझे **पर्शवः**=पार्श्व-स्थितियाँ-पसलियाँ अन्नभाव के कारण दुर्बलता से **अभितः**=दोनों ओर से **संतपन्ति**=पीड़ित करती हैं। इस प्रकार पीड़ित करती हैं, **इव**=जैसे कि **सपत्नीः**=सपत्नियाँ एक पुरुष को पीड़ित कर देती हैं। बहुविवाह के कारण जैसे एक पुरुष को सदा परेशानी ही परेशानी का सामना करना पड़ता है, उसी प्रकार इस धर्ममार्ग पर चलनेवाले पुरुष को भी एक समय गरीबी के कष्ट के कारण अन्न भी न मिल सकने से क्षुधा का कष्ट पीड़ित करता है, इसकी पसलियाँ ही दुर्बलता से दुःखने लगती हैं। (२) परेशानी इतनी अधिक हो जाती है कि **अमतिः निबाधते**=अचेतनता पीड़ित करने लगती है, होशोहवास के कायम न रहने की आशंका हो जाती है। वस्त्राभाव के कारण **नग्नता**=नग्नता के कष्ट का सामना करना पड़ता है। (३) ऐसी स्थिति में **मतिः**=बुद्धि **वेवीयते**=उस प्रकार डाँवाडोल हो जाती है **न**=जैसे कि **वेः**=पक्षी के होश **जसुः**=व्याधे से व्याधे के देखने पर नष्ट हो जाते हैं। मृत्यु चेहरे में झाँकती प्रतीत होती

है और सब समाप्ति ही समाप्ति दृष्टिगोचर होती है, इस भयंकर स्थिति में बुद्धि का डाँवाडोल हो जाना स्वाभाविक है। यदि हम विचलित हो गये तो धृति की परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो जाएँगे और हमारा पतन हो जाएगा।

भावार्थ—धर्म के मार्ग पर चलनेवाले की परीक्षा होती है तो उसे 'क्षुधा व नग्नता' का कष्ट भी झेलना पड़ता है। कई बार तो ये कष्ट बुद्धि को विचलित कर देते हैं।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती** ॥ स्वरः—**मध्यमः** ॥

परीक्षार्थी की प्रार्थना

मूषो न शिश्ना व्यदन्ति माध्यः स्तोतारं ते शतक्रतो।
सकृत्सु नो मघवन्निन्द्र मृळयाधा पितेव नो भव॥ ३ ॥

(१) गत मन्त्र का धर्म परीक्षा में बैठनेवाला परीक्षार्थी परीक्षक प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **शतक्रतो**=अनन्त शक्ति व प्रज्ञानवाले प्रभो! **ते स्तोतारं मा**=तेरे स्तोता मुझको **आध्यः**=मानस पीड़ाएँ-चिन्ताएँ इस प्रकार **व्यदन्ति**=खाये चली जा रही हैं **न**-जैसे कि **मूषः** चूहा **शिश्ना**=मांड से स्नात सूत्र को कुतर देता है। (२) वस्तुतः प्रभु-भक्तों को कई बार ये सांसारिक कष्ट बड़ा ही व्याकुल करनेवाले होते हैं, इन कष्टों में न घबराना ही प्रभु-भक्त का कर्त्तव्य है। कई बार वह घबराकर इस प्रकार प्रार्थना करता है कि हे **मघवन्**-ऐश्वर्यों के स्वामिन्! **इन्द्र**-परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **नः**-हमें **सकृत्** एक बार तो **सु-मृळय**-उत्तमता से सुखी जीवनवाला कर दीजिये **अधा**-और **नः**=हमारे लिये **पिता इव भव** पिता के समान होइये। पिता जैसे पुत्र को सुखी करता है उसी प्रकार आप हमें सुखी करिये। ये दारिद्र्यादि के कष्ट हमारी परेशानी का कारण न रहें। अब इनका सहन हमारे लिये बड़ा कठिन हो गया है। (३) इस प्रकार प्रार्थना करता हुआ भी यह यदि धर्मपथ को छोड़ता नहीं तो अवश्य ही प्रभु का प्रिय बनता है। यही भाव हम अगले मन्त्र में देखेंगे—

भावार्थ—प्रभु-भक्त कष्टों की व्याकुलता में कष्ट-निवारण के लिये याचना करता है, परन्तु वह मार्ग से विचलित होना नहीं चाहता।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः** ॥ देवता—**कुरुश्रवणस्य त्रासदस्यवस्य दानस्तुतिः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥
स्वरः—**षड्जः** ॥

प्रभु किसका वरण करते हैं?

कुरुश्रवणमावृणि राजानं त्रासदस्यवम्। मंहिष्ठं वाघतामृषिः॥ ४ ॥

(१) गत मन्त्र में की गई कष्ट पीड़ित भक्त की प्रार्थना को सुनकर प्रभु कहते हैं कि **ऋषिः**-तात्त्विक स्थिति का द्रष्टा मैं **आवृणिः**-वरता हूँ, उसको जो **कुरुश्रवणम्**=सुनता है और करता है। जो मेरे आदेश को सुनकर उसके अनुसार कार्य करता है। **राजनम्**=जो अपने जीवन को ज्ञान से दीप्त बनाता है अथवा अपने जीवन को (well regulated) व्यवस्थित करता है। **त्रासदस्यवम्**-जो दस्युओं को त्रास देनेवाला है, अशुभ भावनाएँ जिससे भयभीत होकर दूर भाग जाती हैं। **वाघताम्**=मेधावी ऋत्विजों को **मंहिष्ठम्**-अधिक से अधिक देनेवाला है। (२) प्रभु कहते हैं कि मैं भक्त के कष्टों को देखता हूँ। मुझे उनका ज्ञान न हो सो बात नहीं, परन्तु ये कष्ट तो उसकी परीक्षा के लिये उपस्थित किये गये हैं, सो मैं तो यही देखता हूँ कि यह भक्त कहाँ तक उन कष्टों को सहनेवाला बनता है। इन कष्टों की अग्नि में तपकर उसका जीवन अधिक निखर उठेगा।

भावार्थ—हम 'प्रभु के आदेशों को सुनें और करें, जीवन को व्यवस्थित बनायें, दास्यव वृत्तियों को दूर करें, पात्रों में देनेवाले बनें। तभी हम प्रभु के प्रिय बनेंगे'।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः**॥ देवता—**कुरुश्रवणस्य त्रासदस्यवस्य दानस्तुतिः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

दमन व दान

यस्यं मा हरितो रथें तिस्रो वहन्ति साधुया। स्तवैं सहस्रदक्षिणे॥ ५॥

(१) प्रभु कहते हैं कि **रथे**-इस शरीररूप रथ में **यस्य**-जिसके **तिस्रः हरितः**-तीनों दुःखहरण के साधनभूत घोड़े, 'इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि' **मा** मुझे **साधुया**=बड़ी उत्तमता से **वहन्ति**-वहन करनेवाले होते हैं उस **सहस्रदक्षिणे**-शतशः दानों को देनेवाले के लिये **स्तवै**-मैं प्रशंसा करता हूँ। (२) जैसे एक उत्तम सन्तान पिता से प्रशंसात्मक शब्दों को सुनता है इसी प्रकार वह जीव भी प्रभु से प्रशंसनीय होता है जो कि अपनी—(क) इन्द्रियों, मन व बुद्धि को अपने वश में करके प्रभु-प्रवण करता है। इनके द्वारा प्रभु दर्शन के लिये यत्नशील होता है तथा (ख) भोग-प्रवण वृत्ति के न होने के कारण सदा दान देनेवाला बनता है। दान देने में एक आनन्द का अनुभव करता है। (३) इस प्रकार ये 'दम' व 'दान' उसको प्रभु की प्राप्ति करानेवाले होते हैं। इन्द्रियों, मन व बुद्धि को विषयों से रोकना 'दमन' है, सहस्र-दक्षिण बनना 'दान' है।

भावार्थ—प्रभु का प्रिय वही है जो दम व दान को अपनाता है। ये ही उसे प्रभु तक पहुँचानेवाले होते हैं।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः**॥ देवता—**उपमश्रवा मित्रातिथिपुत्राः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

मधुर-वाणी

यस्य प्रस्वादसो गिर उपमश्रवसः पितुः। क्षेत्रं न रण्वमूचुषे॥ ६॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार प्रभु उसका स्तवन करते हैं **यस्य** जिसकी **गिरः**=वाणियाँ **प्रस्वादसः**=प्रकृष्ट स्वादवाली हैं। किसकी? **उपमश्रवसः**-'उप' समीपता से 'म' मापता है **श्रवः**-ज्ञान को जो उस 'उपमश्रवा' की। प्रभु की उपासना से जो ज्ञान को प्राप्त करता है वह 'उपमश्रवा' कहलाता है। **पितुः**-रक्षक की। यह उपमश्रवाः सदा रक्षणात्मक कार्यों में ही लगता है। इसकी वाणियाँ सदा मधुर होती हैं। यह कभी कड़वी वाणी को नहीं बोलता। (२) इस **ऊचुषे**=मधुर वाणी को बोलनेवाले के लिये **न**-जैसे **क्षेत्रं रण्वम्**-सारा क्षेत्र 'शरीर' ही रमणीय होता है इसी प्रकार इसकी वाणी भी मधुर होती है। वस्तुतः मधुर शब्दों से इसके सारे जीवन में ही माधुर्य आ जाता है। यह मधुर जीवनवाला प्रभु से प्रशंसा को प्राप्त करता है।

भावार्थ—हम उपासना के द्वारा ज्ञान को प्राप्त करनेवाले बनें, रक्षक हों, हमारी वाणी में माधुर्य हो, सारा शरीर ही रमणीयता को लिये हुवे हो।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः**॥ देवता—**उपमश्रवा मित्रातिथिपुत्राः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥ स्वरः—**षड्जः**॥

'रक्षक' उपमश्रवा

अधि पुत्रोपमश्रवो नपान्मित्रातिथेरिहि। पितुष्टे अस्मि वन्दिता॥ ७॥

(१) हे **पुत्र**=अपने जीवन को 'पुनाति त्रायते'=पवित्र व रक्षित करनेवाले! **उपमश्रवः**=समीपता से उपासना के द्वारा ज्ञान को मापनेवाले, अर्थात् प्रभु के उपासन से अन्तर्ज्ञान को प्राप्त करनेवाले, अतएव **मित्रातिथेः नपात्**=उस सनातन मित्र व अतिथि प्रभु के अपने हृदय से च्युत न होने

देनेवाले! **अधीहि** तू अध्ययन करनेवाला बन। 'ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करना' यह तेरा लक्ष्य हो। 'वह प्रभु ही सनातन मित्र है' ऐसा तूने समझना। वही अतिथि है, सदा प्राप्त होनेवाला है, कष्ट के समय वही सहायकरूपेण प्राप्त होता है। इस ब्रह्म को तू जानने की कामनावाला हो। (२) इस प्रकार प्रभु के मार्ग पर चलनेवाला तू सदा सबका रक्षक होता है। गत मन्त्र के अनुसार मधुर ही वचन बोलता है। इस **ते पितुः** तुझ रक्षक का मैं **वन्दिता अस्मि** तारीफ करनेवाला हूँ, प्रशंसक हूँ। प्रभु की प्रशंसा का वस्तुतः वही पात्र बनता है जो सर्वत्र प्रभु दर्शन करता हुआ सबका रक्षक बनने के लिये यत्नशील होता है। यही प्रभु का सच्चा पुत्र होता है।

भावार्थ—प्रभु के निर्देश के अनुसार हम सर्वत्र प्रभु सत्ता को अनुभव करें और सबके रक्षण करनेवाले बनें।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः** ॥ देवता—**उपमश्रवा मित्रातिथिपुत्राः** ॥ छन्दः—**पादनिचृद्गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

चक्रवर्तिता व प्रभु-स्मरण

यदीशीयामृतानामुत वा मर्त्यानाम्। जीवेदिन्मघवा मम॥ ८॥

(१) **यत्**-यदि **अमृतानाम्** देवों का **उतवा** अथवा **मर्त्यानाम्**-मनुष्यों का मैं **ईशीय**-स्वामी हो जाऊँ तो भी **मम मघवा जीवेत् इत** मेरे में उस ऐश्वर्यों के स्वामी प्रभु की भावना बनी ही रहे। प्रभु के स्मरण से मैं दूर न हो जाऊँ। (२) देवों व मनुष्यों का ईश बनने का भाव यह है कि मैं इस पृथ्वी का चक्रवर्ती राजा बन जाऊँ अथवा देवलोक का राज्य भी प्राप्त कर लूँ। मैं अहंकार में आकर प्रभु को न भूल जाऊँ। यह सम्पत्ति का हिरण्मय पात्र मेरी आँख पर आवरण के रूप में न हो जाए। इस सम्पत्ति से गर्वित होकर 'मैं ही मैं' न हो जाऊँ प्रभु के स्मरण से सदा विनीत बना रहूँ और अनुभव करूँ कि यह सब सम्पत्ति उस प्रभु की ही है। यह लक्ष्मी मेरे लिये सहायक व पालक हो सकती है, मैं इसका स्वामी नहीं हूँ।

भावार्थ—सांसारिक ऐश्वर्य मेरी आँख पर पर्दा न डाल दे, मैं प्रभु को भूल न जाऊँ।

ऋषिः—**कवष ऐलूषः** ॥ देवता—**उपमश्रवा मित्रातिथिपुत्राः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥ स्वरः—**षड्जः** ॥

घर की ओर लौटना

न देवानामति व्रतं शतात्मा चन जीवति। तथा युजा वि वावृते॥ ९॥

(१) मनुष्य यदि मृत्यु का स्मरण करता है तो अहंकार को जीत लेता है, यह मृत्यु स्मरण उसे प्रभु से भी दूर नहीं होने देता। सो मनुष्य को यह स्मरण रखना चाहिये कि **शतात्मा चन**=शत वर्षपर्यन्त जीवनवाला यह व्यक्ति भी **देवानां व्रतम्**-देवों के नियम को **न अतिजीवति**-लाँघकर नहीं जीता है, अर्थात् मनुष्य मरणधर्मा है, मृत्यु तो अवश्य आनी ही है। इस मृत्यु को कोई लाँघ नहीं सकता। यदि मनुष्य इस मृत्यु को न भूलेगा तो विषयों में न फँसेगा। (२) उस समय **तथा**-विषयों में न फँसने पर **युजा** अपने उस प्रभुरूप मित्र के साथ रहता हुआ **विवावृते**-यह इस पृथ्वीलोक के वास को समाप्त करके अपने घर में लौट जाता है। फिर से ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लेता है। यह ब्रह्मलोक प्राप्ति ही मोक्ष है। यहाँ पहुँचता वही है जो प्रकृति का मित्र न होता हुआ प्रभु का मित्र बनता है। प्रभु का मित्र वही बनता है जो मृत्यु को नहीं भूलता है।

भावार्थ—शरीर की नश्वरता का स्मरण करते हुए हम प्रभु के मित्र बनें और भोगों में न फँसकर अपने गृह ब्रह्मलोक की ओर लौटनेवाले बनें।

सूक्त का प्रारम्भ इस प्रकार हुआ है कि हम लोकहित के कार्यों में लगे रहें। (१) इन कार्यों

में लगने पर क्षुधा, तृषा आदि शतशः कष्टों से हमारे धैर्य की परीक्षा होगी, (२) हम घबराकर प्रभु से कल्याण की प्रार्थना करेंगे, (३) प्रभु कहेंगे कि मुझे तो वही प्रिय है जो 'मेरी प्रेरणा को सुने और करे', (४) जो दमन व दान को अपनाये, (५) वाणी में माधुर्य को धारण करे, (६) प्रभु कहते हैं कि मैं उसकी प्रशंसा करता हूँ जो रक्षक बनता है, (७) जीव की प्रार्थना यही होनी चाहिए कि वह चक्रवर्ती भी बन जाए तो प्रभु को भूले नहीं, (८) न भूलेंगे तो घर की ओर लौटेंगे ही, (९) अन्यथा जूए आदि व्यसनों में फँसकर विचित्र सा जीवन बिता रहे होंगे।

[३४] चतुस्त्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—**कवष ऐलूष अक्षो वा मौजवान्**॥ देवता—**अक्षकृषिप्रशंसा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

अक्षों की मादकता

प्रावेपा मा बृहतो मादयन्ति प्रवातेजा इरिणे वर्वृतानाः।

सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो विभीदको जागृविर्मह्यमच्छान्॥ १॥

(१) **बृहतः**-महान् विभीतक वृक्ष के विकारभूत अक्ष **प्रवातेजाः**-प्रवण (=निम्न) देश में उत्पन्न हुए हैं, पहाड़ की तराई में इनकी उत्पत्ति हुई है। अथवा प्रकृष्ट वायुवाले स्थान में इनका जन्म हुआ है, सम्भवतः इसीलिए ये हमारे मनों की भी चञ्चलता का कारण बनते हैं। **इरिणे वर्वृतानाः**-अक्ष फलक पर इधर-उधर वर्तमान होते हुए ये पासे **प्रावेपाः**-मेरे प्रकृष्ट कम्प का कारण बनते हैं। 'जय होगी अथवा पराजय होगी' इस विचार से ये मुझे भयभीत करते हैं और **मा मादयन्ति**-मेरे में एक विचित्र सा नशा पैदा कर देते हैं। (२) **मौजवतस्य**-मुञ्जवान् पर्वत पर होनेवाले **सोमस्य**-सोम का **भक्षः**-भोजन **इव** जैसे एक अद्भुत मस्ती को देता है उसी प्रकार यह **जागृविः**-मुझे सदा चिन्ता के कारण जगानेवाला अथवा अत्यन्त सावधान रखनेवाला **विभीदकः**-विभीतक वृक्ष का विकारभूत यह अक्ष **मह्यं अच्छान्**-(मां अचच्छदत्-मादयति) मुझे मादित करता है। एक विचित्र से नशे को मेरे में ले आता है।

भावार्थ—द्यूत के साधनभूत अक्ष जुआरी के अन्दर एक विचित्र से मद को पैदा करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**कवष ऐलूष अक्षो वा मौजवान्**॥ देवता—**अक्षकितवनिन्दा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

जुए से घर का बिगाड़

न मा मिमेथ न जिहीळ एषा शिवा सखिभ्य उत मह्यमासीत्।

अक्षस्याहमेकपरस्य हेतोरनुव्रतामप जायामरोधम्॥ २॥

(१) द्यूत का व्यसनी पुरुष कहता है कि **एषा**-यह मेरी पत्नी **मा न मिमेथ**=(wrangle, contradict) मेरा कभी विरोध न करती थी, मेरे साथ कभी इसकी लड़ाई न होती थी। **न जिहीडे**=(neglect) यह मेरी कभी उपेक्षा भी न करती थी। मेरे सुख का पूरा ध्यान करती थी। **सखिभ्यः**=मेरे मित्रों के लिये **उत मह्यम्**-और मेरे लिये यह **शिवा**-कल्याणकर **आसीत्**-थी। आये गये मेरे मित्रों का भी ध्यान करती थी। (२) परन्तु इस जूए ने एक विचित्र-सी परिस्थिति पैदा कर दी। मैंने उस **अनुव्रताम्**=अत्यन्त अनुकूल व्रतोंवाली **जायाम्**=मेरे सन्तानों को जन्म देनेवाली इस पत्नी को **एकपरस्य**=(एकः परः प्रधानं-यस्य) इक्का जिसमें प्रधान है उस **अक्षस्य**=पासों से खेले जानेवाले द्यूत के **हेतोः**-कारण से **अप अरोधम्**=अपने से दूर कर दिया। न मैं जुआ खेलता, ना मेरी पत्नी मेरे से दूर होती। जुए के कारण मुझे पत्नी को भी खोना पड़ा, उस पत्नी

को जो कि मेरे जीवन के सारे सुख का मूल थी।

भावार्थ—जुए से घर ही बिगड़ जाता है।

ऋषिः-**कवष ऐलूष अक्षो वा मौजवान्**॥ देवता-**अक्षकितवनिन्दा**॥ छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्**॥
स्वरः-**धैवतः**॥

घर में निरादर

द्वेष्टि॑ श्व॒श्रूरप॑ जा॒या रु॑णद्धि॒ न ना॑थि॒तो वि॑न्दते मर्डि॒तार॑म्।
अश्व॑स्येव॒ जर॑तो व॒स्न्य॑स्य॒ नाहं वि॑न्दामि कित॒वस्य॒ भोग॑म्॥ ३॥

(१) जुवारी अनुभव करता है कि **श्वश्रूः** सास **द्वेष्टि** द्वेष करती है, सास को मेरे से किसी प्रकार की प्रीति नहीं रही **जाया**-पत्नी भी **अपरुणद्धि**-मुझे अपने से दूर ही रोकती है, मुझे अपने समीप नहीं आने देती। **नाथितः**-याचना करता हुआ यह कितव (जुवारी) **मर्डितारम्**-धन की सहायता से सुख देनेवाले को **न विन्दते**-नहीं प्राप्त करता है, अर्थात् अब कोई ऐसा मित्र भी नहीं जिससे कि मैं याचना करूँ और वह मेरी कुछ मदद कर दे। (२) मेरी स्थिति तो ऐसी हो गई है कि **इव**-जैसे **जरतः** बूढ़े कार्य के लिये अनुपयुक्त **वस्न्यस्य**-मूल्यार्ह—मूल्य के योग्य, अर्थात् बेच देने योग्य **अश्वस्य** घोड़े की हो। ऐसे घोड़े को जैसे चारा व दाना भी उपेक्षितरूप से दिया जाता है, इसी प्रकार **अहम्** मैं **कितवस्य भोगम्** जुवारी के धन को, भोग्य पदार्थ को **न विन्दामि** नहीं प्राप्त करता हूँ, अर्थात् मुझे घर में खान पान भी ठीक रूप में नहीं प्राप्त होता।

भावार्थ—पराजित जुवारी को घर में किसी से भी प्रेम व आदर प्राप्त नहीं होता, इसके खान-पान का भी कोई ध्यान नहीं करता।

ऋषिः-**कवष ऐलूष अक्षो वा मौजवान्**॥ देवता-**अक्षकितवनिन्दा**॥ छन्दः-**विराट्त्रिष्टुप्**॥
स्वरः-**धैवतः**॥

पत्नी की भी दुर्गति

अ॒न्ये जा॒यां परि॑ मृशन्त्यस्य॒ यस्यागृ॑धद्वेद॑ने वा॒ज्य१॒॑क्षः।
पि॒ता मा॒ता भ्रात॑र एनमाहु॒र्न जा॑नीमो॒ नय॑ता ब॒द्धमे॒तम्॥ ४॥

(१) यह जुवारी जुए में पत्नी को भी कई बार हार जाता है, तब **अन्ये**-दूसरे विरोधी लोग **अस्य जायाम्**-इसकी पत्नी को **परिमृशन्ति**-वस्त्रकेश अपकर्षण से छूनेवाले होते हैं। (२) यह **वाजी अक्षः**-प्रबल पासा, प्रबल इसलिए कि इसके प्रलोभन को जीतना बड़ा कठिन हो जाता है, **यस्य वेदने**-जिसके धन में **अगृधद्**-लालचवाला होता है, उसकी पूर्वोक्त प्रकार से पत्नी की दुर्गति होती है और **पिता माता भ्रातरः** पिता, माता व भाई आदि सभी बन्धु उसके विरोधी जुवारियों के प्रति **आहुः** कहते हैं कि **एनम्** इसको **न जानीमः**-हम नहीं जानते, हमारा यह कुछ नहीं लगता **एतं बद्धं नयता**-(बेशक) इसे बाँधकर ले जाओ। हम इसके छुड़ाने के लिये यत्नशील न होंगे।

भावार्थ—जुवारी की पत्नी की भी दुर्गति होती है, इससे कोई सम्बन्ध रखना पसन्द नहीं करता।

ऋषिः—**कवष ऐलूष अक्षो वा मौजवान्**॥ देवता—**अक्षकितवनिन्दा**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

व्यसन की प्रबलता व दुरन्तता

यदादीध्ये न दविषाण्येभिः परायद्भ्योऽव हीये सखिभ्यः।
न्युप्ताश्च बभ्रवो वाचमक्रतँ एमीदेषां निष्कृतं जारिणीव॥ ५॥

(१) उपरोक्त प्रकार से जुए से होनेवाली दुर्गति को देखकर **यद्**-जब **आदीध्ये**=यह ध्यान करता हूँ कि **एभिः**-इनसे **न दविषाणि**-(देविष्यामि) अब जुवा न खेलूँगा, इस जुए के परिणामरूप मैं **परायद्भ्यः**=एक-एक करके दूर जाते हुए **सखिभ्यः**-मित्रों से **अवहीये**-मैं हीन होता जाता हूँ। (२) परन्तु, **च**-और जब **न्युप्ताः**=द्यूत-फलक पर डाले हुए **बभ्रवः**=बभ्रु (Brown) वर्णवाले ये पासे **वाचं अक्रत**=शब्द को करते हैं तो मैं **एषां निष्कृतम्**=इनके स्थान को द्यूत-व्यसन से अभिभूत हुआ-हुआ मैं सब सङ्कल्पों को छोड़कर **एमि इत्**-आता ही हूँ। मैं फिर द्यूत सभा में पहुँच जाता हूँ, उसी प्रकार पहुँच जाता हूँ **इव**=जैसे कि **जारिणी**=कोई स्वच्छन्द आचरणवाली स्त्री संकेत स्थान की ओर अग्रसर होती है।

भावार्थ—व्यसन दुरन्त हैं, इनका अन्त तो खराब है ही, पर इनका अन्त करना भी बड़ा कठिन है।

ऋषिः—**कवष ऐलूष अक्षो वा मौजवान्**॥ देवता—**अक्षकितवनिन्दा**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

हार से इच्छा में और वृद्धि

सभामेति कितवः पृच्छमानो जेष्यामीति तन्वा३ शूशुजानः।
अक्षासो अस्य वि तिरन्ति कामं प्रतिदीव्ने दधत आ कृतानि॥ ६॥

(१) **कितवः**-यह जुवारी **पृच्छमानः**=यह पूछता हुआ कि 'कौन कौन आया है' **सभां एति**-द्यूत-सभा में आता है। वह उस समय **जेष्यामि इति**='जीत जाऊँगा' इस भावना के कारण **तन्वा शूशुजानः**-शरीर से खूब (दीप्यमानः) चमक रहा होता है, खूब खुशी में फूला हुआ होता है। (२) वहाँ **प्रतिदीव्ने**-विरोधी जुवारी के लिये **कृतानि**=पुरुषार्थ से सम्पादित धनों को **आदधतः**=धारण करते हुए **अस्य**=इस जुवारी के **कामम्**=जुए की अभिलाषा को **अक्षासः**=पासे **वितिरन्ति**=और अधिक बढ़ा देते हैं। जितना यह हारता है उतनी ही इसकी जुए की इच्छा और बढ़ती जाती है। यह बढ़-बढ़कर दाव लगाता है और सोचता है कि अब के तो अवश्य जीतूँगा। 'हार-जीत तो हुआ ही करती है, अब के हारा हूँ तो अगली बार जीतूँगा भी' इस प्रकार सोचता हुआ यह जुए की खेल में और अधिक फँस जाता है।

भावार्थ—हार इसकी खेलने की इच्छा को और अधिक बढ़ा देती है।

ऋषिः—**कवष ऐलूष अक्षो वा मौजवान्**॥ देवता—**अक्षकृषिप्रशंसा**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

मधुर परन्तु विनाशकारी

अक्षास इदङ्कुशिनो नितोदिनो निकृत्वानस्तपनास्तापयिष्णवः।
कुमारदेष्णा जयतः पुनर्हणो मध्वा सम्पृक्ताः कितवस्य बर्हणा॥ ७॥

(१) **अक्षासः** ये जुए के पासे **इत्** निश्चय से **अंकुशिनः** अंकुशवाले हैं, जैसे अंकुश हाथी को आगे बढ़ने के लिये प्रेरित करता है वैसे ही ये पासे जुवारी को द्यूत सभा की ओर धकेलते हैं। **नितोदिनः** जैसे एक चाबुक घोड़े को मार्ग पर तेजी से दौड़ने के लिये प्रेरित करता है, उसी प्रकार ये पासे जुवारी को सभास्थल की ओर तेजी से पग उठवाते हैं। (२) **निकृत्वानः** वहाँ सभास्थल में हारने पर यह जुवारी का कर्तन करनेवाले हैं। **तपनाः** उसके हृदय को संतप्त करनेवाले हैं। **तायिष्णवः** इन पासों का स्वभाव ऐसा है कि ये इसके परिवार के अन्य सदस्यों को भी सतत संतप्त करते हैं। (३) **कुमारदेष्णाः** अन्ततः ये बड़ी बुरी मार को देनेवाले हैं। **जयतः**-जीतते हुए के **पुनः हणः**-फिर मारनेवाले हैं। एक दाव सीधा पड़ा और कुछ जीत हुई, परन्तु अगला ही दाव उलटा पड़ जाता है और फिर हार की हार हो जाती है, सब जीत हार में परिवर्तित हो जाती है। (३) **मध्वा संपृक्ताः** ऊपर से मधु से सम्पृक्त हैं, बड़े मीठे प्रतीत होते हैं, परन्तु **कितवस्य वर्हणा** ये पासे जुवारी की जड़ को ही उखाड़ डालनेवाले हैं (बर्हयति destroy)। विजय की आशा से ये बड़े मीठे प्रतीत होते हैं, परन्तु पराजय के होने पर ये समूल विनाश कर डालते हैं।

भावार्थ—ये पासे ऊपर से मधुर हैं, परन्तु परिणाम में विनाशकारी हैं।

ऋषिः—**कवष ऐलूष अक्षो वा मौजवान्**॥ देवता—**अक्षकितवनिन्दा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

त्रेपन पासे

त्रिपञ्चाशः क्रीळति व्रात एषां देवइव सविता सत्यधर्मा।
उग्रस्य चिन्मन्यवे ना नमन्ते राजा चिदेभ्यो नम इत्कृणोति॥ ८॥

(१) **एषाम्**-इन पासों का **त्रिपञ्चाशः**-त्रेपन (५३) संख्या से गणित **व्रातः**-समूह **क्रीडति** द्यूत फलक पर इस प्रकार खेलता है **इव** जैसे कि **सत्यधर्मा** सत्य का धारण करनेवाला **सविता**-सबका प्रेरक **देवः**-दिव्यगुणोंवाला महान् खिलाड़ी (दिव्-क्रीडा) वह प्रभु इस भुवन फलक पर जीवरूपी पासों से खेलता है। वस्तुतः ये पासों का समूह भी कितने ही व्यक्तियों को अपना शिकार बनाता है। (२) ये पासे **उग्रस्य**-बड़े तीव्र स्वभाववाले अथवा बड़े भारी (noble) धनी पुरुष के **मन्यवे चित्** क्रोध के लिये भी **न**-नहीं **आनमन्ते**-जरा भी झुकते। बड़े से-बड़ा धन-सम्पन्न पुरुष भी अपने क्रोध से इन पासों को वशीभूत नहीं कर सकता। **राजा चित्**-स्वयं राजा भी **एभ्यः** इनके लिये **नमः इत्**-नमस्कार को ही **कृणोति**-करता है। राजा भी इनकी प्रबलता को स्वीकार करता है। व्यसनाभिभूत पुरुष इन पासों को देव तुल्य प्रणाम करता है।

भावार्थ—ये पासे कितने ही व्यक्तियों के जीवन के साथ खेल जाते हैं। इनकी प्रबलता उग्र-से-उग्र पुरुष व राजा भी स्वीकार करता है।

ऋषिः—**कवष ऐलूष अक्षो वा मौजवान्**॥ देवता—**अक्षकृषिप्रशंसा**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥
स्वरः—**धैवतः**॥

नीचे होते हुए ऊपर

नीचा वर्तन्त उपरि स्फुरन्त्यहस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते।
दिव्या अङ्गारा इरिणे न्युप्ताः शीताः सन्तो हृदयं निर्दहन्ति॥ ९॥

(१) जुए के ये पासे **नीचा वर्तन्ते**=नीचे द्यूत-फलक पर इधर-उधर वर्तमान होते हैं, पर **उपरि स्फुरन्ति**=पराजित होनेवालों के हृदय में ये दीप्तरूप से शासन करते हैं। इनके हृदयों में

खलबली मचाने के कारण बनते हैं। **अहस्तासः**=ये हाथवाले तो नहीं हैं, परन्तु **हस्तवन्तं सहन्ते**=हाथवाले का पराभव करते हैं। पासों के हाथ तो नहीं हैं, परन्तु इन हाथवाले जुवारियों के ये पराभूत करनेवाले होते हैं। (२) ये पासे तो **दिव्या अंगाराः**-जुए के खेलने के साधनभूत कुछ अलौकिक अंगारों के समान हैं। **इरिणे**=द्यूत-फलक पर **न्युप्ताः** ये फेंके जाते हैं। **शीताः सन्तः**-स्पर्श में ठण्डे होते हुए भी **हृदयम्**-पराजित पुरुष के हृदय को **निर्दहन्ति**=जलानेवाले होते हैं, उनके हृदयों के सन्ताप का कारण बनते हैं। (३) प्रस्तुत मन्त्र में 'नीचाः उपरि, अहस्तासः-हस्तवन्तं, शीताः निर्दहन्ति' इन शब्द-युग्मों से विरोधाभास अलंकार का सुन्दर प्रतिपादन है।

भावार्थ—पासे दिव्य अंगारों के समान हैं, ये स्पर्श में ठण्डे होते हुए भी पराजित पुरुष के हृदय-दाह का कारण बनते हैं।

ऋषिः—**कवष ऐलूष अक्षो वा मौजवान्**॥ देवता—**अक्षकितवनिन्दा**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥
स्वरः—**धैवतः**॥

ऋण व सौर्य-प्रवृत्ति

जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः क्व स्वित्।
ऋणावा बिभ्यद्धनमिच्छमानोऽन्येषामस्तमुप नक्तमेति॥ १०॥

(१) **कितवस्य**=इस पराजित हुए-हुए जुवारी की **जाया**-पत्नी **हीना**=आर्थिक दृष्टि से बड़ी हीन स्थिति में हुई-हुई **तप्यते**-सन्ताप को अनुभव करती है। **क्वस्वित्**=कहीं इधर-उधर **चरतः**=भटकते हुए इस **कितव पुत्रस्य**=पुत्र की **माता**=माता भी परेशानी को महसूस करती है। (२) यह पराजित जुवारी **ऋणावा**=ऋणवान् हुआ-हुआ ऋण के बोझ के नीचे दबा हुआ, **बिभ्यत्**=भयभीत होता हुआ **नक्तम्**=रात्रि में चोरी से धन की प्राप्ति के लिये **अन्येषाम्**=दूसरों के **अस्तम्**=गृह को **उपैति**=प्राप्त होता है। (३) कर्जे को उतारने के लिये वह धन की परेशानी में होता है, कैद आदि में पहुँचने का उसे भय लगता है। इस भय की तुलना में वह रात में चोरी के द्वारा धनार्जन को कम भय जनक समझता है। सो इसका झुकाव चोरी की ओर होता है। चोरी के लिये रात में सेन्ध लगाकर किसी के घर में प्रवेश करता है।

भावार्थ—द्यूत में पराजित व्यक्ति अपने कर्ज को चुकाने के लिये चोरी से धन संग्रह की ओर झुकता है।

ऋषिः—**कवष ऐलूष अक्षो वा मौजवान्**॥ देवता—**अक्षकितवनिन्दा**॥ छन्दः—**निचृतित्रष्टुप्**॥
स्वरः—**धैवतः**॥

दरिद्रता की चरमसीमा

स्त्रियं दृष्ट्वाय कितवं ततापान्येषां जायां सुकृतं च योनिम्।
पूर्वाह्णे अश्वान्युयुजे हि बभ्रून्त्सो अग्नेरन्ते वृषलः पपाद॥ ११॥

(१) चोरी के लिये जब उस घर में घुसता है तो **स्त्रियं दृष्ट्वाय**=स्त्री को देखकर भी **कितवम्**=इस कितव को **तताप**=सन्ताप अनुभव होता है। अपने कर्म में विघ्न होते समझ, वह घबरा उठता है **च**=और इसके अतिरिक्त **अन्येषां जायाम्**-दूसरों की पत्नी को देखकर वह सन्तप्त होता है। उसे अपनी पत्नी का स्मरण हो आता है और दोनों की स्थिति की तुलना करता हुआ, इस सारी स्थिति का अपने को कारण समझता हुआ घबरा जाता है। **सुकृतं योनिम्**=खूब परिष्कृत घर को देखकर भी वह सन्तप्त हो उठता है। इस घर की सुन्दर स्थिति और अपने घर की विपरीत

स्थिति उसे भयङ्करता से व्याकुल कर देती है। (२) यह **वृषलः** द्यूत में फँसकर धर्म का लोप करनेवाला 'वृषो हि भगवान् धर्मः तस्य यः कुरुते ह्यलं, वृषलं ते विदुर्देवाः' व्यक्ति आज ही **पूर्वाह्णे** दिन के पूर्व भाग में १२ बजे से पहले **बभ्रून्** भूरे रंग के **अश्वान्** घोड़ों को **हि**-निश्चय से **युयुजे** अपने रथ में जोतते हुए था, **सः** वही इस समय, रात्रि के समय शीत से पीड़ित हुआ **अग्नेः अन्ते** आग के समीप **पपाद** आकर पड़ा हुआ है। अपनी सारी सम्पत्ति को जुए में गँवाकर इस प्रकार निर्धन स्थिति में हो गया है कि शीत निवारण के लिये कपड़ों से भी वञ्चित है।

भावार्थ—जुवारी की दुर्गति का स्वरूप यह है कि उसके पास सर्दी को दूर करने के लिये कपड़े भी नहीं रहे।

ऋषिः—**कवष ऐलूष अक्षो वा मौजवान्**॥ देवता—**अक्षकृषिप्रशंसा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

जुए को सदा के लिये प्रणाम

यो वः सेनानीर्महतो गणस्य राजा व्रातस्य प्रथमो बभूव।

तस्मै कृणोमि न धना रुणध्मि दशाहं प्राचीस्तदृतं वदामि॥ १२॥

(१) गत मन्त्र में वर्णित कटु अनुभवों को लेने के बाद यह कितव जुए से अन्तिम बिदा लेते हुए कहता है कि हे पासो! **यः** जो **वः**-आपके इस **महतः गणस्य**-बड़े भारी समूह का **सेनानीः** सेनापति **बभूव** है अथवा **व्रातस्य** तुम्हारे मण्डल का **प्रथमः राजा** सबसे प्रधान शासक बभूव-है **तस्मै** उसके लिये **अहम्** मैं **दश**-दोनों हाथों की इन १० अङ्गुलियों को **प्राचीः कृणोमि** आगे आनेवाली करता हूँ, अर्थात् मैं उसे बद्धाञ्जलि होकर प्रणाम करता हूँ, उसके आगे हाथ जोड़ता हूँ और स्पष्ट कहे देता हूँ कि आज के बाद मैं **धना**-अपने श्रमार्जित धनों को इस जुए के लिये **न रुणध्मि**-अपने से दूर रोकता नहीं हूँ, अर्थात् जुए में धन का व्यर्थ व्यय व नाश नहीं करता। **तद् ऋतं वदामि**-मैं यह बात सत्य कह रहा हूँ। ये मेरा दृढनिश्चय है कि अब मैं जुआ न खेला करूँगा। अपने धनों का रक्षण करूँगा और अपने घर की स्थिति को सुन्दर बनाऊँगा।

भावार्थ—जुए के न खेलना का निश्चय करना आवश्यक है। घर की उत्तम स्थिति इसी पर निर्भर करती है।

ऋषिः—**कवष ऐलूष अक्षो वा मौजवान्**॥ देवता—**अक्षकृषिप्रशंसा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

कृषि, न कि जुआ

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।

तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः॥ १३॥

(१) **अयम्** यह **अर्यः**-सबके स्वामी **सविता** सबके प्रेरक प्रभु **मे**-मुझे **तत् विचष्टे**-उस बात को कहते हैं कि **अक्षैः** पासों से **मा दीव्यः**-जुआ मत खेल। **इत्**-निश्चय से **कृषिं कृषस्व**-खेती को ही कर। कोई भी मार्ग, जिससे कि हम एक ही दिन में धनी होना चाहते हैं, ठीक नहीं है। ऐसे मार्गों का प्रतीक ही यहाँ जूआ है। इन मार्गों से न चलना ही मनुष्य के लिये श्रेयस्कर है। कृषि प्रधान जीवन ही जीवन है। श्रम से धनार्जन के मार्गों का कृषि प्रतीक है। मनुष्य को पुरुषार्थ से ही धन कमाना चाहिए, यूँ ही धन प्राप्त की कामना हमें पौरुषशून्य बनाती है। (२) प्रभु कहते हैं कि कृषि से प्राप्त होनेवाले **वित्ते**-धन में ही **रमस्व**-तू रमण कर, आनन्द का अनुभव कर। उसी धन को **बहु मन्यमानः** बहुत मानता हुआ तू चित्त में सन्तोष को धारण कर। **तत्र** उस कृषि कर्म में **गावः** गौ आदि पशुओं की कमी नहीं। वो तेरे जीवन के लिये

आवश्यक दूध आदि पदार्थों के प्राप्त करानेवाले होंगे। हे **कितव**=जुए में प्रसित व्यक्ति तू यह समझ ले कि **तत्र**-उस कृषि कर्म में ही **जाया** तेरी पत्नी भी तेरे लिये उत्तम सन्तानों को जन्म देनेवाली होती है, अर्थात् सब प्रकार से घर उत्तम बनाने के लिये आवश्यक है कि हम श्रम-प्रधान जीवन से धनार्जन की कामना करें।

भावार्थ—अक्षों और कृषि में कृषि ही श्रेयस्कर है।

ऋषिः—**कवष ऐलूष अक्षो वा मौजवान्**॥ देवता—**अक्षकितवनिन्दा**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

द्यूत-बन्धन से दूर

मि॒त्रं कृ॑णुध्वं॒ खलु॑ मृ॒ळता॑ नो॒ मा नो॑ घो॒रेण॑ चरता॒भि धृ॒ष्णु।
नि वो॒ नु म॒न्युर्वि॑शता॒मरा॑तिर॒न्यो ब॒भ्रूणां॒ प्रसि॑तौ॒ न्व॑स्तु॥ १४॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार प्रभु के निर्देश को सुनकर जुए से दूर रहने का निश्चय करता हुआ जुवारी प्रार्थना करता है कि हे अक्षो! **मित्रं कृणुध्वम्**-हमारे साथ तो स्नेह ही रखो। मित्र जानकर हमें तो आप परेशान मत करो, हमारे पर तो आप जरा मेहरबानी ही रखें। **नः**=हमें **खलु**=निश्चय से **मृळता**=सुखी करनेवाले होइये। **नः**=हमें **धृष्णु**=पराभव करनेवाले **घोरेण**=अपने भयङ्कर रूप से **मा अभिचरत्**=मत प्राप्त होइये, अर्थात् कृपा करके आप हमारे से दूर ही रहिये। हमें आपके कारण दुर्गति में न पड़ना पड़े। (२) **वः मन्युः**=आपका क्रोध अथवा आपके कारण उत्पन्न हुआ-हुआ शोक **नु**=निश्चय से **अरातिः**=हमारा शत्रु ही **निविशताम्**-भोगे-प्राप्त करे। **बभ्रूणाम्**=भूरे वर्णवाले आपके **प्रसितौ**-बन्धन में **नु**=निश्चय से **अन्यः**=हमारे से भिन्न और ही कोई व्यक्ति **अस्तु**-हो। हमें आपका बन्धन न प्राप्त हो। हम जुए से सदा बचे रहें। यह व्यसन तो शत्रुओं को ही लगे।

भावार्थ—ये जुए के पासे हमारे पर तो कृपा ही करें। हमारे शत्रुओं को ही अपने बन्धन में बाँधे।

इस सूक्त में 'द्यूत-व्यसन' का अत्यन्त उपयुक्त मनोवैज्ञानिक चित्रण हुआ है। ये जुए के पासे बड़े मादक हैं। (१) जुए से घर बिगड़ जाता है, (२) जुवारी का घरवाले भी आदर नहीं करते, (३) इसकी पत्नी भी दुर्गति को भोगती है, (४) यह जुआ एक दुरन्त व्यसन है, (५) हारने पर भी और इच्छा बढ़ती ही है, (६) ये पासे मधु-सम्पृक्त हैं, हैं विनाशकारी, (७) त्रेपन पासों से यह खेला जाता है, (८) ये पासे छूने में ठण्डे होते हुए भी अत्यन्त सन्तापकारी होते हैं, (९) जुवारी ऋणी बन जाता है और चोरी में प्रवृत्त होता है। (१०) यह दरिद्रता की चरमसीमा पर पहुँच जाता है, (११) कटु अनुभव लेकर यह जुए से बिदा लेने का निश्चय करता है, (१२) कहता है कि प्रभु मुझे यही तो कहते हैं कि 'जुए को छोड़ो और कृषि को अपनाओ', (१३) सो हे पासो! मेरे पर तो आप कृपा करो। मेरे शत्रु को ही आप प्राप्त होवो, (१४) इन द्यूत आदि व्यसनों के छोड़ने पर ही हम सब दिव्यताओं के स्वागत के लिये तैयार होंगे। दोनों सूक्तों का विषय 'विश्वेदेवाः' ही है। इन दिव्यगुणों से अपने को अलंकृत करने के कारण यह 'लुशः' (लुश् to adore) नामवाला हुआ है। ऐसा बना रहने के लिये यह 'धानाकः'=धान आदि अन्नों का ही सात्त्विक भोजन करता है।

[३५] पञ्चत्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः-लुशो धानाकः॥ देवता-विश्वे देवाः॥ छन्दः-विराड्जगती॥ स्वरः-निषादः॥

इन्द्रवान् अग्नियों का उद्बोधन

अबु॑ध्रमु॒ त्य इन्द्र॑वन्तो अ॒ग्नयो॒ ज्योति॒र्भर॑न्त उ॒षसो॒ व्यु॑ष्टिषु।
म॒ही द्यावा॑पृथि॒वी चे॑तता॒मपो॒ऽद्या दे॒वाना॒मव॒ आ वृ॑णीमहे॥ १॥

(१) **इन्द्रवन्तः** प्रभु की उपासनावाली, अर्थात् प्रभु की उपासना से युक्त **त्ये** वे **अग्नयः** यज्ञाग्नियाँ **अबुध्रम्** हमारे गृहों में उद्बुद्ध हों। हम इन्द्र का उपासन करें और घरों में अग्निहोत्र के करनेवाले हों। (२) हम **उषसः व्युष्टिषु**-उषःकालों के निकलने पर, जब उषाएँ अन्धकार को दूर करें, उस समय **ज्योतिः भरन्तः** स्वाध्याय द्वारा अपने अन्दर ज्ञान की ज्योति को भरनेवाले हों। (३) **मही** 'मह पूजायाम्' प्रभु की पूजा में लगे हुए **द्यावापृथिवी** हमारे द्युलोक व पृथ्वीलोक, अर्थात् मस्तिष्क और शरीर **अपः**-अपने कर्त्तव्य कर्मों को **चेतताम्**-जाननेवाले हों। हमारे मस्तिष्क में ज्ञान हो तथा शरीर में शक्ति हो। इस प्रकार हम समझदारी से अपने कर्त्तव्य कर्मों का पालन कर सकें। (४) इस प्रकार ज्ञान व शक्ति से अपने कर्त्तव्यों में पवित्र व सफल होते हुए हम **अद्य**-आज **देवानाम्**-देवों के **अवः** रक्षण की **वृणीमहे** याचना करते हैं। हम सब देवों से रक्षणीय हों। हम अपने जीवनों में दैवी सम्पत्ति के रक्षण करनेवाले हों।

भावार्थ—हम प्रभु का उपासन करें। हमारे घरों में अग्निहोत्र हो। स्वाध्याय के द्वारा हम अपने में ज्योति को भरनेवाले हों।

ऋषिः-लुशो धानाकः॥ देवता-विश्वे देवाः॥ छन्दः-भुरिग्जगती॥ स्वरः-निषादः॥

द्यावापृथिवी का रक्षण

दि॒वस्पृ॑थि॒व्योरव॒ आ वृ॑णीमहे मा॒तॄन्त्सिन्धू॒न्पर्व॑ताञ्छर्य॒णाव॑तः।
अ॒ना॒गास्त्वं सूर्य॑मु॒षास॑मीमहे भ॒द्रं सोमः॑ सुवा॒नो अ॒द्या कृ॑णोतु नः॥ २॥

(१) **मातॄन् सिन्धून्**-हमारे जीवन में निर्माण का कार्य करनेवाले स्यन्दनशील रेतःकणों से **दिवः पृथिव्योः** द्युलोक व पृथिवीलोक के, अर्थात् मस्तिष्क व शरीर के **अवः**=रक्षण का **आवृणीमहे**-हम वरण व याचन करते हैं। ये रेतःकण स्यन्दनशील हैं, बहने के स्वभाववाले हैं। इनका रक्षण न किया जाए तो ये स्वभावतः नीचे की ओर जानेवाले होते हैं और तब शरीर में नाना प्रकार के रोग व्याप्त हो जाते हैं तथा मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि बुझ जाती है। रेतःकण, सुरक्षित होने पर शरीर को रोगों का शिकार नहीं होने देते और मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि को दीप्त रखते हैं। इसीलिए मन्त्र में कहते हैं कि हम इन रेतःकणों से शरीर व मस्तिष्क के रक्षण की याचना करते हैं। ये रेतःकण ही वस्तुतः हमारे शरीर में सब आवश्यक तत्त्वों का निर्माण करनेवाले हैं। (२) इन्हीं स्यन्दनशील रेतःकणों से हम **शर्यणावतः**-(शर्य-हिंसा) हिंसा व विनाश के कारणभूत **पर्वतान्**-अविद्या पर्वतों को (पञ्चपर्वा अविद्या को) आवृणीमहे-(keep away) अपने से दूर रखते हैं। एक रेतःकणों के रक्षण से (क) शरीर नीरोग बनता है, (ख) ज्ञानाग्नि दीप्त होती है, (ग) विनाश के कारणभूत अविद्या के पर्वत उच्छिन्न हो जाते हैं। (३) अब अज्ञान को दूर करके **सूर्यं उषासम्**-सूर्य व उषा से हम **अनागास्त्वम्**-निष्पापता को **ईमहे**=चाहते हैं। 'सूर्य' 'निरन्तर गति' का प्रतीक है और उषा 'अन्धकार के दहन' का। हम निरन्तर गतिशील बनकर तथा अविद्यान्धकार का दहन करके निरपराध बनते हैं। (४) **सुवानः सोमः**=सात्त्विक अन्नों से उत्पन्न

किया जाता हुआ सोम (वीर्य) **अद्य**=आज **नः**=हमारा **भद्रं कृणोतु** कल्याण करे। सोम के रक्षण से हमारा सब प्रकार से कल्याण ही कल्याण हो। शरीर में व्याधियाँ न हों, मन में आधियाँ न हों तथा मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि की दीप्ति सदा बनी रहे।

भावार्थ—शरीर में रेतःकण ही सब आवश्यक तत्त्वों का निर्माण करनेवाले हैं। इनके रक्षण से ही हमारा जीवन अविद्यान्धकार व पापों से शून्य बनेगा।

ऋषिः—**लुशो धानाकः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

निष्पापता

द्यावा नो अद्य पृथिवी अनागसो मही त्रायेतां सुविताय मातरा।
उषा उच्छन्त्यप बाधतामघं स्वस्त्य१ग्निं समिधानमीमहे॥ ३॥

(१) **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्क व शरीर **मही**=महनीय हैं, ये दोनों महत्त्वपूर्ण हैं। **मातरा**=ये हमारे जीवन का निर्माण करनेवाले हैं। शरीर व मस्तिष्क से ही मनुष्य बनता है, **अनागसो**=निष्पाप मनुष्य आदर्श मनुष्य वही है जो स्वस्थ व सशक्त शरीर के साथ दीप्त मस्तिष्कवाला है। ये दोनों मस्तिष्क व शरीर **अद्य**=आज **नः**=हमें **सुविताय**=उत्तम आचरण व उत्तम आचरण से जनित सुख के लिये **त्रायेताम्**=रक्षित करें। शरीर की शक्ति व मस्तिष्क का ज्ञान हमारे आचरण को सुन्दर बनायें, जिससे हम अपने जीवन में सुखी हो सकें। (२) **उच्छन्ती**=अन्धकार को दूर करती हुई **उषा**=प्रातःकाल की वेला **अघम्**=पाप को **अपबाधताम्**=हमारे से दूर करे। उषा होती है और अन्धकार दूर हो जाता है, इसी प्रकार यह उषा हमारे जीवन में भी हृदयान्धकार को दूर करनेवाली हो और परिणामतः हमारे जीवन में से पाप विनष्ट हो जाएँ। (३) इस उषाकाल में **समिधानम्**=दीप्त की जाती हुई **अग्निम्**=इस अग्निहोत्र की अग्नि से **स्वस्ति**=उत्तम जीवन को, कल्याण को **ईमहे**=हम माँगते हैं, हम उषःकाल में अग्निहोत्र की अग्नि को उद्बुद्ध करनेवाले हों। यह प्रतिदिन उद्बुद्ध की जाती हुई अग्नि हमारे सब ज्ञात-अज्ञात रोगों को दूर करती हुई, हमारा कल्याण करे।

भावार्थ—हमारा स्वस्थ शरीर वही प्रमस्तिष्क हमें निष्पाप बनाये। उषा हमारे पाप को दूर करे। समिद्ध अग्नि हमें 'स्वस्ति' प्राप्त कराये।

ऋषिः—**लुशो धानाकः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**आर्चीस्वराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

ऐश्वर्य व अक्रोध

इयं न उस्रा प्रथमा सुदेव्यं रेवत्सनिभ्यो रेवती व्युच्छतु।
आरे मन्युं दुर्विदत्रस्य धीमहि स्वस्त्य१ग्निं समिधानमीमहे॥ ४॥

(१) उषा से ही प्रार्थना करते हैं कि **इयम्** यह **रेवती**=उत्तम प्रकाशरूप धनवाली **उस्रा**=पापों का उत्स्रावण=दूरीकरण करनेवाली **प्रथमा**=हमारे जीवन में सर्वप्रथम स्थान रखनेवाली अथवा हमारे हृदयों का पवित्र भावनाओं के सञ्चार से विस्तार करनेवाली यह उषा **सनिभ्यः नः**=उत्तम संविभाग पूर्वक खानेवाले अथवा प्रभु-पूजन करनेवाले हमारे लिये **रेवत्**=ऐश्वर्य से युक्त **सुदेव्यम्**=उत्तम दिव्यगुणों के लिये हितकर रूप में **व्युच्छतु**=अन्धकार को दूर करनेवाली हो। उषा हमें ऐश्वर्य-सम्पन्न बनाये और ऐश्वर्य के साथ हमारे में दिव्यगुणों का सञ्चार करे। हम इस उषाकाल में प्रभु का पूजन करनेवाले हों हमारी वृत्ति सबके साथ बाँटकर खाने की हो। (२) **दुर्विदत्रस्य**=दुर्धन पुरुष के (विदत्र=धन) **मन्युम्**=क्रोध को **आरे**=अपने से दूर **धीमहि**=धारण करें। जिस प्रकार दुर्धन पुरुष क्रोध के वश हो जाते हैं, हम उस प्रकार दुर्धन न बनें। उषा हमें धन व ऐश्वर्य को

प्राप्त कराये, परन्तु हम उस धन के मद में भोग प्रवण जीवनवाले होकर क्रोध न करते रहें। (३) इन धनों का विनियोग हम यज्ञादि उत्तम कर्मों में करें। प्रतिदिन **समिधानं अग्निम्** समिद्ध की जाती हुई अग्नि से हम **स्वस्ति** उत्तम जीवन व कल्याण की **ईमहे** याचना करते हैं। अग्निहोत्र से रोग दूर हों और सौमनस्य प्राप्त हो। स्वस्थ व सुमना बनकर हम स्वस्ति व उत्तम जीवनवाले हों।

भावार्थ—उषा हमें धन व दिव्यगुण प्राप्त कराये। हम धनी हों, परन्तु क्रोधादि से कभी अभिभूत न हों। धनों का विनियोग यज्ञों में करें।

ऋषिः—**लुशो धानाकः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**आर्चीभुरिग्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

ज्योति का भरण

प्र याः सिस्रते सूर्यस्य रश्मिभिर्ज्योतिर्भरन्तीरुषसो व्युष्टिषु।

भद्रा नो अद्य श्रवसे व्युच्छत स्वस्त्यग्निं समिधानमीमहे॥ ५॥

(१) **याः उषसः**-जो उषाकाल **सूर्यस्य**=सूर्य की **रश्मिभिः**-किरणों से **सिस्रते** (संगच्छन्ते) संगत होती हैं और जो उषाएँ **व्युष्टिषु**-अन्धकारों के दूर करने पर **ज्योतिः भरन्तीः**-प्रकाश का भरण करनेवाली होती हैं, वे उषाएँ **अद्य**-आज **भद्राः**-कल्याणकर होती हुई **नः**-हमारे **श्रवसे**=ज्ञान प्रकाश के लिये **व्युच्छत** अन्धकार को दूर करें। (२) इन उषाकालों में हम **समिधानम्**-समिद्ध होती हुई **अग्निम्**-अग्नि से **स्वस्ति ईमहे** कल्याण की याचना करते हैं। ये अग्निहोत्र में प्रज्वलित की गई अग्नियाँ हमें नीरोगता व सौमनस्य को देकर उत्तम जीवनवाला बनायें। (३) उषाकाल जिस प्रकार सूर्य की किरणों से सम्पृक्त होते हैं उसी प्रकार हम ज्ञान रश्मियों से संगत हों। उषाकाल अन्धकार को दूर करके प्रकाश का भरण करते हैं, हमारे मस्तिष्कों से भी अविद्यान्धकार का लोप होकर उनमें ज्ञान के प्रकाश का भरण हो।

भावार्थ—हम उषाकाल के समान अन्धकार को दूर करके अपने ज्ञान के प्रकाश का भरण करें।

ऋषिः—**लुशो धानाकः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः **निषादः**॥

नीरोगतावाली उषाएँ

अनमीवा उषस आ चरन्तु न उदग्नयो जिहतां ज्योतिषा बृहत्।

आयुक्षातामश्विना तूतुजिं रथं स्वस्त्यग्निं समिधानमीमहे॥ ६॥

(१) **नः**=हमें **अनमीवाः उषसः**-रोगरहित उषाकाल **आचरन्तु**=सर्वथा प्राप्त हों। प्रत्येक उषाकाल में हम नीरोगता का अनुभव करें। उषाकाल का वायु ओज़ोन गैस के प्राचुर्यवाला होता है। इस समय का भ्रमण हमें आरोग्य का प्रदान करे। (२) इस समय **बृहत्**-वृद्धि के कारणभूत **ज्योतिषा**=ज्ञान के प्रकाश के साथ **अग्नयः** अग्निहोत्र में समिद्ध की जानेवाली अग्नियाँ **उज्जिहताम्**-उद्गत हों, अर्थात् घृत व सामग्री की आहुतियों से ये ऊँची-ऊँची लपटोंवाली हैं। हम अग्निहोत्र करें और स्वाध्याय के द्वारा ज्ञान का वर्धन करें। (३) **अश्विना**-प्राणापान **तूतुजिं रथम्**-शीघ्रगामी शरीररूप रथ को **आयुक्षाताम्**-जोतें। इस शरीररूप रथ में इन्द्रियरूप घोड़े जुते हुए हों और हमारा यह रथ अकर्मण्य-सा न पड़ा रहे। कहने का अभिप्रायः यह कि हमारा जीवन बड़ा क्रियाशील हो। (४) प्रतिदिन प्रातः-सायं **समिधानं अग्निम्**-समिद्ध की जाती हुई इस अग्निहोत्र की अग्नि से **स्वस्ति** कल्याण व उत्तम जीवन की **ईमहे**=हम याचना करते हैं। यह अग्नि हमारे जीवनों में नीरोगता व सौमनस्य को देनेवाली हो।

भावार्थ—हमें उषाकाल नीरोगता को देनेवाले हों हम प्रातः-सायं अग्निहोत्र अवश्य करें। प्राणसाधना से हमारे में क्रियाशीलता का विकास हो।

ऋषिः—**लुशो धानाकः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

ज्ञान व धन का समन्वय

श्रेष्ठं नो अद्य सवितर्वरेण्यं भागमा सुव स हि रत्नधा असि।
रायो जनित्रीं धिषणामुप ब्रुवे स्वस्त्य१ग्निं समिधानमीमहे॥ ७॥

(१) हे **सवितः**=सबके प्रेरक प्रभो! **अद्य**=आज **नः**=हमारे लिये **श्रेष्ठम्**=प्रशस्यतम **वरेण्यम्**=वरणीय चाहने योग्य **भागम्**-भजनीय-सेवनीय धन को **आसुव**-प्रेरित करिये। आपकी कृपा से हमें उत्तम चाहने योग्य धन प्राप्त हो। **स**=वे आप **हि**-निश्चय से **रत्नधाः असि**=रमणीय धनों के धारण करनेवाले हैं। (२) हे प्रभो! मैं आप से **रायः जनित्रीम्**-ऐश्वर्य को जन्म देनेवाली **धिषणाम्**-बुद्धि को **उपब्रुवे**-भोगता हूँ। मैं उस बुद्धि को प्राप्त करूँ जो मुझे धन कमाने के भी योग्य बनाये। मेरे में 'ज्ञान व धन' दोनों का समन्वय हो। (३) **समिधानं अग्निम्**-अग्निहोत्र में समिद्ध की जाती हुई अग्नि से **स्वस्ति ईमहे**-हम कल्याण की **ईमहे**-याचना करते हैं।

भावार्थ—हमें वरणीय धन प्राप्त हो। हमारे जीवन में 'धन व ज्ञान' का समन्वय हो।

ऋषिः—**लुशो धानाकः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**आर्चीस्वराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

ऋत का प्रवाचन

पिपर्तु मा तदृतस्य प्रवाचनं देवानां यन्मनुष्या३ अमन्महि।
विश्वा इदुस्राः स्पळुदेति सूर्यः स्वस्त्य१ग्निं समिधानमीमहे॥ ८॥

(१) **यत्**-जब **मनुष्याः**-मननपूर्वक कर्मों को करनेवाले हम **देवानाम्**-सूर्य, चन्द्र आदि देवों का **अमन्महि** ज्ञान प्राप्त करते हैं और इनकी गतियों में ऋत का दर्शन करते, अपनी इन्द्रियों से भी ऋतस्य **प्रवाचनम्**=ऋत का ही उच्चारण करवाते हैं, अर्थात् सब इन्द्रियों से सब कार्यों को बड़ी नियमितता से करते हैं, तो **तत्**=वह ऋत का प्रवाचन=सब कार्यों का समय पर करना **मा पिपर्तु**-मेरा पालन व पूरण करे। ऋत के पालन से मेरा शरीर रोगों से आक्रान्त न हो और मेरे मन में किसी प्रकार की न्यूनता न आ जाये। वस्तुतः 'स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्र-मसाविव'=सूर्य व चन्द्रमा की तरह हम बड़े नियम से अपने मार्ग का आक्रमण करें, इसी में कल्याण है। (२) इस ऋत के पालन के होने पर **विश्वाः**=सब **उस्राः**-प्रकाशों को **स्पट्**=स्पर्श करता हुआ **सूर्यः**-ज्ञान का सूर्य **इत् उदेति**-निश्चित ही हमारे जीवन के आकाश में उदित होता है। ऋत का पालन ज्ञान के प्रकाश की अभिवृद्धि का कारण हो जाता है। (३) हम प्रतिदिन **समिधानं अग्निम्**-समिद्ध की जाती हुई अग्नि से **स्वस्ति ईमहे** कल्याम की याचना करते हैं।

भावार्थ—हम सूर्यादि देवों का मनन करते हुए अपने जीवन में ऋत का पालन करें। यह ऋत हमारे जीवन को प्रकाशमय बनाये।

ऋषिः—**लुशो धानाकः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

आचार्यों का सम्पर्क

अद्वेषो अद्य बर्हिषः स्तरीमणि ग्राव्णां योगे मन्मनः साध ईमहे।
आदित्यानां शर्मणि स्था भुरण्यसि स्वस्त्य१ग्निं समिधानमीमहे॥ ९॥

(१) हे प्रभो! आपकी कृपा से **बर्हिषः** वासनाशून्य हृदय के **स्तरीमणि**-बिछाने के निमित्त **अद्य** आज **अद्वेषः** हमारे किसी प्रकार का द्वेष न हो। हम सब प्रकार के ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध आदि से ऊपर उठकर हृदय को निर्मल बना पायें। उस निर्मल हृदयासन पर हम आपको आमन्त्रित करनेवाले बनें। (२) हम **ग्राव्णाम्** (गृ गुरूणां) ज्ञान देनेवाले गुरुओं के **योगे** सम्पर्क में **मन्मनः** ज्ञान की **साधः** साधना को **ईमहे** माँगते हैं। ज्ञानी गुरुओं के सम्पर्क में आकर हमारे ज्ञान में निरन्तर वृद्धि हो। (साधनं साधः) (३) हे प्रभो! आप हमें निरन्तर यही तो प्रेरणा दे रहे हैं कि **आदित्यानाम्** सब ज्ञानों का आदान करनेवाले गुरुओं के **शर्मणि** (स्थाने सा० shelter) शरण में **स्थाः** तू स्थित हो और **भुरण्यसि** ज्ञान से अपने को भरनेवाला बन तथा कर्त्तव्य कर्मों का धारण करनेवाला बन। (४) हम आपकी इस प्रेरणा को सुनते हुए ज्ञानियों से ज्ञान को प्राप्त करने के लिये यत्नशील हों तथा प्रतिदिन **समिधानं अग्निम्** समिद्ध की जाती हुई अग्नि से **स्वस्ति** कल्याण की **ईमहे**-याचना करें। यह अग्निहोत्र की अग्नि हमें नीरोग व सुमना बनाये और इस प्रकार हमें ज्ञान प्राप्ति के योग्य करे।

भावार्थ—हम द्वेष से ऊपर उठकर हृदय को निर्मल बनायें। आचार्यों के सम्पर्क में आकर ज्ञान को प्राप्त करें।

ऋषिः—**लुशो धानाकः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

'इन्द्र-मित्र-वरुण-भग'

आ नो बर्हिः सधमादे बृहद्दिवि देवाँ ईळे सादया सप्त होतॄन्।
इन्द्रं मित्रं वरुणं सातये भगं स्वस्त्यग्निं समिधानमीमहे॥ १०॥

(१) हे प्रभो! **नः** हमें **बर्हिः** वासनाशून्य हृदय **आसादया**-प्राप्त कराइये। इस **बृहद्दिवि** बढ़ी हुई दीप्तिवाले **सधमादे** प्रभु व जीव के मिलकर आनन्दित होने के स्थानभूत हृदय में **देवान् ईडे** मैं देवों का, विद्वानों का पूजन करता हूँ। उनके प्रति श्रद्धा की भावना को धारण करता हूँ। इनके सम्पर्क से ही तो मुझे ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होगा। (२) हे प्रभो! आप **सप्त होतॄन्**-'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' इस मन्त्र भाग में वर्णित सात ज्ञान यज्ञ के होतृभूत कानों, नासिका छिद्रों, आँखों व मुख को **आसादय** हमें प्राप्त कराइये। इनके द्वारा ही तो हमारा यह ज्ञानयज्ञ सुचारुरूपेण चलेगा। (३) हम **सातये** उत्तम कल्याण की प्राप्ति के लिये **इन्द्रम्**-इन्द्र को, जितेन्द्रियता की भावना को, **मित्रम्**-सबके प्रति स्नेह की भावना को, **वरुणम्** द्वेष निवारण की भावना को और **भगम्**-ऐश्वर्य की अधिष्ठातृ देवता को **ईमहे** प्राप्त करने के लिये चाहते हैं। 'जितेन्द्रियता, स्नेह, निर्द्वेषता व ऐश्वर्य' ये हमें कल्याण प्राप्त कराएँगे। (४) **समिधानं अग्निम्** हम अग्निहोत्र में समिध्यमान अग्नि से **स्वस्ति**-कल्याण की **ईमहे** याचना करते हैं।

भावार्थ—हमारा हृदय वासनाशून्य हो। उस हृदय में देवों के प्रति श्रद्धा की भावना हो। हम जितेन्द्रिय, स्नेहवाले, निर्द्वेष व ऐश्वर्यशाली हों।

ऋषिः—**लुशो धानाकः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

'बृहस्पति-पूषा-अश्विनौ-भग'

त आदित्या आ गता सर्वतातये वृधे नो यज्ञमवता सजोषसः।
बृहस्पतिं पूषणमश्विना भगं स्वस्त्यग्निं समिधानमीमहे॥ ११॥

(१) हे **आदित्याः**-सब ज्ञानों व अच्छाइयों का आदान करनेवाले देवो! **ते** वे आप

सर्वतातये=हमारे में सब गुणों के विकास के लिये **आगता**=आइये। देवों के सम्पर्क में आकर हम भी देव बनते हैं, हमारे में सब दिव्य गुणों का विकास होता है। जैसों के साथ हमारा उठना बैठना होता है वैसे ही हम बनते हैं। (२) हे देवो! आप **सजोषसः**-समानरूप से प्रीतिवाले होते हुए **नः**-हमारे **वृधे**-वर्धन के लिये **यज्ञं अवता**=हमारे से किये जाते हुए यज्ञों का रक्षण करिये। आपकी कृपा से हमारी यज्ञिय वृत्ति सदा बनी रहे। (३) हम **बृहस्पतिम्**-ज्ञान के अधिष्ठातृदेव बृहस्पति से **पूषणम्**-पुष्टि के देवता पूषा से, **अश्विना**-प्राणापान से, **भगम्**-ऐश्वर्य के देवता भग से, **समिधानं अग्निम्**-अग्निहोत्र में समिद्ध की जाती हुई अग्नि से **स्वस्ति ईमहे**-कल्याण व उत्तम स्थिति की याचना करते हैं। वस्तुतः जीवन के उत्कर्ष के लिये आवश्यक है कि हम बृहस्पति आदि देवों की आराधना करें। 'ऊँचे से ऊँचा ज्ञान प्राप्त करें' यही बृहस्पति की आराधना है। इसी प्रकार शरीर के उचित पोषण से 'पूषा' की तथा प्राणापान की शक्ति की वृद्धि के द्वारा हम 'अश्विना' की आराधना करें। सुपथ से ऐश्वर्य की वृद्धि करते हुए 'भग' के उपासक हों और प्रातः-सायं अग्निहोत्र करते हुए अग्नि का पूजन करें। यही कल्याण प्राप्ति का मार्ग है।

भावार्थ—हम 'बृहस्पति, पूषा, अश्विनौ, भग' के उपासक बनें।

ऋषिः—**लुशो धानाकः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

'सुप्रवाचन-सुभर-नृपाय्य' घर

तन्नो॑ देवा यच्छत सुप्रवाच॒नं छ॒र्दिरा॑दित्याः सु॒भरं॑ नृपाय्य॑म्।

पश्वे॑ तो॒काय॒ तन॑याय जी॒वसे॑ स्व॒स्त्य१॒॑ग्निं स॑मिधा॒नमी॑महे॥ १२॥

(१) हे **देवाः**-गत मन्त्रों में वर्णित देवो! **आदित्याः**=आप सब ज्ञानों व उत्तमताओं का आदान करनेवाले हो आप **नः**-हमें **तत् छर्दिः**-वह घर **यच्छता**=दीजिये। जो (क) **सुप्रवाचनम्**-प्रभु के गुणों के उत्तम प्रवचनवाला है। जिसमें प्रभु के गुणों का गान होता है अथवा जिसमें सदा शुभ ही शब्द बोले जाते हैं। (ख) **सुभरम्**=जो उत्तम भरण व पोषणवाला है, जो समृद्ध है, जिसमें खान-पान की किसी भी प्रकार से कमी नहीं है। (ग) **नृपाय्यम्**=जो घरों-नरों का रक्षण करनेवाला है, जिस घर में नरों का वास है, उनका जो (नृ नये) निरन्तर अपने को आगे ले चल रहे हैं। (२) ऐसे घर में निवास करते हुए हम **पश्वे**-अपने गौ आदि पशुओं के लिये, **तोकाय**=अपने सन्तानों के लिये **तनयाय**=पौत्रों के लिये तथा **जीवसे**-उत्तम दीर्घ जीवन के लिये **समिधानं अग्निम्**-समिद्ध की जाती हुई अग्नि से **स्वस्ति ईमहे**=कल्याण की याचना करते हैं। 'सुप्रवाचन-सुभर-नृपाय्य' घर में हम नियमपूर्वक अग्निहोत्र करें। इस अग्निहोत्र से वायुमण्डल की शुद्धि होकर उस घर में सभी स्वस्थ हों। हमारे पशुओं की स्थिति भी उत्तम हो, हमारे पुत्र-पौत्र अच्छे हों और हमारा जीवन भी दीर्घ हो।

भावार्थ—देव कृपा से हम 'सुप्रवाचन-सुभर-नृपाय्य' घर को प्राप्त करें। उस घर में हम नियम से अग्निहोत्र करें।

ऋषिः—**लुशो धानाकः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः—**धैवतः**॥

प्राणायाम व अग्निहोत्र

विश्वे॑ अ॒द्य म॒रुतो॒ विश्व॑ ऊ॒ती विश्वे॑ भवन्त्व॒ग्नयः॒ समि॑द्धाः।

विश्वे॑ नो दे॒वा अव॒सा ग॑मन्तु॒ विश्व॑मस्तु॒ द्रवि॑णं॒ वाजो॑ अ॒स्मे॥ १३॥

(१) **अद्य** आज **विश्वे** सब **मरुतः**=प्राण **समिद्धाः**=दीप्त **भवन्तु**-हों और **विश्वे**-ये

सब प्राण **ऊती**-रक्षण के लिये **भवन्तु** हों। हमारे घरों में **विश्वे अग्नयः** सब यज्ञों की अग्नियाँ **समिद्धाः भवन्तु**-समिद्ध हों। वे यज्ञाग्नियाँ कभी बुझे नहीं। हम प्राणायाम के द्वारा प्राणसाधना को करनेवाले हों और अग्निहोत्र के द्वारा घर के वायुमण्डल का शोधन करें। (२) ऐसा करने पर, अर्थात् प्राणायाम व अग्निहोत्र के अपनाने पर **विश्वे**-सब **देवः** देव **नः** हमें **अवसा**-रक्षण के हेतु से **गमन्तु** प्राप्त हों। प्राणसाधना व अग्निहोत्र से सब आन्तर व बाह्य देवों का आनुकूल्य प्राप्त होता है और ये देव हमारा रक्षण करनेवाले होते हैं। (३) देवों के रक्षण के परिणामस्वरूप **विश्वं द्रविणम्** सम्पूर्ण धन व **वाजः** शक्ति व ज्ञान **अस्ये** हमारे में **अस्तु** हो। शक्ति व ज्ञान हमारी आन्तर सम्पत्ति हो और धन हमारी बाह्य समृद्धि का कारण बने। इस प्रकार हम प्राणायाम से शक्ति व ज्ञान की सम्पत्ति का लाभ प्राप्त करें तो अग्निहोत्र से उचित वर्षण के द्वारा अन्नादि की समृद्धिवाले हों।

भावार्थ—प्राणायाम हमें 'शक्ति व ज्ञान' रूप आन्तर सम्पत्ति को प्राप्त कराये तथा अग्निहोत्र हमें आद्य अन्नों को प्राप्त कराता हुआ समृद्ध करनेवाला हो।

ऋषिः **लुशो धानाकः**॥ देवता-**विश्वे देवाः**॥ छन्दः-**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

अभय प्राप्ति

यं दे॑वा॒सोऽव॑थ॒ वाज॑साता॒ यं त्राय॑ध्वे॒ यं पि॑पृ॒थात्यंहः॑।
यो वो॑ गोपी॒थे न भ॒यस्य॒ वेद॒ ते स्या॑म दे॒ववी॑तये तु॒रासः॑॥ १४॥

(१) हे **देवासः** देवो! **यम्** जिसको आप **वाजसातौ** इस जीवन में **अवथ** रक्षित करते हो, **यं त्रायध्वे**-जिसको आप रोगादि के आक्रमण से बचाते हो और **यम्** जिसे **अंहः अतिपिपृथ**-पाप से पार ले जाते हो इस प्रकार **यः**-जो **वः**-आपके **गोपीथे** रक्षण में होता है वह **भयस्य न वेद** किसी भय को प्राप्त नहीं होता देवों के रक्षण में स्थित होने पर एक मनुष्य को निर्धनता जनित कष्ट परेशान नहीं करते, वह रोगों का शिकार नहीं होता और वह पापगर्त में नहीं फँसता। (२) हे देवो! आप ऐसी कृपा करो कि हम भी **ते स्याम** वे ही हों जो आपके रक्षण में निर्भीक होकर विचरते हैं तथा **तुरासः** त्वरावाले, शीघ्रता से कार्य करनेवाले अथवा शत्रुओं का संहार करनेवाले हम **देववीतये** दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए **स्याम** हों। देवों के रक्षण में हम अपने अन्दर उत्तरोत्तर दिव्यगुणों का वर्धन कर पायें।

भावार्थ—जीवन संग्राम में देव हमारा रक्षण करें। हमें वे रोगों से बचाएँ तथा पापों के पार ले जायें। इस प्रकार हम अपने में दिव्यगुणों का वर्धन करनेवाले बनें।

सूक्त का प्रारम्भ इन शब्दों से हुआ है कि स्वाध्याय के द्वारा हम अपने में ज्योति का भरण करें। (१) रेतःकणों के रक्षण से हम निष्पापता को प्राप्त करें, (२) उषा हमारे पापों को दग्ध करे, (३) हम धनी हों, पर कभी क्रोधाभिभूत न हों, (४) उषा से प्रेरित होकर हम ज्योति का भरण करें, (५) उषाएँ हमारे लिये नीरोगता को लानेवाली हों, (६) हमारे जीवन में धन व ज्ञान का समन्वय हो पाये, (७) ऋत का हम पालन करें, (८) आचार्यों के सम्पर्क में रहकर ज्ञान को बढ़ायें, (९) 'इन्द्र, मित्र, वरुण व भग' के उपासक बनें, (१०) बृहस्पति पूषा अश्विनौ भग का निरन्तर पूजन हो, (११) सुप्रवाचन, सुभर व नृपाय्य घर हमें प्राप्त हो, (१२) इस घर में हम 'प्राणायाम व अग्निहोत्र' को नियम से अपनायें, (१३) देव कृपा से हमें अभय प्राप्त हो, (१४) हम देवों का आराधन करनेवाले हों।

[३६] षट्त्रिंशं सूक्तम्

ऋषिः—लुशो धानाकः॥ देवता—विश्वे देवाः॥ छन्दः—निचृज्जगती॥ स्वरः—निषादः॥

देवाह्वान व स्वर्ग

उषासानक्ता बृहती सुपेशसा द्यावाक्षामा वरुणो मित्रो अर्यमा।
इन्द्रं हुवे मरुतः पर्वताँ अप आदित्यान्द्यावापृथिवी अपः स्वः॥ १॥

(१) मैं **उषासानक्ता**=उषा व रात्रि को **हुवे**=पुकारता हूँ। उषा जैसे अन्धकार का दहन कर प्रकाश को फैलाती है, मैं भी इसी प्रकार अज्ञानान्धकार को दूर करके ज्ञान के प्रकाश को फैलानेवाला बनूँ। नक्त=अर्थात् रात्रि जिस प्रकार उचित लज्जावाली होती हुई अपने को अन्धकार में छिपा लेती है उसी प्रकार मैं भी उचित लज्जाशीलतावाला व 'ह्री' के बलवाला बोता हुआ अपने को अप्रसिद्धि (obseurity) में ही रखनेवाला बनूँ। (२) **बृहती**-खूब बढ़ी हुई विशाल **सुपेशसा**=उत्तम रूपवाली **द्यावाक्षामा**=द्युलोक व पृथिवीलोक को **हुवे**=मैं पुकारता हूँ। द्युलोक व पृथिवीलोक विशाल व सुरूप हैं। मैं भी अपने मस्तिष्करूप द्युलोक को अत्यन्त विशाल बनाने का प्रयत्न करता हूँ, मैं अपने ज्ञान को खूब ही बढ़ाता हूँ। साथ ही मैं अपने पृथिवी के समान शरीर को सुरूप बनाता हूँ। स्वास्थ्य के साधन से मेरा शरीर सौन्दर्यवाला होता है। (३) **वरुणः मित्रः अर्यमा**='वरुण, मित्र व अर्यमा' ये तीनों देव मेरे से पुकारे जाते हैं। मैं द्वेष का निवारण करनेवाला 'वरुण' बनता हूँ, सब के साथ स्नेह करता हुआ 'मित्र' होता हूँ और सदा काम-क्रोधादि शत्रुओं का नियमन करनेवाला 'अर्यमा' बनता हूँ 'अरीन् यच्छति'। (४) इस प्रकार सब शत्रुओं का नियमन करके मैं **'इन्द्रं'**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता को **हुवे**=पुकारता हूँ। सब असुरों का संहार करनेवाला इन्द्र है मैं भी अपने में असुरवृत्तियों का संहार करके 'इन्द्र' बनता हूँ। (५) इन्द्र बनने के लिये ही मैं **'मरुता'**=प्राणों को **हुवे**=पुकारता हूँ। प्राणसाधना ही तो मुझे आसुर-वृत्तियों के संहार में समर्थ बनाती है। इसी से मरुत् इन्द्र के सैनिक कहलाते हैं। (६) **पर्वतान् हुवे**-मैं पर्वतों को पुकारता हूँ। आचार्य ने यजुर्वेद ३५,१५ में पर्वत का अर्थ ज्ञान व ब्रह्मचर्य किया है। 'अन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन' इस मन्त्र भाग में ब्रह्मचर्य अर्थ ही सुसंगत प्रतीत होता है—'मृत्यु को ब्रह्मचर्य से अन्तर्हित करे'। मैं यही आराधना करता हूँ कि मेरे में ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठित हो, उस ब्रह्मचर्य से मैं ज्ञान को प्राप्त करनेवाला बनूँ। (७) **अपः**=जलों को मैं पुकारता हूँ। शरीर में ये जल रेतःकणों के रूप में निवास करते हैं। इन्हें मैं अपने में धारण करता हूँ। (८) इन रेतःकणों के धारण से **आदित्यान्**-मैं आदित्यों को पुकारता हूँ। इन आदित्यों की तरह उत्तम गुणों का आदान करनेवाला बनता हूँ। ये आदित्य भी तो सारे समुद्र में से मधुर जल को ही लेते हैं। (९) इस प्रकार आदित्य बनकर मैं 'द्यावापृथिवी अपः' द्युलोक, पृथिवीलोक व अन्तरिक्षलोक सभी को ही सुन्दर बनाता हूँ। द्युलोक मेरा मस्तिष्क है, इसे मैं ज्ञानोज्ज्वल करता हूँ। पृथिवीलोक मेरा शरीर है, इसे मैं दृढ़ बनाता हूँ। अन्तरिक्षलोक मेरा हृदय है, इसे मैं निर्मल रखने का प्रयत्न करता हूँ। (१०) इस प्रकार त्रिलोकी को सुन्दर बनाकर मैं **'स्वः'**=स्वर्गलोक को, प्रकाशमय लोक को पुकारता हूँ। त्रिलोकी का सौन्दर्य मुझे स्वर्ग में आसीन करता है। मुझे सुख ही सुख प्राप्त होता है, मेरे दुःखों व नरक का अन्त हो जाता है।

भावार्थ—मैं सब देवताओं का अनुकरण करता हुआ अपने जीवन को स्वर्ग-तुल्य बनाता हूँ।

ऋषिः—लुशो धानाकः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—निचृज्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मस्तिष्क

द्यौश्च॑ नः पृथि॒वी च॒ प्रचे॑तस ऋ॒तावरी रक्षता॒मंह॑सो रि॒षः ।
मा दु॑र्वि॒दत्रा॒ निर्ऋ॑तिर्न ईशत॒ तद्दे॒वाना॒मवो॑ अ॒द्या वृ॑णीमहे ॥ २ ॥

(१) **द्यौः च पृथिवी च**-द्युलोक और पृथिवीलोक **नः**-हमारे **प्रचेतसे**-प्रकृष्ठ ज्ञान के लिये हों। मस्तिष्करूप द्युलोक का तो ज्ञान प्राप्ति के लिये ठीक होना आवश्यक ही है, शरीररूपी पृथिवी की दृढ़ता भी ज्ञान प्राप्ति के लिये जरूरी है। स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन का भी निवास होता है। (२) **ऋतावरी**-ऋत का रक्षण करनेवाले द्युलोक व पृथिवीलोक **अंहसः**-पाप से तथा **रिषः**-रोगादि के कारण होनेवाली हिंसा से **रक्षताम्**-हमें बचाएँ। हमारे मस्तिष्क में ऋत हो, सत्य हो। मस्तिष्क में होनेवाला ऋत हमारे विचारों की पवित्रता का कारण बनेगा। पवित्र विचार हमारे आचार को सत् व पवित्र बनाएँगे और इस प्रकार हम पापों से बचे रहेंगे। शरीर में ऋत 'नियमितता regularity' के रूप में है और यह नियमितता हमें रोगों से होनेवाली हिंसा से बचाती है। समय पर सोने-जागने व खानेवाला व्यक्ति कभी रोगी नहीं होता। (३) इस प्रकार स्वस्थ मस्तिष्क व स्वस्थ शरीरवाले **नः**-हमारा **दुर्विदत्रा**-दुष्ट धन से उत्पन्न होनेवाली **निर्ऋतिः**-दुर्गति **मा ईशत**-मत शासन करे। हम अन्याय मार्ग से धन कमानेवाले न हों। अन्याय मार्ग से अर्जित धन अन्ततः दुर्गति का कारण बनता है। वस्तुतः अनुचित मार्ग से धन कमाने की ओर उन्हीं का झुकाव होता है जो मस्तिष्क व शरीर के दृष्टिकोण से स्वस्थ नहीं होते। (४) इस प्रकार सुपथ से ही धनार्जन करते हुए हम **अद्या**-आज **देवानाम्**-देवों के **तत् अवः**-उस रक्षण को **वृणीमहे**-वरते हैं। हम अपने अन्दर दिव्यता को धारण करने के लिये यत्नशील होते हैं।

भावार्थ—सत्य से दीप्त मस्तिष्क हमें पापों से बचाये। नियमित क्रियाओंवाला शरीर रोगों का शिकार न हो। 'हम सुपथ से ही धनार्जन करें' यही स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मस्तिष्क का लक्षण है।

ऋषिः—लुशो धानाकः ॥ देवता—विश्वे देवाः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥ स्वरः—निषादः ॥

लोलुपता शून्य ऐश्वर्य

विश्व॑स्मान्नो॒ अदि॑तिः पा॒त्वंह॑सो मा॒ता मि॒त्रस्य॒ वरु॑णस्य रे॒वतः ।
स्व॑र्व॒ज्ज्योति॑रवृ॒कं न॑शीमहि॒ तद्दे॒वाना॒मवो॑ अ॒द्या वृ॑णीमहे ॥ ३ ॥

(१) **रेवतः**-ऐश्वर्यवाले **मित्रस्य**-मित्र की **वरुणस्य**-और वरुण की **माता**-जननी **अदितिः**-अदीना देवमाता **नः**-हमें **विश्वस्मात् अंहसः**-सम्पूर्ण पापों से **पातु**-बचाये। 'मित्र' स्नेह की देवता है और 'वरुण'-निर्द्वेषता की। 'सब के प्रति स्नेह व द्वेष का अभाव' ये दो वृत्तियाँ मनुष्य को सांसारिक दृष्टिकोण से भी सम्पन्न बनाती हैं, इसी से यहाँ इनका विशेषण 'रेवतः' दिया गया है। मूल में 'अदिति' प्रभु हैं, वे हमें प्रेमवाला व निर्द्वेष बनाएँ, जिससे जहाँ हम पापों से बचे रहें वहाँ ऐश्वर्य-सम्पन्न भी बनें। (२) ऐश्वर्य को पाकर हम **अवृकम्**-लोभ से रहित **स्वर्वत्**-प्रकाशमय व सुखमय **ज्योतिः**-ज्ञान को **नशीमहि**-प्राप्त हों। हम धन सम्पन्न तो हों, परन्तु उस धन का हमें लालच न हो। 'धन तो हो, पर धन का लोभ न हो' तो ही वास्तव में सुखमय प्रकाश की प्राप्ति होती है। (३) इस प्रकार धन तथा निर्लोभता को प्राप्त करके हम **अद्या**-अब **तत् देवानाम् अवः**-उस देवताओं को रक्षण को **वृणीमहे**-वरते हैं। हम अपने अन्दर दिव्यवृत्तियों

के धारण के लिये यत्नशील होते हैं।

भावार्थ—हम प्रेम व निर्द्वेषता को धारण करें। लोलुपताशून्य ऐश्वर्यवाले हों।

ऋषिः—**लुशो धानाकः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

आचार्योपदेश से रक्षः निराकरण

ग्रावा वदन्नप रक्षांसि सेधतु दुष्ष्वप्न्यं निर्ऋतिं विश्वमत्रिणम्।
आदित्यं शर्म मरुतामशीमहि तद्देवानामवो अद्या वृणीमहे॥ ४॥

(१) **ग्रावा**=ज्ञानी प्रभु-भक्त गुरु (गृ=शब्दे विद्वांसो हि ग्रावाणः श० ३।९।३।१४) **वदन्**=उपदेश देता हुआ **रक्षांसि**=राक्षसी वृत्तियों को **अपसेधतु**=दूर करे। यह आचार्य सदुपदेश द्वारा **दुष्ष्वप्न्यम्**=बुरे स्वप्नों की कारणभूत वृत्तियों को दूर करे। **निर्ऋतिम्**=दुराचरण को दूर करे और **विश्वम्**-सब **अत्रिणम्**=(अद्भक्षणे) स्वयं खा जाने की वृत्तियों को दूर करे। अपने मुँह में ही आहुति देनेवाले तो असुर होते हैं, आचार्य हम से इस आसुरवृत्ति को दूर विनष्ट करनेवाले हो। (२) आचार्य के उपदेश के प्रभाव से ही हम **मरुताम्**=प्राणों के **आदित्यम्**=सब अच्छाइयों का आदान करनेवाले **शर्म**=सुख को **अशीमहि**=प्राप्त करें। 'आदित्य शर्म' वह है जो बुराइयों को छोड़ने व अच्छाइयों के ग्रहण करने से उत्पन्न होता है। आचार्य का उपदेश हमें दुरितों से दूर व सुवितों के समीप करके इस योग्य बनाता है कि जीवन में सुख को प्राप्त करनेवाले हों। प्राणसाधना से इस 'आदित्य शर्म' की प्राप्ति में सहायता मिलती है। वास्तविकता तो यह है कि प्राणसाधना से ही सब दोषों का दहन होता है। (३) इस प्रकार दोषों का दहन करके **अद्या**=आज हम **देवानाम्**=देवों के **तद् अवः**=उस रक्षण को **वृणीमहे**=वरते हैं, अर्थात् हम दिव्यता को अपने अन्दर धारण करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—आचार्य का उपदेश हमारे जीवनों से अशुभवृत्तियों को दूर करे प्राणसाधना के द्वारा दोषदहन से अच्छाइयों का ग्रहण करते हुए हम सुखी हों।

ऋषिः—**लुशो धानाकः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः -**जगती**॥ स्वरः **निषादः**॥

ज्ञान व भक्ति का समन्वय

एन्द्रो बर्हिः सीदतु पिन्वतामिळा बृहस्पतिः सामभिर्ऋक्वो अर्चतु।
सुप्रकेतं जीवसे मन्म धीमहि तद्देवानामवो अद्या वृणीमहे॥ ५॥

(१) **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **बर्हिः**=हमारे वासनाशून्य हृदय में **आसीदतु**=आसीन हो। उस हृदयस्थ प्रभु के द्वारा प्रेरित **इडा**=वेदवाणी **पिन्वताम्**=हमें प्रीणित करनेवाली हो। वेदवाणी के ग्रहण से **बृहस्पतिः**=उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त हुआ **ऋक्वः**=स्तुति के मधुर शब्दों का उच्चारण करनेवाला पुरुष **सामभिः**=साम-मन्त्रों से **अर्चतु**=प्रभु की अर्चना करे अथवा ऋक्वः=ज्ञान में निपुण यह पुरुष सामभिः=उपासनाओं के द्वारा अर्चतु=चमक उठे (अर्च् to shine)। ज्ञान के साथ उपासना का समावेश इसे दीप्त करनेवाला हो। (२) हे प्रभो! आपकी कृपा से हम **सुप्रकेतम्**=उत्तम विज्ञानवाले **मन्म**=मननीय स्तोत्रों का **धीमहि**=धारण करें जिससे **जीवसे**=हम उत्कृष्ट जीवन के लिये हों। 'ज्ञान व स्तवन' का समन्वय ही तो हमें प्रशस्त जीवनवाला बनायेगा। (३) इस प्रकार ज्ञानी स्तोता बनकर हम **देवानां तद् अवः**=देवों के उस रक्षण को **अद्या**=आज **वृणीमहे**=वरते हैं। हम प्रयत्न करते हैं कि अपने अन्दर दिव्यता का रक्षण कर सकें।

भावार्थ—हम हृदय को वासना शून्य बनाकर प्रभु को उसमें आसीन करें और हृदयस्थ प्रभु

से वेदवाणी की प्रेरणा को प्राप्त करनेवाले हों। इस प्रकार हमारे जीवनों में ज्ञान व भक्ति का समन्वय हो पायेगा।

ऋषिः—**लुशो धानाकः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

यज्ञाग्नि व सूर्य-किरणें

दिविस्पृशं यज्ञमस्माकमश्विना जीराध्वरं कृणुतं सुम्नमिष्टये।
प्राचीनरश्मिमाहुतं घृतेन तद्देवानामवो अद्या वृणीमहे॥ ६॥

(१) हे **अश्विना**-प्राणापानो! **अस्माकम्**=हमारे **दिविस्पृशम्**-द्युलोक में स्पर्श करनेवाले 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यन् आदित्यमुपतिष्ठते' **यज्ञम्**-यज्ञ को **जीराध्वरम्**=रोग-कृमियों के जीर्ण करनेवाला तथा हमारे जीवनों को अहिंसित करनेवाला और इस प्रकार **सुम्नम्**=सुख को देनेवाला **कृणुतम्**=करिये। यह यज्ञ **इष्टये**=हमारे इष्ट की प्राप्ति के लिये हो, अभिलषित सिद्धि के लिये हो। (२) हम अपने जीवनों में यज्ञों को करनेवाले हों। हमारी प्राणापान शक्ति यज्ञादि उत्तम कर्मों में ही विनियुक्त हो। ये हमारे प्राणापान **घृतेन**=घृत से **आहुतम्**=आहुति दिये गये इस अग्नि को **प्राचीनरश्मिम्**=रश्मियों के अभिमुख जानेवाला करें। वस्तुतः सूर्योदय के समय किया गया यह अग्निहोत्र सम्पूर्ण वायुमण्डल के शोधन के लिये होता है। (३) इस प्रकार यज्ञों को करते हुए हम **देवानाम्**-देवों के **तद् अवः**-उस रक्षण को **अद्या**-आज **वृणीमहे**-वरते हैं। यज्ञों के द्वारा दिव्यता का अपने में वर्धन करते हैं।

भावार्थ—हमारी प्राणशक्ति यज्ञों में विनियुक्त हो। यज्ञ रोग-कृमियों के संहार व हमारे जीवनों की अहिंसा के लिये हों। यज्ञाग्नि व सूर्य-रश्मियों मिलकर वायुमण्डल के शोधक हों।

ऋषिः—**लुशो धानाकः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

मारुतगण का आह्वान

उप ह्वये सुहवं मारुतं गणं पावकमृष्वं सख्याय शंभुवम्।
रायस्पोषं सौश्रवसाय धीमहि तद्देवानामवो अद्या वृणीमहे॥ ७॥

(१) **मारुतं गणम्**=प्राणों के गण को **उपह्वये**-पुकारता हूँ, अर्थात् प्राणायामादि के द्वारा मैं इन प्राणों की साधना करता हूँ। जो प्राण **सुहवम्**-उत्तम पुकारवाले हैं, अर्थात् जिनका आराधन कल्याण ही कल्याण करनेवाला है। **पावकम्**-ये प्राण पवित्र करनेवाले हैं, प्राणायाम से दोषों का दहन होकर इन्द्रियाँ निर्मल हो जाती हैं। **ऋष्वम्**-यह मारुतगण दर्शनीय है व महान् है (great, high, noble) प्राणसाधना से शरीर स्वस्थ व सुन्दर बनता है और मनुष्य उन्नत होकर महान् बनता है। **शंभुवम्**=यह मारुतगण शान्ति को जन्म देता है, इस प्राणसाधना से मानस शान्ति प्राप्त होती है। इस प्रकार यह मारुतगण **सख्याय**=उस प्रभु के साथ हमारी मित्रता के लिये साधन बनता है। (२) इस प्राणसाधना के द्वारा हम **रायस्पोषम्**-धनों के पोषण को भी **धीमहि**-धारण करते हैं और यह रायस्पोष हमारे **सौश्रवसाय**=उत्तम यश के लिये हो। प्राणसाधना से शक्ति की भी वृद्धि होती है और मानस पवित्रता भी प्राप्त होती है। शक्ति वृद्धि से हमारी धनार्जन की क्षमता बढ़ती है और मानस पवित्रता से हम उस धन का ठीक उपयोग व यज्ञ में विनियोग करते हैं। इसलिए यह धन हमारे यश का कारण बनता है। (३) इस प्रकार यज्ञों को करते हुए हम **देवानाम्**-देवों के **तद् अवः**-उस रक्षण को **अद्या**-आज **वृणीमहे**-वरते हैं। यज्ञों के द्वारा दिव्यता का अपने में वर्धन करते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना हमारे जीवन को पवित्र व सशक्त बनाये। हम धनार्जन की क्षमतावाले बनें और उस धन का यज्ञों में विनियोग करके यशस्वी हों।

ऋषिः—**लुशो धानाकः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**निचृज्जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

सोम का भरण व यमन

अपां पेरुं जीवधन्यं भरामहे देवाव्यं सुहवमध्वरश्रियम्।
सुरश्मिं सोममिन्द्रियं यमीमहि तद्देवानामवो अद्या वृणीमहे॥ ८॥

(१) गत मन्त्र में प्राणसाधना का वर्णन था। प्राणसाधना हमारे जीवन को पवित्र व महान् बनाती है। वस्तुतः इस प्राणसाधना से सोम का रक्षण होता है और यह सुरक्षित सोम ही सब प्रकार की उन्नतियों का कारण बनता है। मन्त्र में कहते हैं कि **सोमम्**=इस सोम को **भरामहे**=अपने में धारण करते हैं और **यमीमहि**=इस सोम का संयम करते हैं, इस शरीर में सुरक्षित करते हैं। (२) भृत व रक्षित सोम **अपां पेरुम्**=हमारे सब कर्मों का पूरण करनेवाला है, इसकी शक्ति से ही हम सब कर्मों में सफल होते हैं। **जीवधन्यम्**=यह हमारे जीवन को धन्य बनानेवाला है, **देवाव्यम्**=हमारे जीवन में दिव्यगुणों का रक्षण करने में यह उत्तम है, सोम के रक्षण से दिव्यगुणों की वृद्धि होती है। **सुहवम्**=यह शोभन पुकारवाला है, इसकी आराधना से कल्याण ही कल्याण होता है। **अध्वरश्रियम्**=यह जीवनयश की शोभा का कारण बनता है (अध्वरस्य श्रीः यस्मात्) **सुरश्मिम्**=ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर यह उत्तम ज्ञान की किरणोंवाला होता है और साथ ही **इन्द्रियम्**=यह हमारी सब इन्द्रियों को सशक्त बनानेवाला है और इसीलिए इसे 'इन्द्रिय' यह नाम प्राप्त हो पाया है। (३) इस प्रकार सोम का रक्षण करते हुए हम **अद्य**=आज **देवानाम्**=देवों के **तद् अवः**=उस रक्षण को **वृणीमहे**=वरते हैं। हम सोमरक्षण के द्वारा अपने में दिव्यता का वर्धन करते हैं।

भावार्थ—सोम का भरण व रक्षण हमें सफल जीवनवाला बनाये।

ऋषिः—**लुशो धानाकः**॥ देवता—**विश्वे देवाः**॥ छन्दः—**जगती**॥ स्वरः—**निषादः**॥

संविभाग द्वारा उपासन

सनेम तत्सुसनिता सनित्वभिर्वयं जीवा जीवपुत्रा अनागसः।
ब्रह्मद्विषो विष्वगेनो भरेरत तद्देवानामवो अद्या वृणीमहे॥ ९॥

(१) गत मन्त्र के अनुसार सोम का भरण व रक्षण करनेवाले **वयम्**=हम **जीवाः**=उत्तम जीवनवाले **जीवपुत्रा**=दीर्घजीवी सन्तानोंवाले **अनागसः**=निष्पाप होते हुए **सनित्वभिः**=संभजन की वृत्तिवाले पुत्र-पौत्रादिकों के साथ **तत्**=उस दिव्यगुणों के समूह को **सुसनिता**=उत्तम संभजन से **सनेम**=उपासित करें। वस्तुतः संविभागपूर्वक धन का सेवन ही प्रभु का उपासन है, यही दिव्यगुणों की प्राप्ति का मार्ग है। 'हविषाविधेम'=हवि के द्वारा, दानपूर्वक अदन के द्वारा हम प्रभु का पूजन करें यह मन्त्र भाग कई बार पढ़ा गया है। 'यज्ञ' की मौलिक भावना भी यही है 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'=देव यज्ञ के द्वारा ही उस यज्ञ (=पूज्य) की उपासना करते हैं। (२) **ब्रह्मद्विषः**=ज्ञान से प्रीति न करनेवाले लोग ही **विश्वग्**=विविध गतियोंवाले **एनः**=इस पाप को **भरेरत**=धारण करें। अज्ञानियों में ही पाप का वास हो। हम तो संविभागपूर्वक यज्ञियवृत्ति से वस्तुओं का उपभोग करते हुए ज्ञानी बनें और पाप को अपने से दूर ही रखें। (३) इस प्रकार **तद्**=उस **देवानां अवः**=देवताओं के रक्षण को **अद्या**=आज **वृणीमहे**=हम वरते हैं। अपने अन्दर दिव्यता को धारण करते हैं।

भावार्थ—हम संविभाग की वृत्ति से प्रभु का उपासन करनेवाले बनें, ज्ञानी बनकर निष्पाप जीवनवाले हों।

ऋषिः—**लुशो धानाकः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

जैत्र क्रतु

ये स्था मनोर्यज्ञियास्ते शृणोतन यद्वो देवा ईमहे तद्ददातन।
जैत्रं क्रतुं रयिमद्वीरवद्यशस्तद्देवानामवो अद्या वृणीमहे॥ १०॥

(१) **ये**=जो आप **मनोः**=ज्ञान के **यज्ञियाः**=संगतिकरण में उत्तम **स्थाः**=हो **ते**=वे आप **शृणोतन**=हमारी बात को सुनिये और **देवाः**=हे विद्वानो! **यद्**=जो **वः**=आपसे **ईमहे**=हम याचना करते हैं **तद् ददातन**=हमें दीजिये। वस्तुतः वे विद्वान् जो अपने साथ ज्ञान को निरन्तर संगत करने में लगे हैं, वे ही हमारे संगतिकरण योग्य होते हैं। हमें उनके सम्पर्क में आकर यह कामना करनी कि—(२) वे देव हमें **जैत्रम्**=विजयशील **क्रतुम्**=ज्ञान को प्राप्त कराएँ। उस ज्ञान को वे हमें देनेवाले हों जो ज्ञान हमें काम-क्रोधादि शत्रुओं पर विजय करनेवाला बनाये। (३) इसके साथ ही वह ज्ञान हमें **रयिमत्**=उत्तम धन से युक्त **वीरवत्**=वीरतावाले **यशः**=यशस्वी जीवन को देनेवाला हो। देवों के सम्पर्क में आकर हमारा जीवन विजयशील ज्ञानवाला तथा धन व वीरता से युक्त यशवाला हो। (४) इस प्रकार हम **देवानाम्**=देवों के **तद् अवः**=उस रक्षण को **अद्या**=आज **वृणीमहे**=वरण करते हैं, अर्थात् ज्ञान व यश का सम्पादन करते हुए हम अपने में दिव्यता का अवतरण करने के लिये यत्नशील होते हैं।

भावार्थ—देव हमें विजयी ज्ञान तथा धन व शक्ति से युक्त यश को प्राप्त करानेवाले हों।

ऋषिः—**लुशो धानाकः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

वीरजात वसु की प्राप्ति

महदद्य महतामा वृणीमहे ऽवो देवानां बृहतामनर्वणाम्।
यथा वसु वीरजातं नशामहै तद्देवानामवो अद्या वृणीमहे॥ ११॥

(१) **अद्य**=आज **महताम्**=महान्, पूजा के योग्य **बृहताम्**=शरीर, मन व मस्तिष्क के दृष्टिकोण से वृद्धि को प्राप्त **अनर्वणाम्**=हिंसा की वृत्ति से रहित **देवानाम्**=देवों के **महत् अवः**=महनीय रक्षण का **आवृणीमहे**=वरण करते हैं **यथा**=जिससे कि **वीरजातम्**=वीरों के जन्म देनेवाले **वसु**=धन को **नशामहै**=हम प्राप्त करें। (२) देवों के लक्षणों में प्रथम लक्षण है 'महतां', देव महान् होते हैं, विशाल हृदयवाले होते हैं। दूसरा लक्षण 'बृहतां' शब्द से सूचित हुआ है। ये 'बृहि वृद्धौ' शरीर, मन व मस्तिष्क के दृष्टिकोण से उन्नत होते हैं। तीसरा लक्षण 'अनर्वणाम्' शब्द से कहा गया है, ये हिंसा की वृत्ति से दूर होते हैं। (३) इन देवताओं के सम्पर्क में हमारा जीवन भी इसी प्रकार का बनेगा और इस प्रकार हम अपने जीवन में उस **वसु**=धन को प्राप्त करेंगे जो हमें वीर बनानेवाला होगा। (४) इस प्रकार वसु का सम्पादन करते हुए हम **अद्या**=आज **देवानाम्**=देवों **तद् अवः**=उस रक्षण का **वृणीमहे**=वरण करते हैं। हम अपने जीवनों में दिव्यता को सुरक्षित करने के लिये यत्नशील होते हैं।

भावार्थ—देव 'महान् बृहत् व अनर्वा' हैं। हमें इनका रक्षण प्राप्त हो।

ऋषिः—**लुशो धानाकः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः—**निषादः** ॥

प्रभु की प्रेरणा में

म॒हो अ॒ग्नेः स॑मिधा॒नस्य॒ शर्म॒ण्यना॑गा मि॒त्रे वरु॑णे स्व॒स्तये॑।
श्रेष्ठे॑ स्याम सवि॒तुः सवी॑मनि॒ तद्दे॒वाना॒मवो॑ अ॒द्या वृ॑णीमहे॥ १२ ॥

(१) **समिधानस्य**=अग्निकुण्ड में समिद्ध की जाती हुई **महः अग्नेः**=महनीय अग्नि की **शर्मणि**=शरण में हम हों अथवा इस अग्निहोत्र की अग्नि के शर्मणि=सुख में हम हों। यह अग्नि नीरोगता व सौमनस्य को देती है और इस प्रकार हमारे जीवन को सुखी बनाती है। (२) **मित्रे**=मित्र में तथा **वरुणे**=वरुण की शरण में हम **अनागाः**=निष्पाप हों। मित्र की शरण में होने का अभिप्राय यह है कि हम सदा परस्पर स्नेह करनेवाले हैं तथा वरुण की शरण का अभिप्राय 'द्वेष से ऊपर उठना' है। स्नेह व निर्द्वेषता हमारे जीवनों को निष्पाप बनाती हैं। इस प्रकार निष्पाप जीवनवाले हम **स्वस्तये**=उत्तम स्थिति के लिये हों, हमारा जीवन उत्तम बने। (३) हम सदा **सवितुः**=उस प्रेरक प्रभु को **श्रेष्ठ सवीमनि**=प्रशस्यतम प्रेरणा में चलनेवाले **स्याम**=हों। यह प्रेरणा हमें कभी मार्गभ्रष्ट न होने देगी। (४) इस प्रेरणा में चलते हुए हम **देवानाम्**=देवों के **तद् अवः**=उस रक्षण को **अद्य**=आज **वृणीमहे**=वरते हैं। हम प्रभु प्रेरणा से चलते हुए अपने में दिव्यता का वर्धन करते हैं।

भावार्थ—हम अग्निहोत्र करते हैं। स्नेह व निर्द्वेषता को अपनाते हैं। प्रभु की प्रेरणा में चलते हुए अपने में दिव्यता का विकास करते हैं।

ऋषिः—**लुशो धानाकः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

स्नेह व निर्द्वेषता

ये स॑वि॒तुः स॒त्यस॑वस्य॒ विश्वे॑ मि॒त्रस्य॑ व्र॒ते वरु॑णस्य दे॒वाः।
ते सौभ॑गं वी॒रव॒द्गोम॒दप्नो॒ दधा॑तन॒ द्रवि॑णं चि॒त्रम॒स्मे॥ १३ ॥

(१) **ये**=जो **विश्वेदेवाः**=सब देव **सत्यसवस्य**=सत्य प्रेरणा देनेवाले **सवितुः**=प्रेरक के **मित्रस्य**=मित्र के तथा **वरुणस्य**=वरुण के **व्रते**=व्रत में स्थित हैं **ते**=वे **अस्मे**=हमारे लिये **सौभगम्**=सौभाग्य को और **वीरवत्**=वीरता से युक्त तथा **गोमत्**=उत्तम इन्द्रियों से युक्त **अप्नः**=कर्म को तथा **चित्रं द्रविणम्**=ज्ञान से युक्त अद्भुत धन को **दधातन**=धारण करें। (२) वस्तुतः देव वे ही हैं जो उस महान् देव के व्रतों में चलते हैं। वे महान् देव हृदयस्थरूपेण सदा सत्य प्रेरणा प्राप्त कराते हैं। उस प्रेरणा के अनुसार जिनका जीवन चलता है वे देव बन जाते हैं। इस सविता देव की प्रेरणा में मुख्य बातें ये दो ही हैं कि 'सब के साथ स्नेह से चलो (मित्रस्य) और किसी से द्वेष न करो (वरुणस्य)'। देवताओं के ये ही मुख्य व्रत बनते हैं, वे सब के प्रति स्नेहवाले होते हैं और किसी के प्रति द्वेष नहीं करते। (३) इन देवताओं के सम्पर्क में चलने पर हमारा जीवन भी प्रशस्त बनता है, वह सौभाग्यवाला होता है, वीरता से युक्त होता है, प्रशस्त इन्द्रियोंवाला तथा क्रियामय होता है। इसके साथ हम उस अद्भुत धन को प्राप्त करनेवाले बनते हैं जो ज्ञान से युक्त होता है।

भावार्थ—प्रभु की प्रेरणा से मित्रता व निर्द्वेषता के व्रत को ग्रहण करनेवाले देव कहलाते हैं इनके सम्पर्क में आकर हम भी अपने जीवन को 'सौभाग्य, वीरता, प्रशस्तेन्द्रियता व ज्ञानयुक्त धन' से अलंकृत करें।

ऋषिः—**लुशो धानाकः** ॥ देवता—**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्** ॥ स्वरः—**धैवतः** ॥

सविता से सुत सर्वताति

स॒वि॒ता प॒श्चाता॑त्सवि॒ता पु॒रस्ता॑त्सवि॒तोत्त॒रात्ता॑त्सवि॒ताध॒रात्ता॑त्।
स॒वि॒ता नः॑ सुवतु स॒र्वता॑तिं सवि॒ता नो॑ रासतां दी॒र्घमायुः॑ ॥ १४ ॥

(१) गत मन्त्र में प्रार्थना की गई है कि हम सत्य प्रेरणा देनेवाले सविता की प्रेरणा में चलते हुए देव बनें और सौभाग्यशाली जीवनवाले हों। उसी प्रार्थना को परिवर्तित रूप में इस प्रकार करते हैं कि वह सर्वव्यापक, सर्वप्रेरक **सविता**=सम्पूर्ण ऐश्वर्योंवाला प्रभु **पश्चातात्**=पीछे से वही **सविता**=प्रेरक प्रभु **पुरस्तात्**=सामने से वही **सविता**=सब उत्तमताओं को जन्म देनेवाला प्रभु **उत्तरात्तात्**=ऊपर उत्तर से तथा वही **सविता**=जन्मदाता प्रभु **अधरात्तात्**=नीचे से यह **सविता**=उत्पादक प्रभु **नः**=हमारे लिये **सर्वतातिम्**=सब शक्तियों के विस्तार को **सुवतु**=प्रेरित करे। सविता की कृपा से हमारे जीवनों में सब शक्तियों का विस्तार हो। (२) इस शक्ति के विस्तार के द्वारा **सविता**=यह प्रेरक प्रभु **नः**=हमें **दीर्घम् आयुः**=दीर्घ जीवन **रासताम्**=दें शक्तियों के ह्रास से जीवन का ह्रास है, शक्तियों के विस्तार से जीवन का विस्तार है। शक्तियों का विस्तार करते हुए प्रभु हमें दीर्घजीवन प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—सविता की कृपा से हमारी सब शक्तियों का विस्तार हो और हमें दीर्घजीवन प्राप्त हो।

सूक्त के प्रारम्भ में कहा गया है कि सब देवों का अनुकरण करते हुए मैं अपने जीवन को स्वर्गतुल्य बनाता हूँ। (१) मैं स्वस्थ मस्तिष्क व स्वस्थ शरीरवाला बनूँ, (२) हम लोलुपता-शून्य ऐश्वर्यवाले हों, (३) आचार्यों का उपदेश हमारे जीवनों से अशुभवृत्तियों को दूर करे, (४) हमारे जीवन में ज्ञान व भक्ति का समन्वय हो, (५) यज्ञाग्नि व सूर्यरश्मियाँ मिलकर वायुमण्डल के शोधक हों, (६) प्राणसाधना हमारे जीवन को पवित्र व सशक्त बनाये, (७) सोम का भरण हमारे जीवन को सफल करे, (८) हम संविभाग की वृत्ति से प्रभु का उपासन करनेवाले बनें, (९) हम जैत्र क्रतु को प्राप्त करें, (१०) हम देवों की तरह 'महान्, बृहत् व अनर्वा' बनें, (११) प्रभु की प्रेरणा में चलें, (१२) स्नेह व निर्द्वेषतावाले हों, (१३) सविता से हमें सर्वताति प्राप्त हो और (१४) इस प्रकार हम 'सौर्य अभिलाषा' बन पायें।

॥ इति षट्त्रिंशं सूक्तम् समाप्तः ॥